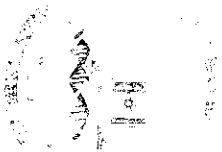


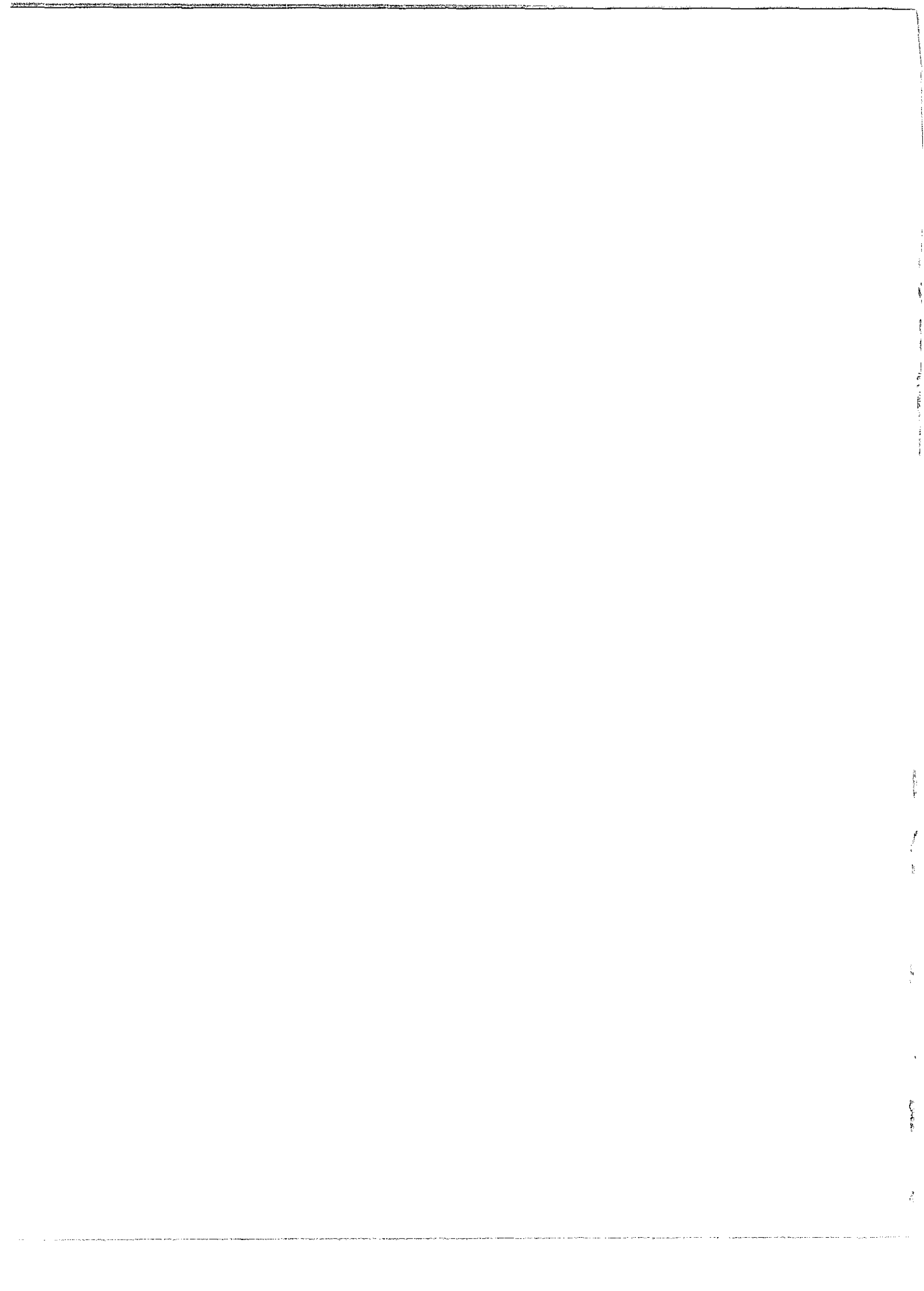
समाजशास्त्र

एक परिचय

बी.ए. - I



Directorate of Distance Education
Maharshi Dayanand University, Rohtak



समाजशास्त्र : एक परिचय

बी. ए. I

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक-124 001

Copyright © 2002, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

विषय-सूची

अध्याय 1	समाजशास्त्र : एक परिचय	4
अध्याय 2	समाजशास्त्र की मौलिक अवधारणाएँ	24
अध्याय 3	सामाजिकरण एवं सामाजिक नियंत्रण	42
अध्याय 4	सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक गतिशीलता एवं सामाजिक परिवर्तन	62
अध्याय 5	सामाजिक संस्थाएँ एवं समाज के प्रकार	86



अध्याय-1

समाजशास्त्र : एक परिचय

खंड-1

- समाजशास्त्र के बारे में जानकारी
- समाजशास्त्र के अर्थ
- समाजशास्त्र विषय के परिप्रेक्ष्य
- प्रमुख समाजशास्त्रियों के विचार
- समाजशास्त्र की प्रकृति, इसके वैज्ञानिक आधार
- समाजशास्त्र में अध्ययन किये जाने वाले विषय की जानकारी
- समाजशास्त्र के क्षेत्र
- समाजशास्त्र का उत्थान
- समाजशास्त्र का अन्य विषयों के साथ संबंध

खंड-2

- समाजशास्त्र के सिद्धान्त
- प्रत्ययवादी दृष्टिकोण: काम्टे का प्रत्यक्षवाद
- प्रकार्यवादी दृष्टिकोण: दुर्खिम का सामाजिक तथ्य
- संघर्षवादी दृष्टिकोण: कार्ल मार्क्स का ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त
- व्याख्यात्मक दृष्टिकोण
- मैक्स वेबर की सामाजिक क्रिया तथा आदर्श प्रारूप की अवधारणा

समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिप्रेक्ष्य

प्रस्तावना: समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है जिसका मुख्य उद्देश्य मानव समाज के सामाजिक संरचना का अध्ययन करना है। सामाजिक संबंधों के ताने-बाने से बने समाज कि एक अपनी अलग पहचान है। प्रत्येक समाज का अपना अपना इतिहास, संस्कृति, रीति-रिवाज, संस्कार, प्रतिमान व मूल्य होते हैं जिसका निर्माण मानव समुदाय मिलजुलकर एक दूसरे के परस्पर सहयोग से करते हैं। इस दृष्टिकोण से प्रत्येक समाज के कुछ आधारभूत समूह होते हैं। जिसकी उस समाज के निर्माण में एक रचनात्मक भूमिका होती है। समाजशास्त्र उन सभी सामाजिक सम्बन्धों, मानव समूहों के बीच परस्पर सहयोग व संघर्ष का क्रमबद्ध अध्ययन करता है जिस प्रकार अन्य सामाजिक विद्वान जैसे अर्थशास्त्र, भूगोल, इतिहास, मनोविज्ञान, राजनीतिविज्ञान आदि अपने विषयों का एक खास अध्ययन विधि के द्वारा विधिवत अध्ययन करता है। इसलिए इसे विज्ञान का दर्जा भी दिया जाता है। यहाँ सामाजिक संदर्भ में मनुष्य के व्यवहार का, उनके बीच के संबंधों का वैज्ञानिक विश्लेषण करने की चेष्टा की जाती है।

समाजशास्त्रीय अध्ययन की परंपरा यूरोप में लगभग 200 वर्ष पहले ही शुरू हो पायी। इसके पहले जो भी अध्ययन हुए उसमें समाजशास्त्रीय तरीके द्वारा अध्ययन नहीं हुए परंतु फिर भी उन अध्ययनों में समाज को केन्द्र बनाकर सामाजिक परिस्थितियों तथा मानवीय व्यवहार का अध्ययन किया गया।

समाजशास्त्र के आरंभिक चरण की व्याख्या जब कभी होती है तो उसमें फ्रांस के प्रमुख विचारक सेंट साइमन, अगस्त काम्टे तथा दुर्खिम का नाम बड़े आदर और सम्मान से लिया जाता है। सेंट साइमन को फ्रांस के एक प्रमुख सक्रीय बुद्धिजीवी की कोटी में गिना जाता है। उन्होंने समाजशास्त्र को एक नये आधार व दिशा प्रदान करने के लिए अगस्त काम्टे के साथ मिलकर कुछ पुस्तकें लिखी। अगस्त काम्टे उन्हें अपना गुरु मानते थे। अगस्त काम्टे को समाजशास्त्र का पिता कहा जाता है। उन्होंने ही सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग अपने पुस्तक पाजिटिव फिलास्फी (1838) के चौथे खंड में किया और उनके द्वारा इस शब्द

को लोकप्रियता मिली। आज समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र काफी विकसित हुआ है परंतु 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इसे एक रूढ़िवादी दृष्टिकोण की संज्ञा दी गयी। यद्यपि इसे रूढ़िवादी विषय के रूप में देखा गया परंतु इसे एक वैज्ञानिक विषय के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी अगस्त काम्ट (1798-1857) को दी जाती है।

जहाँ तक इस विषय के शाब्दिक अर्थ का प्रश्न है अंग्रेजी का यह शब्द (Sociology), सोसियस (Socius) तथा ग्रीक शब्द (Logos) लोगोस शब्द से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ है समाज का अध्ययन। 'सोसियस' शब्द का अर्थ 'समाज' तथा 'लोगोस' का अर्थ है ज्ञान व अध्ययन। इस प्रकार समाजशास्त्र का शाब्दिक अर्थ हुआ 'समाज का अध्ययन करने वाला विषय' जिसमें सामाजिक क्रियाओं के अध्ययन को प्रधानता दी जाती है। तकनीकी दृष्टिकोण से समाजशास्त्र का अर्थ प्रायः सामाजिक संरचना के विश्लेषण, सामाजिक संबंधों के जाल, सामाजिक तथ्यों के अध्ययन, सामाजिक अंतःक्रिया के समझने से किया जाता है। यहाँ मनुष्य के व्यवहार का सामाजिक संदर्भ की पृष्ठभूमि में वैज्ञानिक तरीके द्वारा अध्ययन का प्रयास किया जाता है। समाजशास्त्रीय अध्ययन विधि कि विशेषता उसके वैज्ञानिक व वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से भी जुड़ी हुई है जिसकी विस्तार से चर्चा समाजशास्त्र के प्रकृति के विश्लेषण के साथ ही किया जायेगा। यहाँ पर यह समझ लेना ही आवश्यक होगा कि समाजशास्त्र विषय में समाज में रहने वाले व्यक्ति के बीच के संबंध एक दूसरे के बीच परस्पर सहयोग, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष के साथ-साथ मनुष्य का समूह के साथ संबंध, समूह का व्यक्ति के साथ संबंध और एक समूह का दूसरे समूह के व्यक्ति के साथ संबंध का अध्ययन विधिवत और क्रमबद्ध तरीके से किया जाता है।

समाज में घटने वाले सामाजिक क्रियाओं और सामाजिक तथ्यों के बदलते स्वरूप के साथ-साथ मनुष्य के बीच के संबंध भी प्रभावित होते हैं इसलिए समाजशास्त्रियों की यह जिम्मेवारी हो जाती है कि सामाजिक संरचना के संदर्भ में मनुष्य के सामाजिक संबंधों के खास क्रियाओं का तकनीकी तरीके से विश्लेषण प्रस्तुत करें ताकि सामाजिक विघटन की प्रक्रिया को नियंत्रित किये जाने वाले ताकतों की पहचान कि जा सके। इस दृष्टिकोण से अगर विचार किया जाये तो सामाजिक क्रियाओं के अध्ययन में समाजशास्त्रियों की भूमिका एक तकनीकी विश्लेषक के रूप में भी की जा सकती है जो सामाजिक क्रियाओं का विशिष्ट अध्ययन करने के लिए विशेष अध्ययन विधि भी विकसित करते हैं। ऐसे समाजशास्त्री एक खास दृष्टिकोण के द्वारा सामाजिक क्रियाओं को प्रभावित करने वाले ताकतों की पहचान कर इसका विश्लेषण करते हैं।

समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य व समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का अध्ययन व विश्लेषण कुछ परिभाषाओं को ध्यान में रखकर भी किया जाता है। समाजशास्त्र शब्द को लोकप्रिय बनाने वाले समाजशास्त्री अगस्त काम्टे का यह मानना था कि सामाजिक विषयों व तथ्यों को भी वैज्ञानिक नियमों के साथ जोड़कर देखा जाना चाहिए। समाजशास्त्र को इस प्रकार दो भाग में बाँटकर देखा जा सकता है जिसमें सामाजिक घटना का एक स्थायी स्वरूप होता है और उसका एक गतिशील स्वरूप होता है। सामाजिक क्रियाओं के इन दो स्वरूपों अर्थात् स्थायी (Static) और गतिशील (Dynamic) दोनों प्राकृतिक नियमों द्वारा परिचालित होते हैं। समाज का स्थायी स्वरूप समाज की व्यवस्था से जुड़ा हुआ है जिसके अनुसार समाज का स्थायित्व व व्यवस्था उसका स्थायी स्वरूप है और समाज में गतिशीलता उसका परिवर्तित स्वरूप है जो सामाजिक विकास से जुड़ा है। समाजशास्त्र में इन दोनों अवस्थाओं अर्थात् स्थायी स्वरूप व परिवर्तित स्वरूप का विधिवत अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार अगस्त काम्टे का यह मानना था कि जिस प्रकार विज्ञान की क्रियाओं का अध्ययन वैज्ञानिक तरीके से करने के लिए प्राकृतिक नियम की खोज की जाती है उसी प्रकार समाजशास्त्र भी सामाजिक तथ्यों के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का इस्तेमाल करता है। इस प्रकार के वैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा समाज के व्यवस्था को बनाये रखने का काम सहज तरीके से संभव है।

ब्रिटिश समाजशास्त्री हर्बर्ट स्पेंसर (1820-1903) ने पूरे समाज को एक इकाई मानकर इसके अध्ययन किये जाने पर बल दिया। उनका कहना था कि समाज को एक इकाई मानकर उसका विश्लेषण डार्विन द्वारा प्रतिपादित उदविकासीय सिद्धान्त के अनुरूप किया जाना आवश्यक है। उनका यह मानना था कि समाज के विभिन्न तत्व एक विशिष्ट तरीके और शैलीबद्ध तरीके से जुड़कर काम करते हैं जिसके फलस्वरूप उनमें एकरूपता देखी जा सकती है। समाजशास्त्र में विभिन्न प्रकार के समाज का अध्ययन उनके अंतः संबंध और स्वरूप तथा समाज के विभिन्न तत्वों के परस्पर सामंजस्य को ध्यान में रखकर करना आवश्यक है। साथ ही समाज के बदलते स्वरूप विभिन्न परिस्थितियों में परिवर्तित होते हैं। यह परिवर्तन समरूपता से विविधता की ओर चलित होता है। उन्होंने समाज के विभिन्न प्रकारों को उनके उदविकासीय क्रम में बाँटकर देखा है। उदविकासीय सिद्धान्त को परिभाषित करते हुए उनका मानना था कि समाज के विभिन्न अवस्थाओं को विकास के विभिन्न अवस्थाओं के रूप में देखा जा सकता है। समाज का विकास 'सरल' से 'जटिल' समाज के रूप में होता है। अपनी पुस्तक *द प्रिंसिपल्स आफ सोशियोलोजि* में उन्होंने युद्धप्रिय (Militant Society) तथा औद्योगिक समाज (Industrial Society) के दो परस्पर प्रकार के रूप में चित्रित

करते हुए उसके विशिष्ट लक्षणों का उल्लेख किया है जिसे निम्न तालिका-1 के द्वारा आसानी से समझा जा सकता है।

तालिका-1

विशेषताएं	युद्धप्रिय समाज	औद्योगिक समाज
प्रमुख कार्य	संरक्षण के लिए सामूहिक कार्य	व्यक्तिगत सेवा और शांतप्रिय कार्य
सामाजिक सहयोग के सिद्धान्त	अनिवार्य सहयोग	स्वैच्छिक सहयोग
राज्य और व्यक्ति के संबंध	व्यक्ति के अपेक्षा राज्य की प्रधानता	राज्य के अपेक्षा व्यक्ति को प्रधानता
राज्य और अन्य संगठन	सार्वजनिक संगठन को प्रधानता	व्यक्तिगत संगठन को प्रधानता
राज्य की संरचना	केंद्रित	विकेंद्रित
सामाजिक स्तरीकरण की संरचना	कठोर, स्थायी	लचीला, अस्थायी
आर्थिक क्रियाएं	आर्थिक स्वावलंबन	आर्थिक आत्मनिर्भरता
सामाजिक मूल्य व व्यक्तिगत लक्षण	राष्ट्रप्रेम, साहस, आज्ञाकारी अनुशासन	आजादी, व्यक्तिगत रुझान उदारवादी दृष्टिकोण

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार समाज के बदलते स्वरूप के अनुसार संरचनात्मक तत्वों के लक्षण भी उसके अनुरूप ही परिवर्तित होकर समाज के परिवर्तित अवस्था में भी सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखते हैं। विकास के क्रम में सामाजिक व्यवस्था भी उसी के अनुरूप बदल जाती है। इस अनुकूलन की प्रक्रिया को समझाते हुए स्पेंसर ने व्यक्ति और समाज के संबंध को उदविकास के सिद्धान्त से जोड़कर देखा है। व्यक्ति का समाज के साथ संबंध सावयवी (organic) है। जिस प्रकार जिवित प्राणी के अंगों के बीच आत्मनिर्भरता और परस्पर सहयोग होता है उसी प्रकार समाज के विभिन्न तत्वों के बीच भी उसी प्रकार का सहयोग और आत्मनिर्भरता पायी जाता है।

फ्रांस के एक और समाजशास्त्री इमाइल दुखिम (1858-1917) ने अपनी पुस्तक *रूल्स आफ सोशियोलॉजिकल मेथड* में समाजशास्त्र को विज्ञान का दर्जा दिया। उनका कहना था कि जिस प्रकार विज्ञान में घटनाओं तथा तथ्यों का अध्ययन वैज्ञानिक व वस्तुनिष्ठ तरीके से किया जाता है उसी प्रकार समाजशास्त्र के अध्ययन के भी विशिष्ट अध्ययन क्षेत्र हैं। समाजशास्त्र को समाज का विज्ञान बताते हुए उन्होंने कहा कि समाजशास्त्र व्यक्ति के बजाय सामाजिक तथ्यों का अध्ययन वैज्ञानिक तरीके से करता है। अपने पूरे समाजशास्त्रीय विश्लेषण में उन्होंने समष्टिवादी (collectivist) दृष्टिकोण को महत्व दिया। उनकी मान्यता थी कि समाज में व्यक्ति के स्वार्थ के बजाय समाज का वर्चस्व होता है। व्यक्ति के अधिकार गौण होते हैं और समाज का हित सर्वोपरि होता है। 'सामाजिक तथ्य' को उन्होंने वैज्ञानिक विश्लेषण का विशेष आधार बताया है। जिसका विश्लेषण हम इस अध्याय में ही करेंगे।

जर्मनी के दार्शनिक और सक्रिय साम्यवादी विचारधारा के जनक कार्ल मार्क्स (1818-1883) ने समाजशास्त्र के विकास को अपने विचारों से काफी प्रभावित किया है। उनका कहना था कि मानव समाज का इतिहास 'वर्ग संघर्ष' का इतिहास रहा है। इसलिए मानव समाज के अध्ययन में समाज में अंतर्नीहित स्वार्थों के परस्पर टकराव और दो परस्पर विरोधी वर्ग के बीच के अंतर्विरोध और संघर्ष के ऐतिहासिक स्वरूप के अध्ययन के बिना नहीं समझा जा सकता है। वर्ग को उन्होंने अपने अध्ययन तथा सामाजिक विश्लेषण का केंद्र बताया। उनका कहना था कि उत्पादन के साधनों के असमान वितरण से दो परस्पर विरोधी वर्ग पूँजीवादी व्यवस्था में उभर कर एक दूसरे के विरोध में खड़े होते हैं जिसका उन्होंने द्वन्दात्मक सिद्धान्त (Dialectical Materialism) और ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism) के द्वारा विस्तार से वर्णन किया है। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्दात्मक सिद्धान्त के द्वारा समाज का आलोचनात्मक विश्लेषण ऐतिहासिक दृष्टिकोण से किया जाना समाजशास्त्र को परिप्रेक्ष्य को एक नया आधार देता है। इन सिद्धान्तों पर हम पुनर्विचार करेंगे।

जर्मनी के एक और समाजशास्त्री मैक्स वेबर (1864-1920) ने समाजशास्त्र को परिभाषित करते हुए इसे विज्ञान की स्तरी दी है। उनके अनुसार समाजशास्त्र में 'सामाजिक क्रिया' की व्याख्या इसके सांस्कृतिक संदर्भ को समझकर कार्यकारण संबंध स्थापित करते हुए की जाती है। वेबर के अनुसार 'सामाजिक क्रिया' और एक सामान्य भौतिक क्रिया दो अलग-अलग क्रियाएं हैं। जहाँ भौतिक क्रिया का आधार कोई भी घटना हो सकता है वहीं इसके विपरीत सामाजिक क्रिया दो और दो से अधिक व्यक्ति के अंतः संबंध के परिणामस्वरूप ही संभव होता है। अंतः संबंध के कारण एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के सामाजिक

संदर्भ को भलिभाँति समझता है। सामाजिक क्रियाओं का आदर्श स्वरूप, उसका वर्गीकरण करते हुए उन्होंने समाज में होने वाले सामाजिक क्रियाओं के समझने को प्रधानता दी। उनकी मान्यता थी कि सामाजिक क्रिया के विश्लेषण में सांस्कृतिक परिवेश और मनुष्य के सामाजिकरण में उसके महत्व को समझने पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। अगस्त काण्टे के विपरीत उनकी यह मान्यता थी कि सभी सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन निरीक्षण तथा प्रयोग को आधार बनाकर नहीं समझा जा सकता है। वेबर के सामाजिक क्रिया की व्याख्या तथा इसका विश्लेषण इसी अध्याय में आगे विस्तार से किया गया है। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मैक्स वेबर का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण काण्ट तथा दुर्खिम के वैज्ञानिक विश्लेषण से बिल्कुल भिन्न था। उन्होंने अनुभव पर आधारित ज्ञान तथा मनुष्य के सामाजिक क्रियाओं जिसका स्वरूप अमूर्त होता है उसके विश्लेषण में ज्ञान के दार्शनिक संदर्भ को भी महत्व दिया है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि समाजशास्त्र के अर्थ को स्पष्ट करते हुए उन्नीसवीं सदी के कुछ प्रमुख समाजशास्त्रियों ने निम्न बातों की ओर हमारा ध्यान दिलाया है:

1. समाजशास्त्र में विभिन्न संस्थाओं का अध्ययन किया जाता है। जिन संस्थाओं के अध्ययन की बात पर समाजशास्त्रियों ने बल दिया है उसमें परिवार, राज्य, समाज, सामाजिक क्रिया, औद्योगिक समाज आदि का उल्लेख विशेष रूप से किया गया है।
2. सभी समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र के अध्ययन विधि के विशेष स्वरूप का भी उल्लेख किया है। सभी समाजशास्त्रियों ने यह माना है कि समाज का तुलनात्मक अध्ययन और सामाजिक संस्थाओं के बीच के संबंध को समझने तथा उसके वैज्ञानिक अध्ययन के लिए समाजशास्त्र एक विशिष्ट अध्ययन प्रणाली के द्वारा इसके अध्ययन में दिलचस्पी रखता है।
3. सभी समाजशास्त्रियों की यह मान्यता है कि समाज को एक इकाई के रूप में देखा जाना चाहिए। समाज को अपने आप में एक स्वतंत्र इकाई के हैसियत से ही अध्ययन का विषय मानना चाहिए।
4. सभी समाजशास्त्री यह भी मानते हैं कि समाज के अध्ययन के साथ सामाजिक क्रिया, 'सामाजिक तथ्य' का अध्ययन व विश्लेषण सामाजिक संदर्भ में विशेष रूप से लाभदायक हो सकता है। इस संदर्भ में 'वर्ग' पर आधारित समाज के बीच होने वाले अंतर्द्वन्द्व तथा विरोधभास का अध्ययन भी काफी लाभदायक हो सकता है।

समाज के अर्थ और परिप्रेक्ष्य पर चर्चा करने के बाद समाजशास्त्र के प्रकृति, विषय स्रोत, उत्पत्ति और दूसरे विषयों के साथ इसके प्रस्तावित संबंधों पर विचार करना भी आवश्यक हो जाता है। इन सभी मुद्दों पर चर्चा हम क्रमशः करेंगे।

समाजशास्त्र की प्रकृति

जहाँ तक समाजशास्त्र की प्रकृति का प्रश्न है- इस बात पर चर्चा करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि विज्ञान के मूलभूत सिद्धान्त व लक्षण क्या हैं? क्या इन मूलभूत लक्षणों को आधार मानकर समाजशास्त्र को विज्ञान का दर्जा दिया जा सकता है या नहीं। जहाँ तक विज्ञान का प्रश्न है विज्ञान का मूल उद्देश्य होता है घटनाओं का वैज्ञानिक विश्लेषण। यह मानकर चलते हैं कि विज्ञान में ज्ञान का विधिवत व सुनियोजित ज्ञान प्राप्त करना होता है। कुछ यह भी मानते हैं कि विज्ञान में किसी भी वक्तव्य को झूठ व सच्य साबित करने का प्रमाण देना होता है। इसके अतिरिक्त आर के० मर्टन का यह कहना था कि विज्ञान के कुछ सर्वव्यापी गुण हैं जिन्हें वैद्य करार दिया जाता है और विज्ञान की उस कसौटी पर समाजशास्त्र की प्रकृति का भी मूल्यांकन किया जाना चाहिए। मूलतः विज्ञान के कसौटी पर समाजशास्त्र एक वैज्ञानिक विषय के रूप में किस हद तक खड़ा होता है उसे विज्ञान के निम्न लक्षणों पर जाँच कर देखा जा सकता है।

1. प्रयोगाश्रित गुण: विज्ञान के इस प्रयोगाश्रित गुण के आधार पर तथ्यों का निरीक्षण व परीक्षण किया जाना आवश्यक है। इसके अनुसार ज्ञान का स्रोत काल्पनिक नहीं हो सकता। कल्पना पर आधारित ज्ञान की संभावना से इनकार भी नहीं किया जा सकता परंतु अगर उसे विज्ञान की कसौटी पर खड़ा उतरना है तो उस कल्पना पर आधारित अनुमानित ज्ञान को विज्ञान की कसौटी पर प्रयोग के द्वारा उसका परीक्षण के बाद सही साबित होना एक आवश्यक शर्त है और तभी उस तथ्य को ज्ञान व विज्ञान का दर्जा दिया जा सकता है।
2. सैद्धान्तिक आधार: विज्ञान के कसौटी पर खड़े उतरने वाले तथ्यों को सैद्धान्तिक आधार पर भी सही उतरना आवश्यक होता है। विज्ञान में जो भी सिद्धान्त प्रतिपादित होते हैं उसमें उपकल्पना के बीच तार्किक संबंध भी स्थापित किया जाता है। तार्किक संबंध स्थापित होने के बाद ही उसे सिद्धान्त के आधार पर परखा जाता है समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखा जाए तो इस प्रकार के सैद्धान्तिक आधार को ही विज्ञान का सही सूचक माना जा सकता है।
3. समुच्चबोधक प्रकृति: विज्ञान में घटनाओं तथा तथ्यों का समुच्चबोधक स्वरूप होता है जिसके कारण नये सिद्धान्त नये विचार तथा तथ्यों के आधार पर ज्ञान का आकलन किया जाता है। तथ्यों का एक दूसरे पर निर्भर रहना आवश्यक होता है। इससे पूर्वधारणाओं को नयी तथ्यों के खोज पर ही आधारित होता है।

4. नैतिक रूप से तटस्थ: विज्ञान में घटनाओं वा विश्लेषण नैतिक रूप से तटस्थ रहकर किया जाता है। यहाँ तथ्यों के खोज में वैज्ञानिक सिद्धान्तों को ही प्रधानता दी जाती है। क्या उचित है? क्या अनुचित है? क्या अच्छा है या क्या बुरा? इसका विश्लेषण विज्ञान के विषय स्रोत से बाहर होता है। फलस्वरूप विज्ञान में नैतिक मूल्यों का समावेश नहीं होता है।

विज्ञान के उपर्युक्त नियमों को ध्यान में रखकर जब हम बात करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र में भी विज्ञान के सभी लक्षणों को ध्यान में रखकर ही सामाजिक क्रियाओं का विश्लेषण किया जाता है। जहाँ तक विज्ञान के प्रयोगात्मक गुण का संबंध है, समाजशास्त्र के अध्ययन विधि कि चर्चा करते हुए अगस्त कान्ट, दुर्खिम, हर्बर्ट स्पेंसर, मैक्स वेबर तथा कार्ल मार्क्स सभी ने अपने-अपने ढंग से विज्ञान के इस सिद्धान्त का अनुसरण करने पर बल दिया है। निरीक्षण और परीक्षण के आधार पर घटनाओं का विश्लेषण समाजशास्त्र विषय के अध्ययन विधि कि पहली शर्त है।

विज्ञान के सैद्धान्तिक आधार को भी ध्यान में रखकर समाजशास्त्र में 'उपकल्पना' का निर्माण किया जाता है। उपकल्पना सत्यता की पुष्टि हो जाने पर सिद्धान्त स्वतः प्रतिपादित हो जाते हैं। दुर्खिम ने इसी उपकल्पना को ध्यान में रखकर अपने पुस्तक सुसाइड में आत्महत्या के कारणों का विधिवत अध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि आत्महत्या एक मनोवैज्ञानिक क्रिया न होकर सामाजिक क्रिया है जिसमें आत्महत्या करने वाले लोग समाज से अलग अर्थात् नहीं जुड़े हुए के कारण आत्महत्या करने के लिए बाध्य होते हैं। इन सामाजिक परिस्थितियों की चर्चा करते हुए ही उन्होंने आत्महत्या के सिद्धान्त के आधार पर इस क्रिया का विस्तार से विवरण किया था। रोबर्ट के. मर्टन ने भी प्रकार्यवाद सिद्धान्त के विश्लेषण में नये अवधारणा प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष परिणाम के आधार पर इसके सैद्धान्तिक विश्लेषण का प्रयास किया है। उदाहरण स्वरूप यह कहा जा सकता है कि धर्म के प्रत्यक्ष परिणाम जहाँ समाज के संगठन को मजबूत करते हैं वहीं दूसरी ओर धर्म के आधार पर लोग विभाजित भी होते हैं इस कारण सामाजिक संगठन में एकरूपता बनाये रखना मुश्किल हो जाता है।

विज्ञान के समुच्चबोधक प्रकृति को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र में भी घटनाओं व क्रियाओं का विश्लेषण क्रमशः होता है। एक खोज कर लेने के बाद तथ्य इकट्ठे किये जाते हैं और उन तथ्यों के आधार पर अन्य तथ्यों की खोज की जाती है और इस प्रकार तथ्यों का संकलन एक ऐसी प्रक्रिया है जिनके आधार पर समाजशास्त्रीय पद्धति को वैज्ञानिक तरीके से विकसित कर सिद्धान्त निर्माण किया जाता है जिसके फलस्वरूप घटनाओं व क्रियाओं का विश्लेषण क्रमवद्ध तरीके से संभव हो जाता है।

विज्ञान में घटनाओं का विश्लेषण करते हुए जहाँ तक संभव हो तटस्थ निति अपनायी जाती है परंतु एक समाजशास्त्री जा स्वयं भी समाज का सदस्य होकर सामाजिक घटनाओं का विश्लेषण करता है वह जहाँ तक संभव हो पाता है अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को निष्कर्ष पर हावी नहीं होने देता। तात्पर्य यह है कि समाजशास्त्र में अनुसंधानकर्ता को प्रशिक्षित किया जाता है कि वह अपने पूर्वाग्रहों तथा सांस्कृतिक रुझान को अपने अध्ययन विषय से पृथक कर उसका विश्लेषण करे।

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र एक विज्ञान है जहाँ विज्ञान के अध्ययन विधि को तटस्थ ही यहाँ भी क्रियाओं के अध्ययन में जहाँ तक संभव हो पारदर्शिता तथा निरीक्षण के आधार पर घटनाओं का विश्लेषण किया जाता है। हाँ! समाजशास्त्री इतना जरूर मानते हैं कि जिस प्रकार विज्ञान में जो सिद्धान्त प्रतिपादित होते हैं वे स्थायी रूप से घटनाओं का विश्लेषण एक निश्चित क्रम में करते हैं जिनके सिद्धान्त निश्चित निष्कर्ष को दर्शाते हैं उस रूप में घटनाओं तथा क्रियाओं का विवेचन उस निश्चित तरीके से संभव नहीं हो पाता। इसका सबसे बड़ा कारण है विषय की जटिलता। यहाँ पर मानव व्यवहार के सामाजिक संदर्भ का अध्ययन होता है जो परिवर्तनशील है और जिनको प्रयोगशाला में नियंत्रित नहीं किया जा सकता है। अर्थात् यह कहना उचित होगा कि जिस प्रकार विज्ञान के निष्कर्ष निश्चित, संक्षिप्त, मापदंड प्रत्यक्ष होते हैं उस हद तक समाजशास्त्र के निष्कर्ष निश्चित, संक्षिप्त नहीं होते। मानवीय व्यवहार जटिल होते हैं जिनका एक सांस्कृतिक परिवेश होता है। इसलिए समाजशास्त्र में जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं वे संभावित होते हैं और यहाँ संभावनाओं के साथ-साथ घटनाओं की व्याख्या कुछ अनुमान के आधार पर ही की जाती है जिसके सत्यता की जाँच समय-समय पर की जाती है।

समाजशास्त्र का विषय क्षेत्र

समाजशास्त्र के अर्थ, प्रकृति व परिप्रेक्ष्य के विश्लेषण के पश्चात् समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र के बारे में भी विचार करना आवश्यक है। समाजशास्त्र में सामाजिक जीवन, संस्कृति, सामाजिक संस्थाओं, व्यक्ति और समूह के बीच संबंध का विधान

अध्ययन विभिन्न स्तर पर किया जाता है। समाज को प्रभावित करने वाले तत्वों में सबसे बड़े परिवर्तन के स्रोत रहे हैं प्रजातांत्रिक आंदोलन और औद्योगिकरण की प्रक्रिया।

प्रजातांत्रिक आंदोलन

फ्रांस की क्रांति जो 1789 में हुई उसका प्रभाव पूरे युरोप पर पड़ा। इस क्रांति के फलस्वरूप प्रजातांत्रिक सोच के तात्त्विक आधार का विश्लेषण किया गया। फ्रांस की क्रांति की तीन महत्वपूर्ण उपलब्धियों की बात राबर्ट निरबेट ने की। उनका यह मानना था कि फ्रांस के क्रांति के कुछ वैचारिक आधार विश्वव्यापी थे, जिसे सभी सामाजिक विज्ञान से जुड़े बुद्धिजीवियों ने पहचाना और उसका विश्लेषण अपने सिद्धान्तों में किया। फ्रांसीसी क्रांति के ये निम्न तीन वैचारिक आधार थे:-

1. आजादी
2. समानता
3. भातृत्व

इन वैचारिक तत्वों को ही आधार मानकर समाजशास्त्रियों ने भी सामाजिक संस्थाओं तथा सामाजिक प्रक्रियाओं के परिवर्तित स्वरूप का भी अध्ययन किया। फ्रांस के समाजशास्त्री सेंट साइमन, अगस्त काम्ट, ड. दुखिम तथा जर्मनी और इंग्लैण्ड के समाजशास्त्री विशेषकर कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर और हर्बर्ट स्पेंसर, टी. वी. बाटमोर और डैहरेनडार्फ के साथ अमेरिकी समाजशास्त्रियों टैलकार पार्सन्स तथा राबर्ट के. मर्टन की रचनाओं में इन सभी विचारों का समावेश देखा जा सकता है। सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करने वाले विघटनकारी तत्व व रचनात्मक तत्वों को जोड़कर देखने के लिए लगभग सभी समाजशास्त्री कटिबद्ध थे। एलेक्स इनकेमेस ने अपनी पुस्तक 'समाजशास्त्र' क्या है? में समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र का विस्तार से वर्णन करते हुए यह बताया है कि समाजशास्त्र में किन विषयों पर ज्यादा काम हुए हैं। निम्न चार्ट के द्वारा उसे बेहतर तरीके से याद रखा जा सकता है।

(क) समाजशास्त्रीय विश्लेषण

विषय:

1. मानव संस्कृति व समाज
2. समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य
3. सामाजिक ज्ञान व अध्ययन विधि
4. समाजशास्त्र का ज्ञान
5. समाजशास्त्र का समाजशास्त्र
6. पश्चिमी समाजशास्त्र का उभरता संकट

(ख) प्राथमिक सामाजिक इकाई

1. सामाजिक संबंध-व-सामाजिक क्रिया
2. व्यक्ति और समाज
3. समूह: प्राथमिक और द्वैत्यिक
4. वर्ग और समूह
5. प्रजाति और सांस्कृतिक समूह
6. समुदाय: ग्रामीण व शहरी
7. समीति और संगठन
8. जनसंख्या और सामाजिक विकास
9. समाज: कृषि, आदिवासी, आधुनिक औद्योगिक और उत्तर औद्योगिक समाज

(ग) मुख्य सामाजिक संस्थाएँ

1. परिवार, नातेदारी और विवाह
2. आर्थिक संस्थाएँ और बाजार
3. राजनीतिक और वैधानिक
4. धार्मिक
5. शैक्षणिक तथा वैज्ञानिक
6. मनोरंजनात्मक तथा कल्याणकारी

(घ) मौलिक सामाजिक प्रक्रियाएँ

1. सामाजिक स्तरीकरण-व-सामाजिक असमानता
2. सहयोग, प्रतिस्पर्धा व समीकरण
3. सामाजिक संघर्ष (सामाजिक क्रांति)
4. संचार-व्यवस्था
5. समाजीकरण
6. सामाजिक उदविकास (विकास, उन्नति)

7. संवेगनात्मक
8. भूमंडलीय तथा उदारवादी
7. सामाजिक विघटन (अपराध, आत्महत्या)
8. सामाजिक एकीकरण
9. सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक नियंत्रण
10. स्थिति व भूमिका
11. प्रतिमान एवं मूल्यों में परिवर्तन
12. औद्योगिकरण, शहरीकरण, प्रवासन

(ड) उत्तर आधुनिक समाज की प्रक्रियाएं

1. आधुनिकीकरण की प्रक्रियाएं-भूमंडलीकरण व उदारीकरण
2. धर्मनिर्पेक्षवाद की प्रक्रिया
3. आतंकवाद, साम्यवाद व वैकल्पिक समाज का गठन
4. सामाजिक विकास एवं स्वैच्छिक संस्थाओं की रचना
5. महिला अत्याचार, शोषण एवं यौन उत्पीड़न
6. बाल अत्याचार
7. उदारीकरण व बहुराष्ट्रवादी आंदोलन
8. विज्ञान व तकनीकी संचार

उपर्युक्त चार्ट से यह स्पष्ट है कि सामाजिक क्षेत्र में जो परिवर्तन आये हैं उसके फलस्वरूप समाजशास्त्र का विषय क्षेत्र काफी व्यापक हुआ है। नये आयाम तथा समाज के बदलते स्वरूप में कई नयी संस्थाओं का गठन हुआ है जिसका अध्ययन समाजशास्त्रियों ने अपने अध्ययन विधि से किया है। आज जहाँ समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में परंपरागत सामाजिक विषय जैसे समूह, स्तरीकरण, संस्थाएं तथा संगठनों के साथ-साथ सामाजिकरण, सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रियाओं का अध्ययन होता है। वहीं दूसरी ओर कल्याणकारी सेवा से जुड़े अस्पताल, स्कूल, विकास की योजनाओं का अध्ययन भी इन संस्थाओं के संगठनात्मक पहलुओं को ध्यान में रखकर भी किया जाता है।

सामाजिक परिवर्तन की विभिन्न प्रक्रियाओं के अध्ययन में सामाजिक आंदोलन, राजनीतिक आंदोलन, छात्र आंदोलन, महिला आंदोलन के साथ-साथ वातावरण संरक्षण तथा आतंकवाद के विनाशकारी प्रभाव से बचने के उपाय के साथ धर्म के राजनीतिक हस्तक्षेप का समाजशास्त्रीय मूल्यांकन भी किया जाता है। इस प्रकार सामाजिक विकास को प्रभावित करने वाले रचनात्मक क्रियाओं और संगठन का अध्ययन भी समाजशास्त्र के अध्ययन विषय के विशेष आकर्षण बन गये हैं। समाज में महिलाओं की स्थिति तथा स्वास्थ्य से संबंधित अध्ययन के साथ-साथ नये पेशे का अध्ययन भी समाजशास्त्र में किया जाने लगा है। संचार साधन के प्रचार व प्रसार से जिस प्रकार के भूमंडलीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई है उसका समाजशास्त्रीय विश्लेषण उसके सामाजिक व राजनीतिक विचारधारा को ध्यान में रखकर भी किया जाने लगा है।

समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र के इस व्यापक स्वरूप को देखकर यह कहा जाना आवश्यक है कि आज सभी विषय अपने विषय क्षेत्र का अध्ययन एक विशेषज्ञ की हैसियत से करते हैं इस दृष्टिकोण से अगर देखा जाये तो समाजशास्त्र भी अपने विषय क्षेत्र का अध्ययन और उनका मूल्यांकन एक विशेषज्ञ के स्तर पर व्यवहारिक तरीके से करने की पूरी चेष्टा करता है। साथ ही दूसरे विषयों के अध्ययन विधि और निष्कर्ष को ध्यान में रखकर उसका तुलनात्मक विवेचन भी करता है। इस प्रकार के अध्ययन क्षेत्र के आधार पर समाजशास्त्र की एक नयी पहचान बनी है जिसे समाज की योजनाओं के निर्माता भी स्वीकार करते हैं। सामाजिक विघटन तथा विचलन की प्रक्रिया के अध्ययन में भी समाजशास्त्र विषय को एक नया स्थान मिला है।

समाजशास्त्र का उत्थान

समाजशास्त्र का उदय नवजागरण की प्रक्रिया से जुड़ा है। समाज को ध्यान में रखकर समाज का विश्लेषण यद्यपि नवजागरण और उसके पश्चात् औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया से जुड़ा है इसलिए समाजशास्त्र का उत्थान एक विषय के रूप में व्यवस्थित तरीके से फ्रांस की क्रांति के बाद जो सामाजिक अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न हुई उससे जुड़ा माने जाने लगा। भरतृ वारत्त

में देखा जाये तो समाज का अध्ययन प्राचीन ग्रीक दर्शनशास्त्रियों जिसमें प्लेटो तथा एरिस्टोटल के नाम विशेष रूप से लिए जाते हैं उन्होंने क्रमशः अपनी पुस्तक रिपब्लिक तथा नैतिकता और राजनीति में वर्णन किया था। प्लेटो ने शहरी समुदाय के सभी पक्षों का वर्णन किया था जबकि एरिस्टोटल ने कानून, समाज और राज्य के बीच के संबंध का व्यापक वर्णन किया था। रोम के सामाजिक चिंतकों ने भी कानून से संबंधित सामाजिक व्यवस्था के वर्णन को ही अधिक महत्व दिया था। सोलहवीं सदी में राज्य और समाज के संबंध को ध्यान में रखकर ही विवेचना की गयी। मैकियावेली तथा हाब्स ने भी सामाजिक जीवन का वर्णन राज्य के भूमिका को ध्यान में रखकर किया। इटली के सामाजिक चिंतक विको ने अपने पुस्तक *द न्युसाइंस* में बताया कि किस प्रकार समाज कुछ खास नियमों द्वारा संचालित होता है। फ्रांस के सामाजिक विचारक मांटेस्क्यू ने अपने पुस्तक *द स्पीरीट आफ लॉ* में भूमिका तथा बाहरी तत्वों के भाव का उल्लेख किया था। उनका कहना था कि बाहरी तत्वों में जलवायु का प्रभाव मानव जीवन को प्रभावित करता है।

जहाँ तक समाजशास्त्र को एक तकनीकी विषय के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रश्न है उस संदर्भ में अमेरिका के समाजशास्त्री एलविन गुल्डनर ने अपने पुस्तक *द कर्मींग क्राइसिस आफ वेस्टर्न सोशियोलोजि* में पश्चिम समाजशास्त्र के विकास के क्रम में चार महत्वपूर्ण अवस्थाओं का वर्णन किया है:

पहली अवस्था है वैज्ञानिक अवस्था जिसमें फ्रांस के विचारक सेंट साइमन तथा अगस्ट कान्ट के विचारों का उल्लेख किया जा सकता है। सेंट साइमन ने अपने विचार प्रकट करते हुए बताया था कि सामाजिक क्रियाओं का वर्णन वैज्ञानिक तरीके से करने के लिए समाज का विज्ञान अर्थात् सामाजिक पदार्थ विज्ञान होना चाहिए। इसी विचार से प्रेरित होकर अगस्ट कान्ट ने अपने पुस्तक *Cours de philosophic positive* के चतुर्थ खंड में समाजशास्त्र शब्द को प्रचलित किया। उनका कहना था कि जिस प्रकार प्राकृतिक घटनाओं का विश्लेषण प्रकृति विज्ञान के सिद्धान्तों के द्वारा वैज्ञानिक रूप से किया जाता है उसी प्रकार सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन भी वैज्ञानिक तरीके से किया जाना चाहिए और इसके लिए उन्होंने निरीक्षण, प्रयोग और तुलनात्मक विधि के इस्तेमाल किये जाने पर बल दिया।

गुल्डनर ने समाजशास्त्र के उत्पत्ति के विकास में मार्क्सवाद को भी एक महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनके अनुसार यह दूसरी अवस्था है। उन्नीसवीं सदी के मध्यकाल में मार्क्सवाद एक विचारधारा के रूप में समाजशास्त्रीय अध्ययन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बना। इस विचारधारा के जनक कार्ल मार्क्स जर्मनी के सामाजिक चिंतक थे जिन्होंने फ्रांस की समाजवादी विचारधारा और ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों के सोच को अपने साम्यवादी सोच का हिस्सा बनाकर राजनीतिक अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण के द्वारा सामाजिक जीवन का वर्णन उत्पादन की प्रक्रिया से जुड़े परस्पर अन्तर्द्वन्द्व को भौतिकवाद के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के द्वारा किया।

समाजशास्त्र के ऐतिहासिक विकास में उत्कृष्ट समाजशास्त्र (Classical Sociolgy) का भी एक महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उनके अनुसार यह तीसरी अवस्था है। संभवतः इसलिए समाजशास्त्र को नये विषय के रूप में देखा जाता है। उत्कृष्ट समाजशास्त्र के सिद्धान्तिक पक्ष का विकास प्रथम विश्व युद्ध के पहले अर्थात् उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बिसवीं सदी के आरंभिक दशकों में शुरु हुआ। इस दौरान प्रत्यक्षवाद और मार्क्सवाद के संबंध को मिलाकर एक तीसरे सिद्धान्त के द्वारा समाजशास्त्रिय अध्ययन हुए। इस काल के महत्वपूर्ण समाजशास्त्रियों में मैक्स वेबर, इमाईल दुर्खिम तथा विलफ्रेडो पैरेटो के नाम का उल्लेख विशेष रूप से किया जाता है।

एमविन गुल्डनर ने जिस चौथे अवस्था के द्वारा आधुनिक पश्चिमी समाजशास्त्र के उदय का जिक्र किया है उसमें पार्सन्स के द्वारा प्रतिपादित संरचनावादी-प्रकार्यात्मक (Structural-Functional) सिद्धान्त का उल्लेख काफी महत्वपूर्ण है। इस दौर की शुरुआत बिसवीं सदी के तीसरे दशक अर्थात् द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान शुरु हुआ। अमेरिका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय से जुड़े समाजशास्त्रियों ने संरचनावादी प्रकार्यात्मक सिद्धान्त को एक नया रूप दिया। जहाँ टैलकाट पार्सल्स ने अपने अंतिम समय (1902-1979) तक इसे एक वृहत सिद्धान्त (Grand Theory) के रूप में विकसित किया उनके अन्य मित्र किंग्समे डेविस, राबर्ट के० मर्टन, विलबर्ट मूर, राबिन विलियम आदि ने आधुनिक संदर्भ में इसके बदलते आयामों को विश्लेषण का हिस्सा बनाकर समाजशास्त्रीय अध्ययन किए।

इक्कीसवीं सदी के शुरुआती दौर में नये संरचनावादी, नये मार्क्सवादी विचार तथा नये प्रकार्यवादी विचार के साथ उत्तर आधुनिक काल के नये पहलुओं का भी विश्लेषण घटना क्रिया-विज्ञान के सिद्धान्तिक दृष्टिकोण के द्वारा हुआ है।

समाजशास्त्र का अन्य विषयों के साथ संबंध

समाजशास्त्र में मानव व्यवहार के विधिवत अध्ययन किये जाने से समाजशास्त्र को एक विशेष विषय के रूप में पहचान मिली है। यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि समाजशास्त्र के अलावा और भी कई विषय हैं जहाँ मानव व्यवहार को केन्द्र बनाकर

उसके क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। अतः केवल समाजशास्त्र में ही समाज और मानव व्यवहार का अध्ययन नहीं होता बल्कि इसके अतिरिक्त सामाजिक मानवशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान में भी समाज का अध्ययन अपने विषय के अध्ययन विधि को ध्यान में रखकर किया जाता है। ऐसी परिस्थिति में समाजशास्त्र का अन्य विषयों के साथ संबंध होना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। जिस प्रकार समाजशास्त्र में मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन उसके अतीत और वर्तमान के संदर्भ में होता है। उसी प्रकार दूसरे विषय में भी मानव व्यवहार का अध्ययन उसके ऐतिहासिक तथा वर्तमान संदर्भ में किया जाता है।

जहाँ तक मानव व्यवहार के अध्ययन करने वाले सभी विषयों का संबंध है समाजशास्त्र अन्य सभी विषयों के साथ एक वैज्ञानिक अध्ययन विधि के द्वारा अपने समस्याओं का अध्ययन करता है। सामाजिक समस्याओं का वर्णन व विश्लेषण करना एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें सभी विषय एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। वैज्ञानिक खोज और मानव व्यवहार का अध्ययन सभी सामाजिक विज्ञान के विषयों का एक सांझा लक्ष्य है जो एक दूसरे को नजदीक लाता है और एक दूसरे के परस्पर विषय से संबंधित समस्याओं को समझने में भी महत्वपूर्ण कड़ी का काम करता है। परंतु इसके बावजूद भी इस सभी विषयों के अपने अध्ययन विषय एक दूसरे से अलग भी हैं। कुछ विषयों के अध्ययन क्षेत्र में भिन्नता ज्यादा होती है जिसके कारण वे समाजशास्त्र से ज्यादा अलग दिखते हैं तो वहीं कुछ विषय ऐसे हैं जो समाजशास्त्र के अध्ययन विषय से काफी मिलते जुलते हैं जिसके फलस्वरूप उस विषय के साथ समाजशास्त्र का रिश्ता घनिष्ठ माना जाता है। समाजशास्त्र का संबंध सामाजिक मानवशास्त्र से इतना घनिष्ठ माना जाता है कि इन दो विषयों के अध्ययन क्षेत्र और अध्ययन प्रणाली को एक दूसरे से अलग करके देना भी मुश्किल जान पड़ता है जबकि इसके विपरित अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान, इतिहास से इसके संबंध भिन्न दिखते हैं और इन विषयों के साथ समाजशास्त्र का संबंध घनिष्ठ नहीं माना जाता है।

समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र: सामाजिक मानवशास्त्र, मानवशास्त्र की एक शाखा है। नृविज्ञान या मानवशास्त्र अंग्रेजी शब्द का अंग्रेजी-शब्द एंथ्रोपोलोजि ग्रीक शब्द 'एंथ्रोपोस' (Anthropos) और लोगोस (Logos) शब्द से बना है जिसका हिन्दी में शाब्दिक अनुवाद क्रमशः 'व्यक्ति' और 'विज्ञान' से हैं अर्थात् (एंथ्रोपोलोजि) विषय मानव विज्ञान है जिसकी तीन मुख्य शाखाएं हैं:-

- (क) भौतिक मानवशास्त्र
- (ख) सांस्कृतिक मानवशास्त्र
- (ग) सामाजिक मानवशास्त्र

जहाँ भौतिक मानवशास्त्र में मनुष्य के शारीरिक विशेषताओं का अध्ययन किया जाता है वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक मानवशास्त्र में मनुष्य के संस्कृति से जुड़े अवशेष विशेषकर आदिम जाति के सांस्कृतिक अवशेष का अध्ययन वर्तमान समय की संस्कृति को ध्यान में रखकर किया जाता है। सामाजिक मानवशास्त्र इन दोनों से भिन्न है क्योंकि यहाँ पर सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन आदिम जाति के प्राचीन संदर्भ तथा संदर्भ ध्यान में रखकर किया जाता है।

सामाजिक मानवशास्त्र में मानव समुदाय के रीति-रिवाज, सामाजिक संस्थाएं, मूल्यों तथा तरीकों के सम्मिलित स्वरूप का अध्ययन किया जाता है। यहाँ पर सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन मौजूदा समय में रहने वाले व्यक्ति के आपसी संबंध को ध्यान में रखकर किया जाता है। मानवशास्त्र का एक भाग है सामाजिक मानवशास्त्र। इसके अन्य शाखाओं में पुरातत्व-विज्ञान, नृजाति-विज्ञान, आदिम तकनीकि-ये सभी इसके हिस्से हैं। सामाजिक मानवशास्त्र द्वारा जुटाये गये अध्ययन सामग्री का वर्णन समाजशास्त्र के लिए निश्चित रूप से लाभकारी साबित होता है इसलिए इन दोनों विषयों के बीच चोली-दामन का संबंध है। समाजशास्त्र के तरह ही सामाजिक मानवशास्त्र में सामाजिक संबंधों का अध्ययन होता है। इन दोनों विषयों के बीच घनिष्ठ संबंध को ध्यान में रखकर ही रैडक्लिफ ब्राउन ने सामाजिक मानवशास्त्र को तुलनात्मक-समाजशास्त्र के संबोधन से सशोधित करने का सुझाव दिया था। परंतु रैडक्लिफ ब्राउन के इस सुझाव पर ज्यादा अमल नहीं किया जा सका क्योंकि समाजशास्त्रियों की यह मान्यता थी कि दोनों विषय के ज्ञाता इन दोनों विषयों को एक दूसरे से भिन्न मानते हैं। दो मायों में इन दो विषयों के बीच अंतर पाया जाता है।

समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र व विषय मूलतः सामाजिक संबंध से जुड़ा होता है जबकि सामाजिक मानवशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र सामाजिक संबंध के अलावा अन्य बातों से भी जुड़ा होता है। यहाँ लोगों में विश्वास, मूल्यों का भी अध्ययन किया जाता है जिसका सीधा संबंध-सामाजिक व्यवहार के अध्ययन से भी नहीं जुड़ा हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह हुआ कि सामाजिक मानवशास्त्र व सांस्कृतिक मानवशास्त्र अध्ययन विषय के एक समान हो सकती है और इसलिए इन दोनों में आपसी घनिष्ठता

पायी जाती है। उदाहरणस्वरूप लोगों के धार्मिक विचार और ब्रह्मांड से जुड़े उनके विचार का सीधा संबंध सामाजिक व्यवस्था से नहीं भी हो सकता है। उदाहरणस्वरूप इमांस प्रीचर्ड तथा लाइनहार्ट ने अपने सामाजिक मानवशास्त्रिय अध्ययन में क्रमशः नुअर धर्म तथा डिका लागों के धार्मिक रुझान का वर्णन भी मिलता है। इस प्रकार का रुझान समाजशास्त्रियों के अध्ययन से बिल्कुल भिन्न है।

समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र के बीच दूसरा अंतर मानव समुदाय को लेकर है। सामाजिक मानवशास्त्री जिस समुदाय का अध्ययन करते हैं वे प्रायः अपरिचित और जंगली तथा पठारी क्षेत्रों में रहने वाले होते हैं जो आधुनिक शहरी समाज से बिल्कुल अलग रहकर अपनी विशिष्ट पहचान को सुरक्षित रखे हुए हैं। जबकि इसके विपरीत समाजशास्त्र में जिन व्यक्ति समूह का अध्ययन किया जाता है वे सभी आधुनिक समाज के अभिन्न अंग है जिनके बीच वे रहते हैं और समाजशास्त्री भी उनमें से उस समाज का एक सदस्य होता है। इन दोनों विषयों के बीच के अंतर को निम्न लक्षणों के द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है।

असमानता

मापदंड	समाजशास्त्र	सामाजिक मानवशास्त्र
अध्ययन क्षेत्र	(क) सामाजिक संबंध	(क) सामाजिक संबंध के साथ-साथ संस्कृति और ब्रह्मांड से जुड़े उनके दृष्टिकोण
अध्ययन विधि	(ख) वर्तमान समाज और औद्योगिक तथा उत्तर औद्योगिक समाज की रूप रेखाएं	(ख) आदिम जाति तथा पठारी क्षेत्रों में रहने वाले वे लोग जो आधुनिक समाज से अलग जंगलों में रहते हैं।
समानता	(क) प्रश्नावली, अनुसूचि तथा साक्षात्कार तथा ऐतिहासिक विधि के द्वारा आंकड़ों का परिमाणात्मक संकलन और विश्लेषण	(क) प्रश्नावली और अनुसूचि के विपरीत क्षेत्र कार्य विधि के द्वारा अध्ययन किया जाता है।
	(ख) गुणात्मक आंकड़ों के बजाय सांख्यिकी आंकड़ों का संकलन किया जाता है।	(ख) सांख्यिकी आंकड़ों के बजाय गुणात्मक जानकारी के क्रमबद्ध संकलन को प्राथमिकता दी जाती है।
	(ग) ऐतिहासिक विधि का प्रयोग	(ग) ऐतिहासिक विधि का प्रयोग नहीं किया जाता है।
	(घ) द्वितीयक तथ्यों तथा सामग्री को आधार बनाकर अध्ययन किया जाता है।	(घ) द्वितीयक तथ्यों का अभाव होने के कारण प्राथमिक तथ्य को ही विश्लेषण का आधार माना जाता है।
	(क) इस विषय के विषय वस्तु में समरूपता है।	(क) विषय की समरूपता संस्कृति से जुड़े अवधारणाओं को लेकर है।
	(ख) संस्कृति, संस्कृति क्षेत्र, संस्कृति-संकुच, संस्कृति-स्वरूप तथा सांस्कृतिक लक्षण का अध्ययन समाजशास्त्र में सामाजिक मानवशास्त्र के कारण ही संभव हो पाया है।	(ख) संस्कृति से जुड़े तत्वों तथा सिद्धान्तों का विशेष अध्ययन किया जाता है। सैद्धान्तिक विश्लेषण में समाजशास्त्रिय लक्षण को भी ध्यान में रखकर संस्कृति की विवेचना की जाती है।
	(ग) प्रकार्यवाद के सैद्धान्तिक आधार का विश्लेषण सामाजिक मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर किया जाता है।	(ग) प्रकार्यवाद के सैद्धान्तिक आधार का विश्लेषण आदिम जाति के संदर्भ में किया गया है परंतु ये सैद्धान्तिक दृष्टिकोण दोनों के एक समान हैं।
	(घ) अधिकांश तीसरी दुनिया के देशों में समाजशास्त्र का विकास औपनिवेशवादी ताकतों के द्वारा किया गया। कालांतर में समाजशास्त्र उस देश के सामाजिक संरचना तथा व्यवस्था के अध्ययन में वहाँ के मौलिक सिद्धान्तों और अवधारणाओं के मदद से विकसित हुआ।	(घ) समाजशास्त्र की तरह ही सामाजिक मानवशास्त्र का उदय ब्रिटिश सामाजिक मानवशास्त्रियों के अध्ययन विधि-द्वारा शुरू हुआ। रैडक्लिफ ब्राऊन तथा मैलिनुस्की के अध्ययन विधि द्वारा प्रभावित होकर भारतीय समाजशास्त्रियों ने विशेषकर एम.एन. श्रीनिवास ने जाति के अध्ययन में 'संस्कृतिकरण' जैसे अवधारणा को विकसित किया। भारत में सामाजिक मानवशास्त्र के विकास करने वाले समाजशास्त्रियों ने इसके अध्ययन विधि का इस्तेमाल समाजशास्त्रीय अध्ययन में किया।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक मानवशास्त्र से समाजशास्त्र का संबंध काफी घनिष्ठ है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि समाजशास्त्र का जो संबंध सामाजिक मानवशास्त्र के साथ है वह किसी अन्य विषय के साथ नहीं है और संभवतः इसलिए कई भारतीय समाजशास्त्रियों को सामाजिक मानवशास्त्र के साथ भी जोड़कर देखा जाता है। टी० बी० बाटमोर का कहना था कि तीसरी दुनिया के अधिकांश देश ऐसे हैं जिसे न तो बिल्कुल ही पिछड़ा कहा जा सकता है और न ही बहुत विकसित व आधुनिक-वैसे देशों में समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र के बीच का संबंध और भी घनिष्ठ हो जाता है। भारतीय समाज के संदर्भ में उनका मत था कि इन दोनों विषयों के बीच अंतर बताने का प्रयास किसी भी दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं लगता है।

समाजशास्त्र तथा इतिहास

जहाँ तक इतिहास से समाजशास्त्र का प्रश्न है सतही तौर पर यह माना जाता है कि समाजशास्त्र और इतिहास का संबंध काफी पुराना है जबकि समाजशास्त्र के उत्थान की प्रक्रिया तथा उसके सिद्धान्तिक विकास की चर्चा की जाती है तो समाजशास्त्र का संबंध इतिहास से ज्यादा पुराना नहीं है। फिर भी इतिहास क्या है? इस बात पर विचार करना आवश्यक है हो जाता है। एक इतिहासकार मुख्य रूप से अतित के विश्लेषण में अभिरुचि रखता है। उनका मुख्य उद्देश्य अतित के घटनाओं का विश्लेषण करना होता है। घटनाओं के विश्लेषण के दौरान वे यह जानना चाहते हैं कि क्या हुआ, कैसे हुआ और क्यों हुआ? इस प्रकार प्राचीन या मध्यकाल या फिर वर्तमान काल में घटनाओं का विश्लेषण एक क्रमबद्ध तरीके से कैसे किया जाय, इसका प्रयास किया जाता है। उन घटनाओं के अध्ययन के पीछे एक सामान्य पद्धति, सिद्धान्त के खोज का प्रयास किया जाता है। इस दृष्टिकोण से समाजशास्त्र से इसकी तुलना करते हुए निम्न भिन्नताओं को समझा जा सकता है।

समाजशास्त्र	इतिहास
भिन्नता के आधार	
(क) घटनाओं की वर्तमान स्थिति का अध्ययन होता है।	(क) घटनाओं के घट जाने के पश्चात उसका अध्ययन किया जाता है।
(ख) घटनाओं व तथ्यों का अध्ययन सामान्य रूप से किया जाता है।	(ख) घटनाओं का अध्ययन उस घटना के विभिन्न गुणों के कारण किया जाता है।
(ग) सिद्धान्त प्रतिपादित करते समय जिन अवधारणाओं का प्रयोग किया जाता है वे सामान्य परिस्थितियों को समझने में सहायक होते हैं।	(ग) सिद्धान्त प्रतिपादित करने का आधार घटना का विलक्षण गुण होता है जिसे आधार बनाकर ही सिद्धान्त व अवधारणा का विकास किया जाता है।
(घ) समाजशास्त्र में तथ्यों के विश्लेषण सामाजिक प्रक्रियाओं को ध्यान में रखकर किया जाता है।	(घ) इतिहास में व्यक्तित्व की पहचान के पीछे सामाजिक ताकतों का कितना योगदान रहा है इसका विश्लेषण किया जाता है।
(ङ) यद्यपि समाजशास्त्र में मनुष्य के क्रियाओं तथा व्यवहार का अध्ययन ही किया जाता है परंतु वह संदर्भ तथा उसका लक्ष्य इतिहास से अलग होता है।	(ङ) इतिहास में भी मानव व्यवहार, समय तथा सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन किया जाता है परंतु लक्षण और संदर्भ दोनों समाजशास्त्र से भिन्न होते हैं।

उपर्युक्त अंतर के बावजूद भी यह स्वीकार किया जाता है कि इतिहास और समाजशास्त्र का अंतर मौलिक नहीं है क्योंकि एक इतिहासकार और समाजशास्त्रिय दृष्टिकोण के उपर ही ये अंतर निर्भर करता है। बहुत से ऐसे समाजशास्त्री हैं जिन्होंने समाज के विकास में इतिहास के भूमिका को स्वीकार किया है। उदाहरण के लिए कार्ल्स मार्क्स के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का उल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने इतिहास के संदर्भ में सामाजिक परिवर्तन लाने में वर्ग के भूमिका का वर्णन किया है। इसलिए इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों के दृष्टिकोण पर ही यह निर्भर करता है कि समाजशास्त्र इतिहास के कितना नजदीक है।

इतिहास का समाजशास्त्र के साथ एक घनिष्ठ संबंध है इतिहास के द्वारा जो तथ्य व सामग्री उपलब्ध होते हैं उसका इस्तेमाल समाजशास्त्र में किया जाता है। जब समाजशास्त्र में तुलनात्मक विधि का प्रयोग किया जाता है तो इस विधि को और पुष्ट किये जाने वाले तथ्यों को इतिहास ही मुहैया करवाता है जिसके आधार पर समाजशास्त्रीय विश्लेषण किये जाते हैं। यहाँ तक कि ऐतिहासिक समाजशास्त्रियों तथा जो समाजशास्त्रीय अध्ययन सामाजिक आंदोलन का किया जाता है उससे संबंधित जानकारी भी इतिहास द्वारा ही उन्हें प्राप्त हो पाते हैं। इसलिए इतिहास के योगदान के बिना समाजशास्त्र के बहुत सारे संबंधित विषयों पर कार्य किया ही नहीं जा सकता है।

ऐतिहासिक क्षेत्र में जो अध्ययन जिस एक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर किया जाता है वहाँ समाजशास्त्र और इतिहास एक दूसरे के काफी करीब आ जाते हैं। आधुनिक समय में इतिहास और समाजशास्त्र में दोनों विषय अपनी अवधारणा तथा सैद्धान्तिक विचारों की पुष्टि के लिए दार्शनिक परिप्रेक्ष्य को अपने निष्कर्ष का आधार मानते हैं। इतिहास भी अपने समाज के वर्गीकरण में समाजशास्त्रियों के समाज के वर्गीकरण को आधार बनाकर सामाजिक तथ्यों का विश्लेषण करते हैं। आर्थिक इतिहास और सामाजिक इतिहास में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का मदद लेकर इतिहासकार उन तथ्यों का विश्लेषण करते हैं जिनसे उनकी समझ काफी पुष्ट होती है।

भारतीय समाजशास्त्रियों में ए० आर० देसाई, रामकृष्ण मुखर्जी तथा डी० एन० धनागरे कुछ ऐसे समाजशास्त्री हैं जिन्होंने इतिहास द्वारा जुटाये गये सामग्री का पूरा इस्तेमाल सामाजिक जीवन के वर्णन में किया है। उसी प्रकार भारतीय इतिहासकारों में रोमिला थापर, आर० एस० शर्मा, डी० डी० कोसांबी और विपिन चंद्रा जैसे कुछ इतिहासकार हैं जिन्होंने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से घटनाओं का विश्लेषण करते हुए कुछ समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को अपने विश्लेषण में काफी हद तक इस्तेमाल किया है। अगर इ० एच० कार के कथन को माना जाये कि इतिहास में इतिहासकार का निरंतर संवाद वर्तमान से बना रहता है तो निःसंदेह इतिहास और समाजशास्त्र का संबंध एक दूसरे से काफी घनिष्ठ है। ये दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं।

समाजशास्त्र तथा राजनीति विज्ञान

राजनीति विज्ञान से समाजशास्त्र का संबंध काफी गहरा है परन्तु इन दोनों विषयों के बीच पिछले 50 वर्ष में अंतर काफी बढ़ा है। व्यवहारवादी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर वी०ओ० की, रोबर्ट डाल तथा गैब्रियल आन्यमोंड ने जो अध्ययन किये हैं इसके कारण पिछले कुछ वर्षों में राजनीति शास्त्र का उदय एक विशेष विषय के रूप में हुआ है जिसके कारण इस विज्ञान को एक अलग पहचान व्यवसायिक स्तर पर मिली है। व्यवहारवादी दृष्टिकोण के कारण राजनीति विज्ञान ने अपने विषय-क्षेत्र के अध्ययन में एक नया दृष्टिकोण अपनाया है जो सामाजिक घटनाओं के अध्ययन से जुड़े समाजशास्त्र से बिलकुल अलग है। सत्ता के औपचारिक पहलुओं के अध्ययन में भी राजनीति विज्ञान तथा समाजशास्त्र के दृष्टिकोण व विचार एक दूसरे से भिन्न हैं। राजनीतिक सिद्धान्तों में राजनीतिक विचार और समस्या को लेकर जिन मुद्दों को राजनीति शास्त्र में उठाया गया है वह भी समाजशास्त्रिय पक्ष से काफी भिन्न है। इस प्रकार राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र विषय के बीच अंतर बताया जाता है। यद्यपि जिन दार्शनिक संदर्भ को ध्यान में रखकर सरकार तथा सत्ता का विश्लेषण किया जाता है उस प्रकार के विश्लेषण समाजशास्त्र में भी किये गये हैं परन्तु दुर्भाग्यवश उसका प्रचलन एक प्रचलित विचार के रूप में समाजशास्त्र में नहीं हुआ है। परंपरागत तरीके से देखा जाये तो राजनीति विज्ञान में तीन प्रमुख विचार बिन्दु रहे हैं:

1. विवरणात्मक यहाँ पर स्थानीय सरकार तथा औपचारिक संगठन के ऐतिहासिक भूमिका तथा उसके संगठन के व्यवहार का वर्णन किया गया है।
2. व्यवहारात्मक: इस दृष्टिकोण से राजनीतिक विज्ञान में औपचारिक संगठनों के मौजूदा समस्याओं पर गंभीरता से विचार किया गया है।
3. दार्शनिक - इस दृष्टिकोण से राजनीतिशास्त्र में राजनीतिक सिद्धान्तों के दार्शनिक आधार को ध्यान में रखकर आज भी राज्य का विश्लेषण किया जाता है।

राजनीतिशास्त्र की सबसे बड़ी विडम्बना रही है कि इन तीन विचार बिन्दुओं को ध्यान में रखकर सामन्वीकरण का प्रयास कम हुआ है इसलिए राजनीतिक शासकों के शासनकाल के औपचारिक गुणों का वर्णन तो हुआ है परन्तु उसके अलावा सामान्वीकरण का प्रयास कम रहा है।

इन दोनों विषयों के विषय क्षेत्र के उपर्युक्त बताये गये अंतर के बावजूद भी समाजशास्त्र का प्रभाव राजनीति विज्ञान के अध्ययन में काफी गहरा रहा है। राजनीतिक व्यवहार को सामाजिक व्यवस्था की हमेशा चर्चा की जाती है तो वृहत स्तर पर इसका उल्लेख सामाजिक व्यवस्था से जोड़कर ही किया जाता है। इस प्रचलन को बनाने में कार्ल मार्क्स द्वारा राजनीतिक संस्थाओं का विश्लेषण बहुत ही प्रभावशाली माना जाता है क्योंकि उन्होंने राजनीतिक संस्थाओं का संबंध अर्थशास्त्र तथा सामाजिक संदर्भ से जोड़कर किया था। मार्क्स के इस दृष्टिकोण से ही प्रभावित होकर इस प्रकार के राजनीतिक अध्ययन की परंपरा राजनीतिक समाजशास्त्रियों द्वारा भी की गयी। इस कड़ी में मिचेल्स, मैक्स वेबर और पैरेटों ने अपने अध्ययन क्षेत्र में राजनीतिक दल, अभिजात वर्ग, मतदाता के व्यवहार, नौकरशाही तथा राजनीतिक विचारधारा का अध्ययन किया। इन सभी के अध्ययन में समाजशास्त्रीय प्रभाव देखा जा सकता है।

वर्तमान समय में भी राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में समाजशास्त्रीय प्रभाव को देखा जा सकता है। राजनीतिक विश्लेषण की योजनाओं तथा फ्रेमवर्क में प्रकार्यवादी सिद्धान्तों का प्रयोग जी.एस. एकमांड तथा जे.एस. कोलमैन के अध्ययन में हुआ है। डेविड इस्टन ने भी व्यवस्था के विश्लेषण इस प्रकार्यवादी सिद्धान्त को ध्यान में रखकर ही राजनीतिशास्त्र में अध्ययन किया है। राजनीति विज्ञान में मार्क्सवादी विचारों को आधार बनाकर विकासशील देशों में चल रहे आंदोलन और क्रांति का भी अध्ययन किया गया है। आने वाले दिनों में भी पर्यावरण संरक्षण तथा सभ्य समाज को स्थापित रखने की जो बातें हो रही हैं उन सभी में राज्य और समाज को केन्द्र बिन्दु बनाकर कई भारतीय राजनीतिज्ञों जिसमें रजनी कोठारी, सी.पी. भामरी, पार्था चटर्जी, सुदिप्तो कविराज, इम्तियाज अहमद और अतुल कोहली के नाम विशेष रूप से लिये जा सकते हैं- इन सभी लोगों ने समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को अपने राजनीतिक विश्लेषण का हिस्सा बनाया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि राजनीतिक विज्ञान तथा समाजशास्त्र के बीच के संबंध काफी गहरे हैं।

समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र

जहाँ तक समाजशास्त्र का संबंध अर्थशास्त्र के साथ है इन दोनों विषयों को अलग माना जाता है क्योंकि जिस प्रकार का अध्ययन विषय को लेकर अर्थशास्त्र में अध्ययन किये जाते हैं उन सभी का विश्लेषण समाजशास्त्र में नहीं होता। अर्थशास्त्र में वस्तु के उत्पादन तथा उसके वितरण, उपभोग की प्रक्रिया का विस्तार से अध्ययन किया जाता है। उत्पादन, वितरण एवं उपभोग को आधार बनाकर जो अर्थशास्त्र में अध्ययन हुए हैं उनका अपना एक अलग सिद्धान्त है जो ब्रिटेन के कुछ उल्लेखनीय अर्थशास्त्रियों ने किया है। इन विद्वानों में एकफर्ड मार्शल, एडम स्मीथ, कोर्सटीन वेबलेन आदि ने अर्थशास्त्र में जो सैद्धांतिक विश्लेषण प्रस्तुत किये हैं वह समाजशास्त्र के अध्ययन स्रोत से बिल्कुल ही भिन्न है। जिन तथ्यों को अर्थशास्त्रियों ने महत्वपूर्ण माना है उनमें मूल्य तथा आपूर्ति, मुद्रा की स्थिति व प्रकृति, निवेश और उत्पादन जैसे तथ्यों से जुड़े अवधारणा को विकसित कर इन वस्तुओं के उत्पादन के साथ संबंध को जानने का प्रयास किया जाता है। फलस्वरूप जो अवधारणाएं अर्थशास्त्र में विकसित हुए हैं वो एक हद तक प्रावधिक (Technical) हैं। इस प्रकार से उन अवधारणाओं व तथ्यों की परिभाषा भी संक्षिप्त है जिसका विश्लेषण वैज्ञानिक तरीके से अर्थशास्त्री करते हैं। एक विशेषज्ञ के रूप में भी अर्थशास्त्रियों को अपने विषय से संबंधित अध्ययन करने पड़ते हैं जो उनके सिद्धान्त से जुड़े होते हैं। इस रूप में समाजशास्त्र में तथ्यों तथा अवधारणाओं का तकनीकी स्तर पर वह प्रतिष्ठा नहीं मिलती है जो अर्थशास्त्र ने अपने लिए हासिल कर लिया है।

आधुनिक समय में अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से किए गए अध्ययन में काफी कुछ कमी है जिसे शोध ही दूर किया जा सकता है अगर दूसरे विषयों के अध्ययन प्रणाली को अर्थशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र तथा प्रणाली से जोड़ दिया जाये। और इसलिए वर्तमान समय में आर्थिक क्रियाओं के अध्ययन में उसके संस्थात्मक संदर्भ को भी ध्यान में रखकर अध्ययन की बात सोची गयी। संस्थात्मक संदर्भ की चर्चा करते हुए यह भी सोचा गया कि आर्थिक विकास की समस्या का अध्ययन अर्थ विज्ञान के सिद्धान्तों को समाजशास्त्र के सिद्धान्तों के साथ जोड़कर किया जाना ज्यादा हितकर होगा। कुछ अर्थशास्त्रियों ने समाजशास्त्रिय पद्धति को ही अपनाकर आर्थिक विषयों का अध्ययन किया है। इस नई अध्ययनविधि के इस्तेमाल से कारखानों तथा उद्योगपतियों के व्यवहार का अध्ययन समाजशास्त्रिय संदर्भ को ध्यान में रखकर भी किया गया है। पिटर एफ. ब्लाउ तथा टैलकाट पार्सन्स ने इस प्रकार आर्थिक समस्याओं तथा संगठन का समाजशास्त्रिय तरीके व नजरीये से अध्ययन कर यह सिद्ध कर दिया कि कुछ अर्थशास्त्र के माडल का अध्ययन समाजशास्त्र में भी किया जा सकता है।

समाजशास्त्रियों ने अर्थविज्ञान के सिद्धान्तों के सीमाओं को ध्यान में रखकर आर्थिक घटनाओं का समाजशास्त्रिय पद्धति से अध्ययन किया है। टी.वी. बाटमोर तो यह मानते हैं कि अर्थशास्त्रियों ने स्वयं यह महसूस किया कि पूर्ण रूप से सदैव अर्थशास्त्र के नजरीये से किया गया अध्ययन ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं होता है और उस जड़ता को दूर करने के लिए वे अर्थशास्त्र में विकसित माडल का कोई वैकल्पिक तरीका भी होना चाहिए। उस वैकल्पिक तरीके के रूप में समाजशास्त्रिय पहलुओं को ध्यान में रखकर आर्थिक व्यवहार का अध्ययन भी किया गया है। इस प्रक्रिया में अर्थशास्त्र का समाजशास्त्र से नजदीक आना स्वाभाविक है। कुछ समाजशास्त्रिय जिसमें ए. लोवे (A. Lowe) ने पूर्ण रूप से अर्थविज्ञान के सीमाओं का वर्णन करते हुए बताया कि समाजशास्त्रिय सिद्धान्तों के द्वारा बाजार को नियंत्रित होते हुए देखा जा सकता है - पहला आर्थिक दृष्टि से मनुष्य का व्यवहार और उत्पादन के साधनों को लेकर प्रतिस्पर्धा। अगर इन दो पहलुओं को ध्यान में रखा जाये तो निश्चय ही अर्थविज्ञान और समाजशास्त्र के बीच करीबी रिश्ता कायम हो सकता है। एफ. सीमीएंड का यह मत है कि पहला अर्थशास्त्र का सिद्धान्त उपकल्पना जिसके परीक्षण के लिए समाजशास्त्र के सहयोग की जरूरत है। मैक्स वेबर ने भी सामान्य समाजशास्त्र व

दृष्टिकोण के अंतर्गत अर्थशास्त्र के सिद्धान्त का मूल्यांकन किया है। प्रमुख समाजशास्त्री टालकाट पार्सनस तथा स्मेलसर ने अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र और समाज में अर्थशास्त्र के सिद्धान्त को समाजशास्त्रिय सिद्धान्त का एक अभिन्न अंग बताया है। वेबलेन ने भी अपने व्यापारिक वर्ग से संबंधित सिद्धान्त में समाजशास्त्रिय अध्ययन को उपयोगी बताया है।

इसके अतिरिक्त कई समाजशास्त्रिय अध्ययन में आर्थिक व्यवस्था के तथ्यों को आधार बनाकर विश्लेषण करने की कोशिश हुयी है। कई पहलुओं को जिसे अर्थशास्त्री प्रमुख नहीं मानते उसे समाजशास्त्रियों ने आधार बनाकर मनुष्य के आर्थिक व्यवहार का सफलतापूर्वक अध्ययन किया है। इस दृष्टिकोण से कार्ल्स मार्क्स के प्रति आर्थिक क्षेत्र में प्रतिपादित सिद्धान्तों में समाजशास्त्रिय सोच की प्रधानता को देखा जा सकता है। जे. शुपीटर, जे.के. गालब्रेथ तथा रेमंड एरोन सभी ने पूंजीवादी व्यवस्था के वर्णन में समाजशास्त्रिय सोच को प्रधानता ही है। आदिम जाति की अर्थव्यवस्था का अध्ययन रेमंड फर्थ, एम. जे. हर्सकोभिट, मार्शल मास तथा आर. थर्नवालड ने भी किया है। इन सभी अर्थशास्त्रियों ने अपने अध्ययन में समाजशास्त्रिय परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर अध्ययन किया है। वास्तव में समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के नजदीकी रिश्ते के कारण आर्थिक समाजशास्त्र तथा आर्थिक मानवशास्त्र जैसे उपविषय - भी ज्यादा लोकप्रिय हुए हैं। आधुनिक समय के अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक विकास के क्षेत्र विशेषकर बाजार के विस्तार में सामाजिक तथ्यों की भूमिका को स्वीकारा है। कुछ समाजशास्त्रियों के अध्ययन में परंपरागत बाजार का अध्ययन सामाजिक पहलुओं को ध्यान में रखकर किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अर्थशास्त्रियों ने समाजशास्त्रियों सिद्धान्तों को आर्थिक क्रियाओं के अध्ययन में काफी महत्वपूर्ण पाया है और उसी प्रकार समाजशास्त्रियों ने सामाजिक क्रियाओं के विश्लेषण में अर्थशास्त्रिय विचारों को समाजशास्त्रिय क्रियाओं के विश्लेषण में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। इसलिए अर्थशास्त्रिय अध्ययन में वितरण, उत्पादन, विनिमय तथा बाजार के अध्ययन में सामाजिक तथ्यों को महत्वपूर्ण आधार बनाकर विश्लेषण किया जाता है। भारतीय संदर्भ में भी आर्थिक विकास के सूचकांक के लिए सामाजिक तथ्य जैसे महिलाओं में शिक्षा का स्तर, लिंग अनुपात, तथा सामाजिक परिवेश से जुड़े पहलुओं को मानव सूचकांक के विकास (Human Development Index) को महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान

जहाँ तक समाजशास्त्र के मनोविज्ञान से संबंध का प्रश्न है इन दोनों के बीच के अंतर को आधुनिक युग में भी सुलझाया नहीं जा सकता है। सर्वप्रथम ड. दुर्खिम ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का खंडन करते हुए मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को समाजशास्त्रिय अध्ययन में बिल्कुल अप्रसांगिक करार किया था। अपने पुस्तक *सुसाईड* में उन्होंने आत्महत्या के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का खंडन करते हुए यह राय प्रकट की कि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मनुष्य को केन्द्र बिन्दु बनाकर उसके व्यवहार के आधार पर ही आत्महत्या का वर्णन करते हैं जबकि इसके विपरीत दुर्खिम का यह मानना था कि आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है। इसलिए इसका विश्लेषण सामाजिक संदर्भ में सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर किया जाना ज्यादा प्रासंगिक है। इसलिए उन्होंने आत्महत्या के समाजशास्त्रिय अध्ययन में मनोवैज्ञानिक विचारों का खंडन करते हुए मनुष्य की सामाजिक पृष्ठभूमि को आत्महत्या के लिए जिम्मेदार बताया। अपने आत्महत्या के अध्ययन में उन्होंने बताया कि जो प्रोस्टेंट धर्म के माननेवाले हैं वे समाज से अपने आप को ज्यादा स्वतंत्र मानते हैं और इस प्रकार के लोगों में आत्महत्या करने की संभावना ज्यादा होती है। इसके विपरीत कैथोलिक धर्म को मानने वाले इसाई समाज से जुड़ा पाते हैं इसलिए उनमें आत्महत्या करने की संभावना कम पायी जाती है। विवाहित व्यक्ति की तुलना में अविवाहित व्यक्ति में आत्महत्या करने की संभावना ज्यादा देखी जाती है। सामाजिक परिस्थितियों को ही मुख्य आधार बनाकर समाजशास्त्र में अध्ययन करते हुए दुर्खिम ने मनोवैज्ञानिक अध्ययन को अपर्याप्त बताया।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मनोविज्ञान का अध्ययन क्षेत्र समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र से बिल्कुल ही अलग है। मनोविज्ञान मुख्यरूप से व्यक्ति के मानसिक रुझान तथा उसकी प्रकृति को ज्यादा महत्व देता है। यद्यपि अब कुछ मनोवैज्ञानिक इस बात को स्वीकार करते हैं कि मनुष्य का व्यवहार सामाजिक परिस्थितियों से संचालित होता है परन्तु फिर भी सामाजिक तथा सांस्कृतिक संदर्भ को ध्यान में रखकर जो अध्ययन हुए है वह मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से अलग बताये जाते हैं।

जे. एस. मिल का यह मानना था कि सामान्य रूप से सामाजिक विज्ञान को औपचारिक रूप से तभी स्थापित किया जा सकता है जब इसके नियमों के आगमन तर्कशास्त्र के नियमों पर आधारित किया गया हो और अगर ऐसा नहीं होता है तो उसे सैद्धान्तिक रूप से अवधारणा के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से अगर मनोविज्ञान के स्थिति पर

विचार किया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मनोवैज्ञानिक ढंग से किये गये अध्ययन की विश्वसनीयता इस बात पर निर्भर करेगी कि उसके अवधारणा को तार्किक रूप से आगमनविधि के द्वारा मस्तिष्क को प्रभावित करने वाले नियमों से जोड़ कर देखा जाये।

मिल और दुर्खिम के विचार दो परस्पर दृष्टिकोण को उजागर करते हैं, कुछ समाजशास्त्रियों ने मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के बीच के अंतर को समझते हुए एक मध्य रास्ता चुना है। उदाहरण के लिए मॉरिस जिंसबर्ग का मानना है कि अधिकांश समाजशास्त्रिय सामान्वीकरण को मनोवैज्ञानिक नियमों से जोड़कर स्थापित किया जा सकता है और इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को समाजशास्त्रिय नियमों से जोड़कर स्थापित किये जाने की संभावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता है। एस एफ नाडेल का भी मानना था कि कुछ सामाजिक समस्याओं को मनोवैज्ञानिक तथ्यों से जोड़कर बेहतर समझा जा सकता है। वेबर ने भी सामाजिक क्रियाओं को समझने के लिए तदनुभूति (empathy) को आधार बनाकर विश्लेषण करने की पेशकश की है। तदनुभूति को आधार बनाकर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के स्थिति का अनुमान दूसरे व्यक्ति के भूमिका को मानसिक रूप से अपनाकर समझने की कोशिश करता है।

फ्रायड के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में कुछ मानवीय आवेगों को जो हमारे अंदर होते हैं को आधार बनाकर मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन किया है। उन्होंने इन आवेगों को तीन स्तर अर्थात् इड, इगो तथा सुपर इगो के रूप में वर्णित किया है। इड मनुष्य को प्रेरित करता है जो सब कुछ करने को जो वह चाहता है। अपने आकांक्षाओं और जो उसका मन स्वतंत्र रूप से करना चाहता है उसका द्योतक है इड। जबकि इगो उस स्वतंत्र निरंकुश इच्छाओं पर मनुष्य समाज के प्रतिमानों के संदर्भ में उस पर अंकुश लगाकर अपने व्यवहार को नियंत्रित करता है। सुपर इगो मनुष्य के आदर्श व्यवहार का परिचायक है जिसके द्वारा वह आदर्श व्यक्ति के रूप में समाज में ऐसा व्यवहार करना चाहता है जिसके कारण समाज उसे श्रेष्ठ व्यक्तियों के श्रेणी में रखकर उसका सम्मान कर सके। उदाहरण के लिए महात्मा गाँधी का विश्वास सत्य और अहिंसा के उपर आदर्श व्यवहार का प्रतीक था। फायड के समर्थकों विशेषकर उत्तर फायड के समर्थकों में एरिक फ्राम का नाम विशेष रूप से लिया जाता है जिन्होंने सामाजिक चरित्र के द्वारा व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक विशेषताओं को जोड़कर उसे एक खास समूह के लक्षण से जोड़कर देखने का नजरिया अपनाते हैं।

मनोविज्ञान के शाखा के रूप में सामाजिक मनोविज्ञान को देखा जाता है जिसमें मनोवैज्ञानिक तथ्यों का अध्ययन सामाजिक संदर्भ में किया जाता है। सामाजिक मनोविज्ञान के मनोवैज्ञानिक तथ्यों को सामाजिक संदर्भ में अध्ययन किये जाने के बावजूद भी सामाजिक मनोविज्ञान को सामान्य मनोविज्ञान के ही शाखा के रूप में देखा जाता है और इसके समाजशास्त्र से संबंध की बात को ज्यादा महत्व नहीं दिया जाता है। इस रूप में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक मनोविज्ञान के समाजशास्त्र के संबंध होने की संभावना सतही तौर पर ही दिखती है। इसके बावजूद भी गर्थ और मिल्स का यह मानना है कि सामाजिक मनोवैज्ञानिक पुरुष और स्त्री के व्यवहारों को विभिन्न समाज के प्रकार के संदर्भ में देखते हैं। उनका कहना था कि विभिन्न समाज के लोगों का व्यवहार भी उस व्यक्ति के समाज द्वारा निर्धारित होता है। गर्थ तथा मिल्स जानना चाहते थे कि किस प्रकार व्यक्ति के बाहरी क्रियाकलाप तथा आंतरिक व्यवहार समाज में पाये जाने आपसी संबंधों से प्रभावित होते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार सामाजिक मनोविज्ञान का प्रमुख आधार व्यक्ति विशेष के गुणों के साथ-साथ सामाजिक संरचना से भी जुड़ा होता है। भूमिका के अवधारणा में इस प्रकार का विश्लेषण किया गया है।

परन्तु इसके बावजूद भी रैडक्लिफ ब्राउन का भी यह मत था कि समाजशास्त्र और मनोविज्ञान दो परस्पर विरोधी सामाजिक तथ्यों के अध्ययन से जुड़े होते हैं। इस प्रकार इन दोनों विषय के अध्ययन क्षेत्र सामाजिक व्यवस्था से जुड़े होते हैं। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि ये दोनों विषय अपने-अपने ढंग से अपनी समस्याओं का अलग तरीके से अध्ययन करते हैं।

निष्कर्ष

इस पाठ के प्रस्तावना में ही समाजशास्त्र विषय का परिचय देते हुए यह बताया गया है कि कैसे समाजशास्त्र में मानव समाज के संबंधों का व्यापक रूप से अध्ययन किया जाता है और इसके लिए समाजशास्त्र के शुरुआती दौर में इस विषय कि शुरुआत सबसे पहले यूरोप के देशों में हुआ जहाँ यूरोप व पश्चिमी देश के समाजशास्त्रियों ने इसका अध्ययन किया। समाजशास्त्र क पिता कहे जाने वाले समाजशास्त्री अगस्त कान्ट फ्रांस के समाजशास्त्री थे जिन्होंने समाजशास्त्र शब्द को लोकप्रिय बनाया। इसी क्रम में दूसरे कई देशों में उन्नीसवीं सदी के अंत तक समाजशास्त्र के सैद्धांतिक पक्ष के अध्ययन पर भी बल दिया गया।

अन्य विषयों की तरह समाजशास्त्र को भी विज्ञान कहा जाता है जिसमें विज्ञान के प्रयोग अर्थात् प्रयोगाश्रित गुण, सैद्धांतिक आधार, समुच्चबोधक प्रकृति तथा नैतिक दृष्टिकोण से तटस्थ रहकर सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। इसलिए समाजशास्त्रियों ने जिन सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन किया है उनमें समाजशास्त्र के प्रकृति का वर्णन किया गया है। इसके अध्ययन विधि को यद्यपि वैज्ञानिक बताया गया है परन्तु किस हद तक यह विषय तथा इसमें व्यक्त किये गए विचार वैज्ञानिक कसौटी पर खड़े उतरते हैं यह निर्भर करता है शोधकर्ता के दृष्टिकोण तथा अध्ययन विषय के सीमित दायरे के उपर।

बदलते सामाजिक परिवेश में समाजशास्त्र विषय का अध्ययन क्षेत्र काफी व्यापक हो गया है और इसीलिए इसके संबंध दूसरे विषयों के तुलना में अलग होते हुए भी काफी नजदीक है। समाजशास्त्र में जो नीहित सिद्धान्त विकसित किये गये हैं उन्हें अन्य विषयों के साथ जोड़कर देखने का एक प्राकृतिक आधार होता है। आज के आधुनिक संदर्भ में दूसरे विषय के विद्वान भी सैद्धांतिक स्तर पर यह मानते हैं कि समाजशास्त्र अपने आप सीधा संपर्क दूसरे विषय के साथ अपना लेता है क्योंकि यह समाज के सभी पक्षों का व्यापक अध्ययन करता है। इसी व्यापक अध्ययन किये जाने के फलस्वरूप तकनीकी तथा सैद्धांतिक दोनों स्तरों पर समाजशास्त्र सभी सामाजिक क्रियाओं का विभिन्न नजरियों से विश्लेषण प्रस्तुत करता है जो कि इस विषय को दूसरे विषय के काफी करीब ले आता है। परन्तु यह दूसरे विषय के साथ संपर्क साधने के बावजूद भी अपने तरीके और अध्ययन विधि के दृष्टिकोण से दूसरे विषयों से अलग है जिसके कारण प्रत्येक विषय समाजशास्त्रियों द्वारा एकत्र किए आंकड़ों को काफी लाभदायक मानते हैं। इस प्रकार समाजशास्त्र का विकास पिछले कुछ वर्षों में अत्यावस्यिक विषय के रूप में हुआ है और इसकी एक नयी पहचान भी बनी है।

समाजशास्त्र के विभिन्न उपागम

अन्य विषयों की तरह समाजशास्त्र को भी एक मानवीय व्यवहार के अध्ययन का विषय बताया जाता है। समाजशास्त्र का उदय ऐसे समय हुआ जब फ्रांस की क्रांति के पहले सामाजिक उथल-पुथल की स्थिति बनी हुई थी। सामाजिक अव्यवस्था को नियंत्रित करने की जिम्मेवारी सभी सामाजिक वैज्ञानिकों ने एक चुनौती समझा। परंपरागत सोच तथा सामंतवादी मूल्यों का वर्चस्व जिस प्रकार सोलहवें तथा सत्रहवें शताब्दी तक बना हुआ था उसमें विज्ञान तथा तकनीकी के प्रभाव से अचानक ही एक मोड़ आया। इस युग परिवर्तन की प्रक्रिया को प्रभावित करने में दो महत्वपूर्ण सामाजिक प्रक्रियाओं की भूमिका को सभी समाजशास्त्रियों ने स्वीकार किया है। यह महत्वपूर्ण सामाजिक घटनाएं थीं, (क) प्रजातान्त्रिक क्रांति तथा (ख) औद्योगिक क्रांति। प्रजातान्त्रिक सोच की शुरुआत लगभग सभी जगह उपनेविशवादी ताकतों के खिलाफ संगठित प्रयास के कारण शुरू हुई। 1789 में वह फ्रांस की क्रांति ने निम्न तीन उदारवादी विचारधारा को जन्म दिया:

1. आजादी (Freedom)
2. समानता (Equality)
3. भ्रातृत्व (Fraternity)

इन तीन उदारवादी विचारों ने एक विचारधारा का रूप लेकर समाज में सामाजिक परिवर्तन लाने वाली ताकतों को एक वैचारिक आधार दिया। इसी प्रकार विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में यह क्रांतिकारी परिवर्तन का परिणाम था प्रजातान्त्रिक क्रांति, जिसके फलस्वरूप आज जिसे तीसरी दुनिया या जिसे अविकसित समाज कहा जाता है, वहां पर मौलिक परिवर्तन आया। इन दो मुख्य घटनाओं ने सभी जगह समाज के स्वरूप को बदला। समाजशास्त्र के उपागम तथा सिद्धांतिक विचारों को भी उन्नीसवीं सदी के शुरुआती दौर में इन दोनों घटनाओं ने बहुत हद तक प्रभावित किया।

1. प्रत्यक्षवाद: अगस्त कोम्ट (तीन स्तरीय नियम)

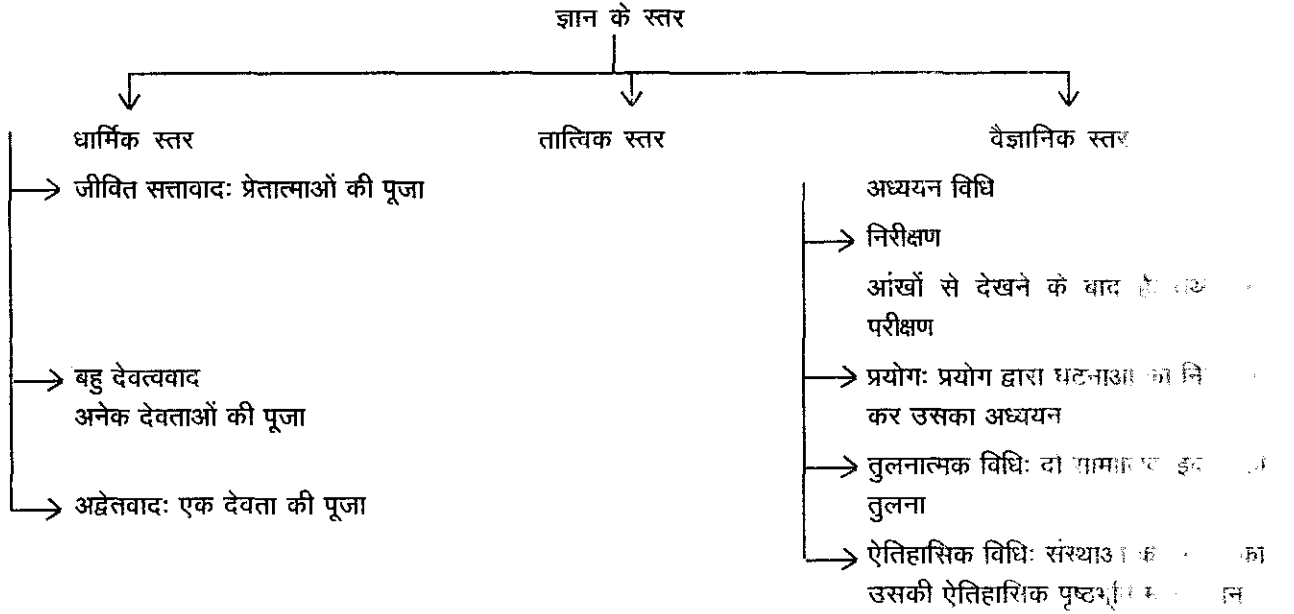
फ्रांस के प्रमुख समाजशास्त्री अगस्त कोम्ट (1798-1857) का कहना था कि समाजशास्त्र सामाजिक प्रक्रियाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करता है, उन्होंने यह महसूस किया कि जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान में वैज्ञानिक प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है, उसी प्रकार समाजशास्त्र में भी वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा सामाजिक घटनाओं का अध्ययन किया जा सकता है। उन्होंने 1830-1842 के बीच एक महत्वपूर्ण पुस्तक 'पोजिटिव पॉलिसी' के नाम से लिखी, इस पुस्तक में उन्होंने सर्वप्रथम 'सोसिओलाजी' (Sociology) शब्द का प्रयोग किया। समाजशास्त्र की परिभाषा देते हुए उसे सामाजिक क्रियाओं के अध्ययन का एक अमूर्त सैद्धांतिक विज्ञान कहा है। अपने महत्वपूर्ण पुस्तक 'पोजिटिव फिलोसफी' में उन्होंने मानव ज्ञान के तीन स्तरों का वर्णन किया है जो निम्न हैं:

समाजशास्त्र : एक परिचय

1. धार्मिक स्तर (Theological Stage)
2. तात्त्विक स्तर (Metaphysical Stage)
3. वैज्ञानिक स्तर (Positive Stage)

इन तीन स्तरों पर उन्होंने ज्ञान के आधार का विश्लेषण किया है, इसलिए इसे प्रगति का निधम या ज्ञान के विकास का नियम कहते हैं। कोम्ट के द्वारा प्रतिपादित मानवीय विकास के इन तीन सैद्धांतिक विचारों को ही कोम्ट के तीन स्तर के रूप में भी जाना जाता है।

निम्न चार्ट के द्वारा इसे समझना आसान होगा:



1. धार्मिक स्तर: इस स्तर पर मनुष्य का यह सोचना था की समस्त चीजें आलौकिक शक्ति द्वारा प्रभावित होती हैं। इन आलौकिक शक्तियों के कारण ही घटनाएं घटित होती हैं। पेड़, पौधे, जल, पवन, चर-अचर, यह सब एक ही आलौकिक शक्ति द्वारा संचालित होते हैं। हमारे भौतिक जीवन में जो घटनाएं घटित होती हैं, उन घटनाओं को घटित करने में इस आलौकिक शक्ति का हाथ होता है। उन्होंने उसके तीन उपस्तर बताये हैं, जो निम्न हैं
 - क. जीवित सत्तावाद (Fetishism)
 - ख. बहु-देवत्ववाद (Polytheism)
 - ग. अद्वैतवाद (Monotheism)

क. जीवित सत्तावाद : यह वह अवस्था है जब मनुष्य का विश्वास प्रेतात्माओं पर टिका होता है, उनका पूजा करता है। भय को दूर करने के लिए पूजा उपासना द्वारा उन्हें शांत करना चाहता है।

ख. बहु-देवत्ववाद : यह वह अवस्था है जिसमें जादू-टोना से ऊपर उठकर मानव समाज सगातेल रूप में देवी-देवता की अराधना शुरू करते हैं अर्थात् दैव्य शक्ति में विश्वास बढ़ता है। अनेकों देवताओं की पूजा शुरू करता है।

ग. अद्वैतवाद : यह वह अद्वैतवाद की अवस्था है जब एक देवी-देवता से हटकर, मनुष्य का विश्वास एक ही देवी-देवताओं के बजाय एक पर हो जाता है। जैसे-जैसे मनुष्य का ज्ञान स्तर बढ़ता है वैसे-वैसे मनुष्य का विश्वास स्तर भी बढ़ता है और प्रत्येक घटना के लिए जिम्मेवार एक देवता की उपासना करना शुरू करता है।
2. तात्त्विक स्तर: कॉम्ट के अनुसार दूसरी अवस्था है तात्त्विक सोच की। इस स्थिति में व्यक्ति एक अदृश्य तथा निष्कार शक्ति के अस्तित्व को महसूस करता है। इस अवस्था का विकास चौदहवीं सदी में माना जाता है। यह अवस्था अस्थायी अवस्था थी, जिसका काल सीमित था, इस अवस्था में राज्य जैसी सामाजिक इकाई का उदय हुआ।

3. वैज्ञानिक स्तर: तीसरी अवस्था ज्ञान की वह अवस्था है जो बीसवीं सदी के आरम्भ के दशकों में शुरू हुई। इस स्तर पर वैज्ञानिक सोच पर आधारित ज्ञान को महत्व दिया गया। निरीक्षण पर आधारित सोच के कारण मनुष्य की सोच को वैज्ञानिक तथा प्रत्यक्षात्मक आधार मिला। किसी भी घटना के पीछे एक वैज्ञानिक सिद्धान्त छिपा होता है, और उस वैज्ञानिक सिद्धान्त को समझने की कोशिश में समाजशास्त्री विज्ञान के निम्न चार विधि का मुख्य रूप से पालन करते हैं:

- क. निरीक्षण (Observation)
- ख. प्रयोगात्मक (Experiment)
- ग. तुलनात्मक (Comparison)
- घ. ऐतिहासिक (Historical)

इस प्रकार अगस्त कोम्ट ने प्रत्यक्षवाद के सिद्धान्त की स्थापना में ज्ञान के तीन स्तरों का विवेचन प्रस्तुत किया। कोम्ट ने समाजशास्त्र को एक वैज्ञानिक विषय की संज्ञा देते हुए यह बताया कि समाजशास्त्र के अध्ययन का आधार वैज्ञानिक होता है। अपने वैज्ञानिक अध्ययन के लिए समाजशास्त्र में समाज के स्थाई तथा गतिशील, दोनों क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। उन्होंने यह महसूस किया कि समाजशास्त्र केवल स्थाई अवस्था का ही अध्ययन नहीं करता, बल्कि गतिशील क्रियाओं का भी अध्ययन करता है। इस प्रकार उनका यह मानना था कि सामाजिक घटनाएँ निरंतर घटने वाली प्रक्रियाएँ हैं, जिनमें सदैव परिवर्तन होता रहता है। इसलिए प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाना है, तो उन गतिशील प्रक्रियाओं के समाजशास्त्र में वैज्ञानिक सोच की नितान्त आवश्यकता है। समाजशास्त्र में वैज्ञानिक सोच के आधार पर ही अध्ययन किया जाना चाहिए और उन्होंने यह महसूस किया कि इस प्रकार के अध्ययन करने के लिए प्रकृति विज्ञान के अध्ययन विधि का प्रयोग समाजशास्त्र में किया जाना आवश्यक है। इसलिए अगस्त कोम्ट के तीन स्तरीय सिद्धान्त को प्रत्यक्षवादी अथवा वैज्ञानिक सोच करने का पहला समाजशास्त्री माना जाता है। उनके इस विचार को ध्यान में रखकर समाजशास्त्र में वैज्ञानिक विधि के द्वारा कई समाजशास्त्रीय अध्ययन हुए हैं।

2. प्रकार्यवाद-इ दुर्खिम (सामाजिक तथ्य)

समाजशास्त्र में प्रत्यक्षवाद के साथ ही साथ प्रकार्यवादी सोच का एक विशेष स्थान रहा है। प्रकार्यवादी सोच को विकसित करने वाले समाजशास्त्रियों में जिन दो विचारों को महत्वपूर्ण माना जाता है उसमें दुर्खिम (1858-1917) तथा टालकाट पार्सन्स (1902-1979) प्रमुख रहे हैं। अमेरिकी समाजशास्त्र में प्रकार्यवादी सिद्धान्त का एक खास स्थान रहा है। प्रकार्यवादी सिद्धान्त के समर्थक यह मानते हैं कि समाज की क्रियाएँ व्यवस्थित तरीके से चलती हैं और इसलिए वह समाज को एक व्यवस्था के रूप में देखते हैं। सामाजिक व्यवस्था को व्यवस्थित रूप से चलाए रखने में विभिन्न तत्वों के बीच आत्मनिर्भरता पाई जाती है। समाज के इन विभिन्न तत्वों के बीच आत्मनिर्भरता पाई जाती है। समाज के यह विभिन्न तत्व एक सम्पूर्ण व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः समाज एक सम्पूर्ण व्यवस्था है जिसके व्यवस्थित स्वरूप बनाए रखने में विभिन्न समूहों तथा संस्थाओं का महत्वपूर्ण योगदान होता है। समाजशास्त्र में प्रकार्यवादी सिद्धान्त के जनक इमाइल दुर्खिम को माना जाता है जिन्होंने यह बताया था कि समाज में एकता बनाए रखने के लिए धर्म, नैतिक आधार प्रदान करता है। धर्म के आधार पर समाज के नैतिक मूल्य, समाज के एकाकी स्वरूप को पुष्ट करते हैं।

इमाइल दुर्खिम ने निम्न चार प्रमुख पुस्तक लिखी:

1. द डिविजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी (1893) - The Division of Labour in Society.
2. रूल्स ऑफ सोसिओलोजिकल मेथड (1895) - The Rules of Sociological Method
3. सुसाइड (1897) Suicide
4. द एलिमेन्टरी फार्मस ऑफ रिलिजियस लाईफ (1912) - Elementary Forms of the Religions Life

इन उपरलिखित पुस्तकों में दुर्खिम ने व्यवस्थित तरीके से अपने विचारों को प्रतिपादित किया है। दुर्खिम द्वारा प्रतिपादित सामाजिक तथ्य की अवधारणा उनकी पुस्तक 'रूल्स ऑफ सोसिओलोजिकल मेथडस' में विस्तार से की है। दुर्खिम के सामाजिक तथ्य का विचार हर्बर्ट स्पेन्सर द्वारा व्यक्तिवादी विचारों से बिल्कुल भिन्न है। उनका मत था कि जितनी भी सामाजिक

क्रियाएं हैं, उसका विश्लेषण सामाजिक संदर्भ के अधीन ही किया जाना चाहिए, अर्थात् सामाजिक क्रियाओं को समझने का आधार समाज है। इसलिए व्यक्ति या मनोविज्ञान को आधार मानकर जो समाजशास्त्री अध्ययन किए जाते हैं, उस सदा अवैज्ञानिक मानते हैं। समाजशास्त्र की परिभाषा देते हुए उन्होंने समाजशास्त्र को "सामाजिक तथ्यों का अध्ययन बताया है।" उनका यह कहना था कि जिस प्रकार सभी विषय अपने-अपने अध्ययन विषय का चयन करते हैं, उसी प्रकार समाजशास्त्रियों को भी सामाजिक तथ्य का अध्ययन विशेष रूप से करना पड़ता है। अब प्रश्न उठता है कि सामाजिक तथ्य क्या है? उन्होंने सामाजिक तथ्य का विश्लेषण विस्तार से किया है उनका कहना था कि सामाजिक तथ्य ही समाजशास्त्रीय अध्ययन का प्रमुख अध्ययन क्षेत्र है। सामाजिक तथ्य को एक ऐसा तथ्य मानते हैं, जो वस्तुनिष्ठ होता है, और इसका निरीक्षण हम सभी वस्तु के रूप में कर सकते हैं। इसलिए सामाजिक तथ्य को एक वस्तु, एक चीज, एक भौतिक पदार्थ के रूप में देखा है और जिस प्रकार एक भौतिक पदार्थ का अध्ययन भौतिकी विज्ञान में किया जाता है, उसी प्रकार का अध्ययन समाजशास्त्री सामाजिक तथ्य का अध्ययन करते हैं।

दुर्खिम के द्वारा सामाजिक तथ्यों का जो विश्लेषण किया गया है, उसके आधार पर 'सोशल फैक्ट्स' की निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है:

1. बाह्यपन (Externality)
2. आन्तरिक (Internality or Constraint)
3. सार्वभौमिक (Universality)
4. वस्तुनिष्ठ (Objective)

1. बाह्यपन: दुर्खिम ने 'सोशल फैक्ट्स' सामाजिक तत्व की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए यह बताया की सामाजिक तथ्य मनुष्य के बाहर रहता है मनुष्य के बाहर रहते हुए भी यह उसके विचारों को प्रभावित करता है। चूंकि सामाजिक तथ्य मनुष्य के बाहर रहता है इसलिए इसे समझना आसान हो जाता है।
2. आन्तरिक: यद्यपि सामाजिक तथ्य मनुष्य के बाहर रहता है परन्तु यह व्यक्ति को प्रभावित करता है। इसके प्रभाव तथा महत्व को सभी अपने अन्दर महसूस कर सकते हैं। उदाहरणस्वरूप समाज के जो अनुमोदन (Sanction) हैं, उसका मनुष्य के ऊपर उसके व्यवहार को नियंत्रित करने में एक प्रकार का दबाव होता है। जिसके कारण व्यक्ति अपने व्यवहार को नियंत्रित करता है।
3. सार्वभौमिकता: सामाजिक तथ्यों का स्वरूप सार्वभौमिक होता है, अर्थात् यह सभी व्यक्ति के चेतन अवस्था को समान रूप से प्रभावित करता है। इस रूप में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक तथ्य, समाज के सभी व्यक्तियों को प्रभावित करते हैं, इसलिए यह मनुष्य के सामूहिक जीवन में समान रूप से अपना प्रभाव बनाकर रहता है। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि जब हम धर्म की बात करते हैं तब यह स्वीकार करते हैं कि धार्मिक विश्वास तथा उसके अनुरूप उपासना करना सभी व्यक्ति के सामूहिक जीवन का एक अंग होता है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि तथ्यों के दो स्वरूप होते हैं - एक स्वरूप वह है जो व्यक्ति तक ही सीमित रहता है और दूसरा स्वरूप उसका सामाजिक स्वरूप है जो उसके कार्य करने की पद्धति, सोचने की पद्धति को व्यक्तिगत रूप से भी प्रभावित करता है। इसके साथ तथ्य का एक दूसरा सामाजिक स्वरूप भी होता है, जिसके कारण व्यक्ति के बजाय पूरा समाज उससे प्रभावित रहता है। जहाँ तक दुर्खिम द्वारा दिए गए सामाजिक तथ्य की अवधारणा का प्रश्न है, दुर्खिम ने सामाजिक तथ्य के सामाजिक स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने आत्महत्या के विवेचन में इस बात का विस्तार से वर्णन किया है कि आत्महत्या यद्यपि एक व्यक्ति के व्यक्तिगत सांच से जुड़ी होती है, परन्तु जब यह व्यक्तिगत सांच सामाजिक सोच का रूप ले लेती है, तब इसका एक सामूहिक स्वरूप भी हो जाता है जिसके कारण समाज भी प्रभावित होता है। इसलिए उन्होंने आत्महत्या को एक सामाजिक तथ्य के रूप में समाजशास्त्रीय अध्ययन किए जाने पर बल दिया।
4. वस्तुनिष्ठ: जब सामाजिक तथ्य को वस्तुनिष्ठ कहा जाता है तो इससे अभिप्राय यह होता है कि कैसे इस तथ्य का अध्ययन बिना किसी पूर्वाग्रह के किया जा सके। आत्महत्या के अध्ययन में उन्होंने यह पाया की आत्महत्या के बारे में पहले से ही कुछ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किए गए थे। उनकी यह मान्यता थी कि आत्महत्या का विश्लेषण न तो जैविकीय आधार पर किया जाना चाहिए और न ही मनोवैज्ञानिक आधार पर। उन्होंने इन दोनों सिद्धांतों का उल्लेख

करते हुए यह बताया कि आत्महत्या की वारदातों का एक सामाजशास्त्रीय अध्ययन किया जाना चाहिए, और इसलिए उन्होंने पूर्वनिर्धारित सौच की आलोचना करते हुए आत्महत्या का एक नए सौच के तहत सामाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत किया। उन्होंने पाया कि जब व्यक्ति सामाज के साथ अपने आपको अलग महसूस करने लगता है तब आत्महत्या करने की संभावना बढ़ जाती है। धर्म में आस्था रखने वाले व्यक्ति में आत्महत्या करने की संभावना अपेक्षाकृत कम होती है। इसी प्रकार उनका मानना था कि विवाहित व्यक्ति के बजाय, अविवाहित व्यक्ति में आत्महत्या करने की प्रवृत्ति ज्यादा पाई जाती है। इस प्रकार दुर्खिम ने आत्महत्या को एक सामाजिक तथ्य मानकर उसके सामाजिक संदर्भ में विश्लेषण करने पर ज्यादा महत्व दिया।

इसके अतिरिक्त सामाजिक तथ्य की विशेषता को बताते हुए उन्होंने सामाजिक तथ्य को एक स्वतंत्र इकाई के रूप में देखा। उन्होंने सामाजिक तथ्य को सुई जेनेरिस (Sui Generis) कहा है। सुई जेनेरिस से तात्पर्य, सामाजिक तथ्य का एक स्वतंत्र रूप से अपना अस्तित्व बनाकर रखना है। सामाजिक तथ्य को उन्होंने एक वस्तु माना है। अर्थात् सामाजिक तथ्य उतना ही मूर्त है जितना एक वस्तु या चीज होती है। इन्हें किसी और तत्व की आवश्यकता नहीं होती इसलिए यह स्वतंत्र होते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि दुर्खिम द्वारा प्रतिपादित सामाजिक तथ्य की अवधारणा एक वैज्ञानिक अवधारणा है जिसके द्वारा उन्होंने समाजशास्त्र में तथ्यों का सामाजिक विश्लेषण के आधार को वैज्ञानिक कसौटी पर स्थापित करने की कोशिश की है। जिस प्रकार का विश्लेषण दुर्खिम ने प्रस्तुत किया है वह वास्तव में अगस्त कॉन्ट द्वारा दिए गए प्रत्यक्षवाद के सिद्धांत को ही पुष्ट करता है।

3. संघर्षवादी सिद्धांत - कार्ल मार्क्स (द्वन्दात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद)

समाजशास्त्र में सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या संघर्ष से जुड़े अवधारणाओं को लेकर भी की जाती है। संघर्षवादी विचारकों में जर्मनी के समाजशास्त्री कार्ल मार्क्स (1818-1883) को एक अग्रणी विचारक के रूप में देखा जाता है। मार्क्स ने संघर्ष को आधार बनाकर सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन किया था। बीसवीं सदी के छठे दशक के बाद मार्क्स द्वारा प्रतिपादित संघर्ष पर आधारित सामाज के विश्लेषण ने सामाजशास्त्रियों के सोच में एक क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया। मार्क्स ने अपने पुस्तक तथा लेख में मानव इतिहास का वर्णन करते हुए मुख्य रूप से यह विचार दिया है कि उत्पादन की प्रक्रिया में मनुष्य एक-दूसरे के संपर्क में आता है और उत्पादक तथा उत्पादन करने वाले व्यक्ति के बीच के सम्बन्ध, दो परस्पर विरोधी वर्ग के आर्थिक स्वार्थों के टकराव से होती है। उत्पादन की प्रक्रिया में जुड़े यह दो वर्ग पूँजीपति तथा मजदूर वर्ग के रूप में उभरकर आते हैं। यह दोनो पूँजीपति तथा मजदूर वर्ग के आर्थिक स्वार्थ अलग-अलग होते हैं उन्होंने अपने द्वन्दात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद की अवधारणा के द्वारा संघर्ष पर आधारित सामाजिक क्रिया का विस्तार से विश्लेषण किया है।

द्वन्दात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद का वर्णन करते हुए उन्होंने पूँजीवादी समाज का विस्तार से वर्णन प्रस्तुत किया है। मार्क्स ने द्वन्दात्मक विधि का प्रयोग हेगल के विचारों से प्रभावित होकर किया था। जर्मनी के दार्शनिक हेगल का मत था कि सामाज में संघर्ष की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है, इस संघर्ष की प्रक्रिया ने द्वन्द की तीन अवस्थाओं का विस्तार से वर्णन किया। ये तीन अवस्थाएँ निम्न हैं:

1. स्थापना (thesis)
2. अतिस्थापना (antithesis)
3. संश्लेषण (synthesis)

जब किसी तथ्य का प्रतिपादन होता है तब स्थापना या अवधारणा की बात सोची जाती है। परन्तु किसी भी तथ्य या विचार को सदैव समाज में मान्यता नहीं मिलती है। इसलिए उस विचार के विरोध में दूसरे विचार उभर कर आ जाते हैं, अर्थात् कोई भी विचार व मान्यता को ज्यादा दिन तक स्थापित कर पाना मुश्किल होता है। हेगल का यह मत था कि समाज में इस प्रकार के द्वन्द की स्थिति सदैव बनी रहती है। इस अन्तर्द्वन्द को हेगल ने वैचारिक स्तर से जोड़ कर देखा और इसलिए उन्होंने वैचारिक द्वन्दात्मक (Dialectical Spiritualism) सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। मार्क्स, हेगल के द्वन्दात्मक सिद्धांत के विचार से काफी प्रभावित थे, परन्तु मार्क्स ने इसे एक भौतिकवादी दृष्टिकोण के आधार पर समझने की कोशिश की। उनका यह मत था कि अंतर्द्वन्द की स्थिति सदैव भौतिक स्तर पर बनी होती है, और इसके वैचारिक आधार भी भौतिक आधार पर ही टिके होते हैं। इसलिए उन्होंने संघर्ष का उल्लेख ऐतिहासिक तथा भौतिक आधार पर किया।

उन्होंने यह बताया कि पांच प्रमुख अवस्थाओं का वर्णन उत्पादन की प्रणाली को ध्यान में रखकर किया जा सकता है। उत्पादन की प्रणाली की यह पांच अवस्थाएं निम्न हैं:

1. आदिमसाम्यवादी युग (Primitive stage of Mode of Production): उत्पादन की प्रणाली को आदिम उत्पादन की प्रणाली कहा जाता है।
2. दूसरी अवस्था को वे ऐशियाटिक उत्पादन (Asiatic Mode of Production) की प्रणाली कहते हैं।
3. तीसरी अवस्था : सामंतवादी, (Federal Mode of Production) उत्पादन की प्रणाली कही जाती है।
4. चौथी अवस्था : पूँजीवादी उत्पादन (Capitalist Mode of Production) की प्रणाली कही जाती है।
5. पाँचवी अवस्था : सामाजवादी उत्पादन (Socialist Mode of Production) की प्रणाली कही जाती है।

इस प्रकार ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत का उल्लेख करते हुए उन्होंने उपर्युक्त उत्पादन की प्रणाली के आधार पर सामाजिक अवस्था का वर्णन किया था। इन सभी उत्पादन की प्रणाली में जिस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था विकसित हुई उसमें दो परस्पर विरोधी वर्ग का विश्लेषण मार्क्स ने किया।

आदिम युग में, अर्थात् जब उत्पादन की प्रणाली अपने आदिम व्यवस्था में थी, उस समय 'मालिक' तथा 'दास', यह दो वर्ग उभर कर आए। इन दोनों वर्गों की स्थिति उत्पादन की क्रिया में एक-दूसरे से बिलकुल ही भिन्न थी।

दूसरी अवस्था ऐशियाटिक उत्पादन की प्रणाली थी, जिसका वर्णन करते हुए उन्होंने सैद्धांतिक स्तर पर इस अवधारणा का उल्लेख किया। और इसमें वर्ग की पहचान का कोई मुख्य स्वरूप नहीं वर्णित किया गया है।

उत्पादन की प्रणाली को प्रभावित करने वाली तीसरी अवस्था को सामंतवादी, उत्पादन की प्रणाली कहा गया, जिसमें जमींदार (Landlord) तथा बंधुआ मजदूर (Surf) यह दो वर्ग उभर कर आए। इन दोनों वर्गों की स्थिति भी असामान्य थी क्योंकि इन दोनों के आर्थिक स्वार्थ अलग-अलग थे।

उत्पादन की प्रणाली में तकनीकी विकास के कारण पूँजीवादी व्यवस्था का उदय हुआ, जिसके फलस्वरूप पूँजीवादी उत्पादन की प्रणाली में भी दो वर्ग, अर्थात् पूँजीपति (Bourgeoisie) और मजदूर (Proletariat) वर्ग उभर कर आए। इन दोनों के स्वार्थ, आर्थिक दृष्टि के आधार पर परस्पर विरोधी थे।

उत्पादन प्रणाली के प्रक्रियाओं में परिवर्तन के साथ-साथ इन दो वर्गों की आर्थिक स्थिति भी एक-दूसरे से बिलकुल अलग हो जाते हैं। मार्क्स के अनुसार सामाजिक वर्गों की रचना अर्थव्यवस्था में उत्पादन के सम्बन्धों के आधार पर होती है। जिस व्यक्ति का उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व और नियंत्रण होता है, वह वर्ग पूँजीपति वर्ग अर्थात् बूर्जुवा कहलाता है। ठीक इसके विपरीत वह वर्ग जिसका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व नहीं होता, जो सिर्फ अपने श्रम पर निर्भर करता है उसे कामगार श्रमिक वर्ग कहा जाता है। इन दो वर्गों के आर्थिक स्थिति न केवल एक-दूसरे के परस्पर विरोधी होते हैं बल्कि मार्क्स के अनुसार इन्हें शोषक और शोषित वर्ग के रूप में विश्लेषण किया जाना ज्यादा सार्थक साबित होता है। पूँजीपति वर्ग, कामगार श्रमिक के श्रम का शोषण कर आर्थिक उत्पादन करता है, जिसे बेचकर वह काफी मुनाफा कमाता है। श्रमिक वर्ग को केवल उसकी मजदूरी मिलती है और मुनाफे में उसका कोई हिस्सा नहीं होता। इसलिए श्रमिक वर्ग अपने आपको 'युनियन' बनाकर पूँजीपति वर्ग के खिलाफ अपने हक की माँग करता है अर्थात् वह यह महसूस करने लगता है कि उसका श्रम के द्वारा कमाए गए मुनाफे पर केवल पूँजीपति वर्ग का ही अकेला अधिकार नहीं है बल्कि उस मुनाफे के ऊपर उसे भी उसका हक दिया जाना चाहिए। इस प्रकार वह 'युनियन' के द्वारा संगठित होकर अपनी माँग रखता है। इस माँग की पूर्ति नहीं होने पर वर्ग संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। क्रान्ति के द्वारा जो सामाजिक परिवर्तन होता है, उसमें श्रमिक अर्थात् सर्वहारा वर्ग को पूँजीपति वर्ग से अपना अधिकार प्राप्त करने का अवसर मिलता है। इस प्रकार के संघर्ष को ही मार्क्स ने वर्ग संघर्ष (Class conflict) बताया और इन वर्ग संघर्ष के आधार पर साम्यवादी व्यवस्था (Socialist order) की स्थापना सम्भव होती है जहाँ वर्ग विहीन समाज होता है, और वर्ग के आधार पर संघर्ष की स्थिति समाप्त हो जाती है।

कार्ल मार्क्स के अपने द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत का जो वर्णन किया है उसमें दो परस्पर विरोधी वर्गों की भूमिका विभिन्न अवस्थाओं में उल्लेखनीय है। यहाँ इस बात का संकेत देना आवश्यक है कि साम्यवादी व्यवस्था में वर्ग विहीन समाज की कल्पना कार्ल मार्क्स का एक सपना था जो आज भी साकार नहीं हो सका है परन्तु यह उनका समाज के बारे में आदर्श समाज की कल्पना थी। इसे समाज में एक व्यक्ति का शोषण, दूसरे व्यक्ति के द्वारा नहीं होगा तथा आर्थिक क्षेत्र

में समानता के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति को सामान अधिकार मिले होंगे। चूँकि कार्ल मार्क्स ने समाज में मौजूद निरंतर अंतर्द्वन्द्व की स्थिति का वर्णन आर्थिक स्थिति में आर्थिक चीजों के असमान वितरण के कारण देखा, इसलिए कार्ल मार्क्स की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि उन्होंने अर्थव्यवस्था को ही अपने द्वन्दात्मक अवधारणा में एक महत्वपूर्ण स्थान दिया है और समाज के अन्य पहलुओं पर विशेष ध्यान नहीं दिया।

4. व्याख्यात्मक अवधारणा-मैक्स वेबर-(सामाजिक क्रिया तथा आदर्श प्रारूप)

सामाजशास्त्रीय विश्लेषण में जर्मन के समाजशास्त्री मैक्स वेबर का एक महत्वपूर्ण स्थान है। मैक्स वेबर (1864-1920) का स्थान समाजशास्त्र में एक ऐसे समाजशास्त्री के रूप में लिया जाता है जिन्होंने अध्ययन विधि को अपने समाजशास्त्रीय विश्लेषण से प्रभावित किया है। समाजशास्त्र की व्याख्या करते हुए मैक्स वेबर ने यह कहा है की समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया का निर्वचनात्मक (Interpretative Understanding) बोध करता है जिसके कारण सामाजिक क्रिया तथा इसकी गतिविधियों तथा परिणामों का कारण सहित व्याख्या सम्भव हो सके।

इस प्रकार यह स्पष्ट है की समाजशास्त्र की परिभाषा देते हुए उन्होंने सामाजिक क्रियाओं के अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया। सामाजिक क्रियाएँ समाजशास्त्र का एक केन्द्रिय अध्ययन विषय हैं। इसका उद्देश्य सामाजिक क्रिया का अर्थपूर्ण अध्ययन करने से है। सामाजिक क्रिया का विश्लेषण करते हुए उन्होंने सामाजिक क्रिया को शारिरीक क्रिया से अलग बताया। कोई भी शारिरीक क्रिया सामाजिक क्रिया का रूप नहीं ले सकती क्योंकि सामाजिक क्रिया में दो या दो से अधिक व्यक्ति के बीच सम्बन्ध पाया जाना आवश्यक होता है। व्यक्तियों के बीच अन्तः सम्बन्ध के कारण एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के सामाजिक संदर्भ तथा उससे जुड़े अर्थ को भी समझते हैं। इस प्रकार उनका यह कहना था की एक व्यक्ति जब दूसरे व्यक्ति के संपर्क में आकर अपने व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। तो उन्हें एक दूसरे के सांस्कृतिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि का ज्ञान होता है जिसके कारण उनके बीच संबंध विकसित होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के बारे में जो राय बनाते हैं या जो विचार रखते हैं उसमें परस्पर सामाजिक स्थिति का ज्ञान उन दोनों को होता है इसलिए उनका यह मानना था की किसी भी सामाजिक क्रिया को वैज्ञानिक तथा अवैज्ञानिक पूर्णरूप से नहीं कह सकते क्योंकि समाज में एक व्यक्ति के संस्कृति, तौर-तरीके अलग-अलग होते हैं। अगर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से मिलने पर हाथ मिलाकर उसका अभिवादन करता है तो दूसरा व्यक्ति सम्भव है हाथ जोड़कर नमस्कार करने को ही अभिवादन की सही प्रक्रिया माने। इसलिए समाज में व्यक्ति की जो आदतें विकसित होती हैं वह प्रत्येक समाज में अलग-अलग होती हैं।

मैक्स वेबर ने अपनी अध्ययन विधि का विश्लेषण करते हुए 'आइडियल टाइप' (Ideal Type) के अवधारणा का भी वर्णन करते हुए यह बताया है की आदर्श प्रारूप एक विश्लेषणात्मक अवधारणा (Analytic Construct) है। इसके द्वारा एक शोधकर्ता समाज में समान तथा असमान प्रवृत्तियों की पहचान करता है, उनका कहना था की आदर्श प्रारूप न तो सांख्यिकी रूप से एक औसतन इकाई है और न ही यह एक उपकल्पना (Hypothesis) है। आदर्श प्रारूप को वह एक मानसिक अवधारणा मानते हैं, जिसमें एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में बोधगम्य सम्बन्धों को संगठित कर समझने की कोशिश की जाती है। इस प्रकार अनेकों परिस्थितियों का निरीक्षण कर वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण से एक पक्षीय दृष्टिकोण को अपने विश्लेषणात्मक अवधारणा का आधार बनाता है।

इस प्रकार आदर्श प्रारूप एक अमूर्त अवधारणा है जिसकी कल्पना शोधकर्ता, शोध करने से पहले जिस विषय का अध्ययन करना चाहता है उसके बारे में समुचित ज्ञान प्राप्त करता है। तीन स्तर पर आदर्श प्रारूप की अमूर्त अवधारणा का वर्णन किया जा सकता है। जो निम्न है:-

1. ऐतिहासिक रूप से खास घटनाओं का आदर्श प्रारूप जिसमें 'पश्चिमी देश', 'प्रोटेस्टेन्ट ऐथिक' तथा 'आधुनिक पूँजिवाद' को आदर्श प्रारूप में चित्रित किए जाने की प्रक्रिया है।
2. आदर्श प्रारूप ऐतिहासिक तथ्यों के अमूर्त तत्वों का विश्लेषण भी करता है जिसको अनेकों ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक संदर्भ में देखा जा सकता है जैसे 'अधिकारी तंत्र' तथा 'सामंतवाद'।
3. आदर्श प्रारूप विवेकपूर्ण तथा तर्क संगत तरीके से एक खास प्रकार के व्यवहार द्वारा तैयार किया जाता है। यह तीनों उपरिलिखित उपकल्पनाएँ आदर्श प्रारूप के उदाहरण के रूप में देखे जा सकते हैं। वेबर का कहना था की आदर्श प्रारूप

का अर्थ नैतिक मूल्यों से जोड़कर नहीं देखा जाना चाहिए और न ही इसे आदर्श क्रिया के रूप में देखा जाना चाहिए, बल्कि आदर्श प्रारूप की अवधारणा एक अमूर्त अवधारणा है जो शोधकर्ता को शोध विषय पर अध्ययन के लिए मार्गदर्शिका का काम करती है। इसलिए आदर्श प्रारूप के निर्माण में जहाँ तक सम्भव हो सके शोधकर्ता को एक वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। अपनी पूर्वाग्रहों को दूर रखकर शोध विषय का आदर्श प्रारूप तैयार करना एक वस्तुनिष्ठ क्रिया है। मैक्स वेबर ने जब धर्म का अध्ययन किया तो धर्म के अध्ययन के लिए उन्होंने धर्म का एक आदर्श प्रारूप तैयार किया। तुलनात्मक विधि का इस्तेमाल करते हुए उन्होंने ऐतिहासिक संदर्भ में धर्म के विभिन्न तत्वों का वर्णन करते हुए उनके सामान्य गुणों पर आधारित लक्षणों को ध्यान में रखकर धर्म की एक परिभाषा दी।

उसी प्रकार पूँजीवादी सोच की व्याख्या करते समय भी उन्होंने अनेको आधुनिक समाज के लक्षणों की एक सूची तैयार की तथा उन लक्षणों के आधार पर जो पूँजीपती समाज के सामान्य लक्षण थे उसे उन्होंने आदर्श प्रारूप के रूप में रखा। सामाजिक क्रिया को भी वह एक आदर्श प्रारूप के रूप में देखते हैं। अनेकों सामाजिक क्रिया का ऐतिहासिक संदर्भ में अध्ययन करने के बाद उन्होंने निम्न चार सामाजिक क्रियाओं का उल्लेख किया है:-

1. तार्किक क्रियाएँ (Rational Action or Goal Oriented Action)
 2. मूल्यों पर आधारित क्रियाएँ (Value Oriented Action or Goal Oriented Action)
 3. संवेगात्मक (Emotional Action)
 4. परम्परात्मक (Traditional Action)
1. तार्किक- तार्किक क्रियाओं से अभिप्राय उन क्रियाओं से है जो तर्क और विवेक पर आधारित होते हैं। इस प्रकार के क्रियाओं में साधन तथा लक्ष्य, दोनों में एक विवेकपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होता है। जैसे एक विद्यार्थी परीक्षा में अच्छे अंक से उत्तीर्ण होने के लिए कड़ी मेहनत करता है। अच्छे अंक प्राप्त करने के लिए मेहनत तथा एकाग्र होकर पढ़ाई में ध्यान देना आवश्यक है। इस प्रकार इन दोनों क्रियाओं में एक तार्किक सम्बन्ध है।
 2. मूल्यों पर आधारित क्रियाएँ- यह वह क्रिया है जिसमें व्यक्ति अपने व्यवहार को अपने मूल्यों की कसौटी पर खड़ा मानता है। उदाहरण के लिए एक जहाज के कैप्टन का डूबते जहाज से उतर कर नहीं भागना।
 3. संवेगात्मक क्रियाएँ : संवेगात्मक क्रियाओं से उन क्रियाओं का बोध होता है जो मनुष्य के संवेग पर आधारित होते हैं। एक व्यक्ति का धार्मिक विश्वास, उसके परिवार के सदस्यों के साथ उसका सम्बन्ध, यह सभी उसके संवेगों या संवेदनाओं पर आधारित होते हैं।
 4. परंपरात्मक- इन क्रियाओं में सामाजिक क्रियाओं तथा परम्परा का महत्वपूर्ण स्थान होता है जिसके कारण व्यक्ति के व्यवहार परम्परा से जुड़े होते हैं। एक संयुक्त परिवार के सदस्य कई धार्मिक अनुष्ठानों का पालन परम्परा से जुड़े होने के कारण करते हैं। उसी प्रकार कुछ सामाजिक परम्पराएँ भी होती हैं, जिसका पालन हम समाज के सदस्य होने के कारण करते हैं।

वेबर ने समाजशास्त्र को सामाजिक क्रियाओं का व्याख्यात्मक अध्ययन कहा था। इसलिए वेबर ने सामाजिक क्रियाओं के आदर्श प्रारूप का वर्णन किया है। उनका यह कहना था कि जितनी भी सामाजिक क्रियाएँ हैं, उन सभी सामाजिक क्रियाओं को आदर्श प्रारूप के रूप में देखा जा सकता है। उनका मानना था कि आधुनिक समाज में जो सामाजिक क्रियाएँ होती हैं, उन सभी सामाजिक क्रियाओं को तार्किक सामाजिक क्रिया से जोड़कर देखा जाता है। वेबर का यह भी मानना था कि यह आवश्यक नहीं कि आधुनिक समाज में जिन सामाजिक क्रियाओं को देखते हैं, वह सभी तार्किक क्रियाओं के अंतर्गत आते हों बल्कि आधुनिक समाज में मूल्यों पर आधारित क्रियाएँ संवेगों पर आधारित क्रियाओं के साथ-साथ परम्परागत क्रियाओं का भी व्यवहार में इस्तेमाल करते देखा जा सकता है, अर्थात् इन चारों सामाजिक क्रियाओं का एक सम्मिलित स्वरूप आधुनिक समाज में भी देखने को मिल सकता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि सामाजिक क्रियाएँ एक स्वतंत्र रूप से पाई जाने वाली क्रियाएँ हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समाजशास्त्र के विभिन्न उपागम से हमें जिन समाजशास्त्रियों के विचारों का ज्ञान प्राप्त होता है वे सभी समाजशास्त्रियों ने अपने-अपने ढंग से, समाजशास्त्र की व्याख्या की है। इन सभी समाजशास्त्रियों के विचार को एक विचारधारा से जोड़ कर देखा जाता है। कोम्ट के विचार को प्रत्यक्षवाद से जोड़ कर देखा जाता है। उसी प्रकार दुर्खीम के

विचार को प्रकार्यवाद से जोड़ कर देखा जाता है। कार्ल मार्क्स के द्वन्दात्मक, ऐतिहासिक, भौतिकवाद सिद्धांत को संघर्षवादी दृष्टिकोण से जोड़कर देखा जाता है। वेबर की सामाजिक क्रिया तथा आदर्श प्रारूप की अवधारणा को भी समाजशास्त्र में एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। अध्ययन विधि के आधार पर वेबर के व्याख्यात्मक सिद्धांत को समाजशास्त्र में एक महत्वपूर्ण विधि के रूप में देखा जाता है। चूंकी मैक्स वेबर ने अपने विचारों से मार्क्स द्वारा प्रतिपादित विचारों का कई रूप में खंडन किया था, इसलिए वेबर के विचारों का महत्त्व मार्क्स के विचारों से जोड़कर भी देखा जाता है।

यह चारों समाजशास्त्री, समाजशास्त्रीय सोच के मुख्य स्तम्भ माने जाते हैं। इसलिए इनके द्वारा प्रकट विचारों को समाजशास्त्र के सिद्धान्त से जोड़कर भी देखा जा सकता है। जहाँ प्रत्यक्षवाद के सिद्धांत के द्वारा समाजशास्त्र को एक वैज्ञानिक विषय का दर्जा मिला, वहीं प्रकार्यवादी सिद्धांत के कारण उपनिवेशवादी विचारों के प्रभाव का भी हमें पता चलता है। जिस प्रकार के संक्रमण: के दौर में उन्नीसवीं सदी का समाज गुजर रहा था, उसमें यह स्वाभाविक था की समाजशास्त्री व्यवस्था को बनाए रखने वाले समाज की कल्पना करते और इस रूप में प्रकार्यवादी सिद्धान्त का महत्त्व भी देखा जाना चाहिए। सामाजिक क्रान्ति के द्वारा समाज में मौलिक परिवर्तन की बात भी उन्नीसवीं सदी की एक महत्वपूर्ण देन थी। औद्योगिक समाज के बदलते स्वरूप ने इसका आभास दिला दिया की आर्थिक विषमता के कारण समाज में वर्ग संघर्ष की स्थिति, औद्योगिक समाज में अन्तर्निहित, अंतर्द्वन्द का परिणाम है। मैक्स वेबर ने भी समाज के विविध स्वरूप का वर्णन करते हुए यह बताया की समाज के विविध स्वरूप को देखकर कोई भी सिद्धांत स्थाई रूप से प्रतिपादित करना भ्रामक होगा, इसलिए यह आवश्यक है की वैकल्पिक सोच के द्वारा समाज के विविध स्वरूपों का वर्णन किया जा सके।

स्वतः मूल्यांकन के लिए प्रश्न

1. समाजशास्त्र क्या है? समाजशास्त्र के अर्थ का वर्णन प्रमुख समाजशास्त्रियों के विचारों के द्वारा करें।
2. समाजशास्त्र को किन आधारों पर विज्ञान कहा जा सकता है? उदाहरण सहित अपने विचार व्यक्त करें।
3. समाजशास्त्र से क्या अभिप्राय है? इसके प्रकृति का विस्तार से वर्णन करें।
4. समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र का विस्तार से वर्णन करें।
5. समाजशास्त्र का उदय कहाँ हुआ है? इसके उत्थान को क्यों फ्रांस से जोड़कर इसका आकलन किया जाता है?
6. समाजशास्त्र का अन्य विषयों के साथ क्या संबंध है? समाजशास्त्र का सामाजिक मानवशास्त्र के साथ क्या संबंध है?
7. समाजशास्त्र के संबंध को अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र से स्पष्ट करें।
8. समाजशास्त्र का संबंध इतिहास और मनोविज्ञान से क्या है?

अध्याय-2

समाजशास्त्र की मौलिक अवधारणाएँ

- समाजशास्त्र में प्रयुक्त अवधारणाओं का परिचय
- इन अवधारणाओं के बीच संबंधों को समझाना भी पाठ का उद्देश्य
- तुलनात्मक पद्धति के द्वारा एक अवधारणा को दूसरी अवधारणा से समझाना
- इन अवधारणाओं के संदर्भ को उदाहरण द्वारा समझाने की कोशिश
- इस संदर्भ में भारतीय समाज के संदर्भ को भी ध्यान में रखा गया है।
- अवधारणाओं की चर्चा करते हुए उसके सैद्धान्तिक पक्ष की भी चर्चा की गयी है। इन सिद्धान्तों की चर्चा वहीं की गयी है जहाँ आवश्यक समझा गया है।
- अवधारणाओं के शाब्दिक तथा तकनीति अर्थ का विश्लेषण भी किया गया है।
- जहाँ आवश्यक समझा गया वहाँ अवधारणाओं के प्रयोग के द्वारा कुछ समाजशास्त्रियों की लेखन सामग्री की तरफ भी इशारा किया गया है।
- अवधारणाओं के निरंतर बदलते स्वरूप का विशेष रूप से विवेचन किया गया है।
- अवधारणाओं को जहाँ आवश्यक समझा गया, उसे समाज में सामाजिक संबंध के द्वारा समझाने की कोशिश की गयी है।

समाज

समाज क्या है? इस शब्द को समाजशास्त्र में एक महत्वपूर्ण अवधारणा के रूप में देखा जाता है। आम बोल-चाल की भाषा में हम कह सकते हैं कि हम सभी समाज में रहते हैं जहाँ हमारा जन्म होता है - जहाँ हमारा परिवार रहता है और जिस परिवार के सदस्य बनकर हम वहाँ के प्रतिमान, मूल्य, भाषा, धर्म आदि सीखते हैं - ये सब समाज के सदस्य बनकर ही हम सीख पाते हैं। समाज में रहते हुए हम उस समाज की परंपरा, संस्कृति से भी जुड़े होते हैं जिसका प्रभाव हमारे पूरे व्यक्तित्व पर पड़ता है। इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक समाज के लोग एक दूसरे से भिन्न भाषा बोलते हैं, उनके धर्म अलग होते हैं उनके खाने-पीने, रहने का ढंग अलग होता है और ये सभी संस्कृति से जुड़ी चीजें अलग होंगी तो उनका समाज भी अलग होगा। इसका मतलब सिर्फ यह निकाला जा सकता है कि समाज भी एक नहीं होता। एक ही राष्ट्र, प्रदेश में रहने वाले लोग कई समाज के अंदर रहते हैं अर्थात् एक देश में कई समाज होता है जहाँ एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से भिन्न सामाजिक व्यवहार व क्रियाएँ करता है। हमारे देश में भी विभिन्न समाज देखे जा सकते हैं। उत्तर भारत में ही अगर हम देखें तो पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश तथा जम्मू-कश्मीर में रहने वाले इन सभी लोगों का अपना अलग समाज है। इनके बोल-चाल की भाषा, पोशाक, अभिवादन करने के तरीका, खाना-पीना, रहन-सहन, धार्मिक रुझान सभी में विविधता है।

यहाँ पर यह समझ लेना भी आवश्यक है कि समाजशास्त्र में समाज का सामान्य अर्थ नहीं बल्कि एक विशेष अर्थ है जिसे तकनीकी तरीके से परिभाषित करने की कोशिश की गयी है। समाज को सामाजिक संबंधों का जाल कहा जाता है। इस प्रकार से समाज की व्याख्या करते हुए मेकाइवर तथा पेज ने अपनी पुस्तक *समाज एक परिचय* में समाज की परिभाषा देते हुए इसे सामाजिक संबंध का आधार माना है, उनके अनुसार समाज को सामाजिक संबंधों की एक ऐसी व्यवस्था माना है जिसमें हम सभी उसका सदस्य बनकर रहते हैं। विस्तृत रूप में समाज को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा है, समाज व्यापारिक, कार्यविधियों, सत्ता, पारस्परिक सहयोग, अनेकों समूहों एवं श्रेणियों, मानवीय व्यवहार के नियंत्रणों तथा स्वतंत्रताओं की एक व्यवस्था है।

इस परिभाषा के अनुसार समाज में रीति-रिवाज, क्रियाएँ तथा समूहों के बीच परस्पर सहयोग देखने को मिलता है। समाज के सदस्य अपने व्यवहार को नियंत्रित करते हुए स्वतंत्र इकाई के रूप में कार्य करते हैं। इसका अर्थ हुआ कि समाज में रहने वाला व्यक्ति सामाजिकरण की प्रक्रिया के उन प्रतिमानों व मूल्यों को अपना लेता है जिसके कारण वह अपने व्यवहार को

विभिन्न परिस्थितियों में नियंत्रित करता है। जर्मनी के एक अन्य समाजशास्त्री फर्डिनांड टानिज ने इसे गेसलशाफ्ट शब्द से संबोधित किया। फ्रांस के समाजशास्त्री ड. दुर्खिम का कहना था कि समाज का एक नैतिक कर्तव्य होता है जिसे व्यक्ति सर्वोपरी मानता है और समाज के सदस्य के नाते समाज के आदर्श स्वरूप को बनाये रखने के लिए वह अपनी नीति व व्यक्तिगत हितों को समाज के लिए सहजता से त्याग कर सकता है। उन्होंने समाज की व्याख्या करते हुए बताया कि प्रत्येक समाज की एकता होती है जो विभिन्न समाज में यांत्रिकी विशेषताओं व सामयिक विशेषताओं से संचालित होती है। ये दो समाज के लोग विशेषकर जो यांत्रिक विशेषताओं से संचालित होते हैं वे अपेक्षाकृत परंपरागत सोच तथा धार्मिक प्रवृत्ति से आवेगात्मक संबंध रखते हैं और इसके विपरीत जो लोग सावयवी एकता से जुड़े होते हैं वे अपेक्षाकृत आधुनिक तथा औद्योगिक समाज के मूल्यों व परंपराओं से जुड़े होते हैं। फर्डिनांड टानिज ने भी इसी प्रकार जर्मन शब्द का प्रयोग अर्थात् जेमाइनशाफ्ट तथा गेजेलशाफ्ट के द्वारा किया था। जर्मनी के इस शब्द के जेमाइनशाफ्ट से इनका तात्पर्य समुदाय से था जो ग्रामीण समाज से जुड़े होते हैं और इसके विपरीत वो लोग जो आधुनिक समाज से जुड़े होते हैं उनके लिए उन्होंने गेजेलशाफ्ट का प्रयोग किया था।

किंगस्ले डेविस ने भी अपनी पुस्तक हयुमेन सोसाइटी में समाज के अध्ययन का विस्तार से वर्णन किया है। उनका कहना था कि समाज की व्याख्या सांस्कृतिक संदर्भ से जोड़ कर की जानी चाहिए। उनका कहना था कि मानव समाज का अध्ययन करने का मतलब है संस्कृति का अध्ययन करना। चाहे हम किसी भी समाज का वर्णन क्यों न करें उस समाज में एक खास संस्कृति व्यवहार को देखा जा सकता है जो दूसरे समाज से भिन्न होता है। अगर परिवार की ही व्याख्या करें तो परिवार की व्याख्या सिर्फ जैविक संबंधों के आधार पर करना पर्याप्त नहीं होगा क्योंकि परिवार के अंदर एक खास प्रकार की संस्कृति भी छिपी होती है। संस्कृति के द्वारा ही विवाह तथा यौन क्रिया को अलग-अलग करके समझा जा सकता है। संबंधों को हम वैध व अवैध। सांस्कृतिक मूल्यों तथा प्रतिमानों के आधार पर ही कर पाते हैं। सामाजिक संबंध के संस्थात्मक स्वरूप को संस्कृति से जोड़कर ही समझा जा सकता है। इसलिए किंगस्ले डेविस का यह मत था कि समाज के अध्ययन में संस्कृति को ध्यान में रखना आवश्यक है क्योंकि इसके बिना समाज की व्याख्या अधुरी ही रहेगी।

यहाँ यह भी समझना आवश्यक है कि हमें समाज के अध्ययन से क्या फायदा है। अर्थात् समाज का अध्ययन करना क्यों आवश्यक है। किंगस्ले डेविस का मत था कि समाज का अध्ययन जटिल समाज के लक्ष्य को प्राप्त करने में किस हद तक सफल हो सकता है यह उसके अध्ययन से ही पता चल सकता है। जटिल समाज के संचालन में सामाजिक विकास की योजना तैयार की जाती है और इन योजनाओं के क्रियान्वयन में सिर्फ रीति-रिवाजों पर ही निर्भर नहीं रहा जा सकता। इसके लिए समाज की जानकारी आवश्यक है। अगर परिवार नियोजन या महिलाओं व गरीब लोगों के लिए कुछ कल्याणकारी योजनाओं का श्री गणेश करना हो तो उस समाज में रहने वाले लोगों की सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक पृष्ठभूमि का पूर्व ज्ञान योजनाओं को सफलतापूर्वक चलाने में काफी सहायक सिद्ध हो सकता है।

समाज के लक्षण: समाज को एक मानवीय समूह के रूप में भी देखा जाता है। इस मानवीय समूह के कुछ विशिष्ट लक्षण होते हैं जिसकी व्याख्या करना आवश्यक है। हैरी एम जानसन ने समूह के विशिष्ट लक्षणों को चार शीर्षक के अंतर्गत बांटा है:

- क. निश्चित भूभाग: समाज का एक निश्चित भूभाग होता है। उस समाज के लोग निश्चित भूभाग से जुड़े होते हैं और संभवतः इसलिए वह निश्चित भूभाग उस समाज की सांस्कृतिक धरोहर का एक हिस्सा बन जाता है। व्यक्ति विशेष का उस भूभाग से प्रेम होना, एक स्वाभाविक बात है और उस जमीन पर रहनेवाले सभी लोगों के बीच एक सौहार्दपूर्ण संबंध बनाना भी उसकी स्वाभाविक प्रकृति का ही भाग बन जाता है। इस रूप में गोत्र, जाति, पड़ोस, राजनीतिक इकाई, गाँव, नगर, शहर, राज्य और देश इन सभी से मानवीय समाज का संबंध होना स्वाभाविक है।
- ख. प्रजनन: समाज के सदस्य एक समूह से यौन संबंध रखकर प्रजनन क्रिया के द्वारा समाज में नये सदस्यों को पनपने का अग्रण प्रदान करते हैं इस प्रजनन की क्रिया से उस समाज में सदैव नये सदस्य आते हैं जो समाज की निरंतरता को बनाये रखने में अभूतपूर्व कदम है।
- ग. व्यापक संस्कृति: प्रत्येक समाज की अपनी एक संस्कृति होती है। संस्कृति शब्द का काफी व्यापक अर्थ समाज के संदर्भ में होता है। यह मनुष्य के सामान्य व्यवहार को नियंत्रित करता है तथा उसकी पहचान को भी दर्शाता है। संस्कृति की परिभाषा देते हुए ई०वी० टायलर ने कहा है, "संस्कृति वह जटिल संपूर्णता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कथाएँ, नैतिकता, विधि, प्रथाएँ और ये सभी योग्यताएँ एवं क्षमताएँ सम्मिलित की जाती हैं जिन्हें समाज के सदस्य के रूप में वह अर्जित करता है।"

घ. आजादी: एक समाज एक स्वतंत्र इकाई के रूप में कार्य करता है न कि उसके सह समूह के रूप में। समाज एक स्वतंत्र इकाई के रूप में कार्य करते हुए अपने ढंग से समस्याओं का समाधान ढूँढता है। इस प्रकार समाज एक स्थायी, स्वतंत्र, एकीकृत इकाई के रूप में अपनी पहचान लिए हुए होता है। इसलिए इसका छोटा व बड़ा होना माने नहीं रखता। हाँ! इसका एक स्वतंत्र इकाई के रूप में होना महत्वपूर्ण है।

समाज की अवधारणा को सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक संरचना, इसकी निरंतरता, परिवर्तनशीलता के रूप में भी देखा जाता है। टालकाट पार्संस ने समाज को एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में व्याख्या करते हुए, इसकी चार आवश्यकताओं के पूर्ण में इसके रचनात्मक सहयोग की विवेचना की है जो निम्न है:

- क. अनुकूलन (Adapation)
- ख. लक्ष्य निर्धारण (Goal attainment)
- ग. एकीकरण (Integration)
- घ. प्रतिमान-अनुरक्षण (Pattern-maintenance)

समाज को सामाजिक संबंधों का जाल बताते हुए मैकईबर तथा पेज का कहना था कि सामाजिक संबंध का अभिप्राय उन सामाजिक शर्तों से है जो मनुष्य के बीच एक सहयोग की भावना पैदा कर उन्हें एक-दूसरे से जोड़ते हैं। समाज में रहकर व्यक्ति एक दूसरे के काम में सहयोग करने की पूरी कोशिश करता है। समाज में सहयोग के कारण ही दो प्रकार की स्थिति परिलक्षित होते हैं।

समाज में सहमति एवं असहमति

समाज में व्यक्ति एक दूसरे के साथ रहते हुए कई परिस्थितियों या मुद्दों पर अगर एक-दूसरे से सहमत होते हैं तो कई ऐसे भी मुद्दे हैं जिन पर उनमें आपस में बिल्कुल ही सहमति नहीं होती जिसके परिणामस्वरूप वे एक-दूसरे के विचारों से असहमत भी होते हैं। यहाँ तक कि परिवार के सदस्य अगर कई मुद्दों पर एकमत होते हैं तो उसी परिवार के सदस्य अन्य मुद्दों पर असहमति भी प्रकट कर सकते हैं। श्रम विभाजन का एक बड़ा कारण समाज में सहमति व असहमति के कारण ही होता है। परिवार में महिलाओं की भागीदारी, शिक्षा और उनके अधिकारों को लेकर जहाँ एक ओर सहमति दिखती है तो वहीं दूसरी तरफ कुछ लोग अपनी असहमति भी प्रकट करते हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि समाज, समाजशास्त्रीय अध्ययन का एक केन्द्र बिन्दु रहा है जिसे एक व्यवस्था के रूप में अध्ययन किया गया है। इसके विभिन्न भूमिकाओं, क्रियाओं का अध्ययन समाजशास्त्र में किया जाता रहा है।

समुदाय

समुदाय

समाजशास्त्र में समुदाय शब्द से अभिप्राय एक खास भू-भाग में रहने वाले लोगों से लगाया जाता है। इस निश्चित क्षेत्र में रहने वाले लोगों के समूह को ही समुदाय के रूप में देखा जाता है। किंगस्ले डेविस ने समुदाय शब्द का अभिप्राय बताते हुए इसका भौतिक अर्थात् भौगोलिक क्षेत्र को एक आधार माना है वहीं दूसरी ओर इसके सामाजिक लक्षणों को ध्यान में रखकर इसे सामाजिक पहलुओं के आधार पर ही इसका वर्णन किया है।

भौगोलिक स्थिति

भौगोलिक क्षेत्र को आधार बनाकर अधिकांश समाजशास्त्रियों ने इसका वर्णन किया है। एक भौगोलिक क्षेत्र के अंतर्गत रहने वाले लोग एक-दूसरे से विभिन्न कार्य कलापों से जुड़े होते हैं। अपने कार्य करते हुए उत्पादन के कार्य में एक-दूसरे का अपेक्षित सहयोग मिलता है। प्राथमिक स्तर पर एक दूसरे के साथ सहयोग करने में भी, एक निश्चित भू-भाग पर रहना उनके लिए हितकर तथा लाभदायक होता है। इस प्रकार वे एक-दूसरे के साथ जुड़कर एक-दूसरे व्यक्ति के सुख व दुःख में एक-दूसरे की पूरी मदद करते हैं। अंतःसंबंध को प्रभावित करने वाले तत्व अर्थात् एक स्थान पर रहना एक प्राथमिक समूह का आध्यात्मिक संबंध भी विकसित करता है। हम अपने दिन प्रतिदिन के जीवन में एक-दूसरे के इतने नजदीक आ जाते हैं कि इस प्रकार से समुदाय में रहने वाले लोगों के बीच आत्मीयता तथा परस्पर सहयोग की भावना सदैव पायी जाती है। सुरक्षा की दृष्टि से

भी उनका साथ रहना एक दूसरे को नजदीकी संबंध से जोड़ता है। आदिम जाति के लोगों के बीच इस भौगोलिक क्षेत्र के आधार पर उनका आवासीय क्षेत्र इस प्रकार बना होता है कि अगर उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर भी जाना होता है तो उनके आवासीय क्षेत्र का पुनर्निर्माण पूर्व अवस्था के अनुरूप ही होता है। ब्रिटिश सामाजिक मानवशास्त्रीय बी० मैलिनोअस्की ने ट्रोब्रिआड समुदाय के आवासीय क्षेत्र का वर्णन करते हुए बताया कि उनका घर एक खास संकेन्द्रित तरीके से सजा होता है, जहाँ पर इन आदिवासी का निवास स्थान होता है वहीं दूसरी ओर जो आंतरिक चक्र है वहाँ उनके द्वारा उत्पादित 'चाय' व फसल को रखा जाता है। उस चक्र के चारों तरफ जो घर बने होते हैं वो एक-दूसरे के सामने होते हैं तथा इस चक्रिय आवासीय स्थल के मध्य में आदिवासी मुखिया का घर बना होता है। इस प्रकार के आवासीय क्षेत्र की बनावट का वर्णन करते हुए मैलिनोअस्की ने बताया कि उस समुदाय के लोग ऐसे आवासीय क्षेत्र में रहते हुए न केवल एक दूसरे के नजदीक रहते हैं अपितु सुरक्षित भी महसूस करते हैं।

अक्सर ग्रामीण समुदाय के आवासीय क्षेत्र का भू-स्थल एक खास क्रम में बना होता है जिसके कारण उस ग्रामीण समुदाय के सदस्यों के बीच आवासीय क्रम में बने घरों के कारण ज्यादा निकटता तथा आवेगात्मक संबंध पाया जाता है। परंतु इस प्रकार के समुदाय में रहने वाले व्यक्ति के लिए एक केन्द्रीय स्थान भी बना होता है जहाँ वे बैठकर सभा या त्योहार में एक साथ मिलकर जश्न भी मनाते हैं।

सामाजिक संपूर्णता

समुदाय एक छोटे इकाई के रूप में निश्चित क्षेत्र में रहते हुए संपूर्ण सामाजिक जीवन व्यतीत करते हैं। सामाजिक रूप से संपूर्ण होने का तात्पर्य यह है कि वे एक छोटे गणराज्य के रूप में रहते हैं जो अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति उस समूह के सदस्य के रूप में ही कर लेते हैं। इस प्रकार यह समुदाय एक स्थानीय समूह का अभिन्न अंग बन जाते हैं जिनसे सभी संस्थाएं, इच्छाएं, आकांक्षाएं व जरूरतों की पूर्ति एक समाज में ही हो जाती है। इसीलिए समुदाय को एक पूर्ण समाज के रूप में भी देखा जा सकता है। इसे अपने समूह के अलावा किसी और दूसरी एजेंसी, समूह की जरूरत महसूस नहीं होती इसलिए इनका संबंध किसी अन्य संस्था, समाज, समूह व जाति या राष्ट्र से नहीं होता है।

इस प्रकार के समुदाय जो सामाजिक दृष्टि से संपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं-उनका रूप निर्धारित होता है। यह अपने आप में एक स्वतंत्र इकाई के रूप में रहता है जिसके अपने निर्धारित लक्ष्य व उद्देश्य होते हैं। अक्सर इस प्रकार के समुदाय कि बात हम आदिम जाति तथा आदिवासियों के संदर्भ में करते हैं जो सदियों से किसी पठारी क्षेत्र में रहते आ रहे हैं और उनका संपर्क किसी भी सभ्य समाज से नहीं हो पाया है। इस प्रकार के समुदाय में रहने वाले सभी सदस्यों का संबंध इसी समूह से जुड़ा होता है।

मैकाइवर तथा पेज ने भी क्षेत्रियता तथा सामुदायिक भावना को समुदाय के निर्माण का एक महत्वपूर्ण आधार माना है। उन्होंने भी एस्किमो तथा जिप्सी समूह का उदाहरण देते हुए इस बात पर बल दिया है कि निश्चित भू-भाग पर किसी भी समुदाय के विशिष्ट पहचान का द्योतक होता है। साथ ही सामुदायिक भावना से जुड़े होने के कारण किस स्थान पर वे रहते हैं वह उनका सांझा स्थान होता है जो उनके बीच एक संवेदनात्मक संबंध स्थापित कर उन्हें एक-दूसरे के बीच भावनात्मक स्तर पर ले आता है। मैकाइवर तथा पेज ने समुदाय के आत्मनिर्भरता के गुणों की बात करते हुए यह बताया है कि सभी समुदाय अपने आप में एक स्वतंत्र इकाई के रूप में काम करते हैं। परंतु उनका संबंध दूसरे समाज व समुदाय से भी रहता है। आधुनिक समुदाय का स्वरूप आजकल काफी बदल गया है। शहरों में भी समुदाय हो सकते हैं जिसके सदस्य प्राथमिक समूह की तरह ही एक-दूसरे से जुड़े होते हैं परंतु अपनी जरूरतों के लिए इनका संपर्क दूसरे समाज व समूह से भी रहता है। इस प्रकार छोटे समुदाय बड़े समुदाय के अंतर्गत हो सकते हैं। ठीक उसी प्रकार इनका संबंध होता है जैसे एक बड़े क्षेत्र के अंतर्गत एक छोटा क्षेत्र अवस्थित होता है और एक क्षेत्र, राष्ट्र के अधीन होता है। विकास की प्रक्रिया में संभवतः समुदाय की आत्मनिर्भरता का आधार क्रमशः समाप्त होने लगा है।

19वीं सदी के अधिकांश समाजशास्त्रियों ने समुदाय के अवधारणा को दोहरे स्तर पर देखा है। कुछ समाजशास्त्रियों ने समुदाय के दोहरे स्वरूप को प्रत्यक्ष रूप से चित्रित किया है तो कुछ अप्रत्यक्ष रूप से इसके दोहरे स्वरूप की बात करते हैं।

प्रत्यक्ष रूप से समुदाय के दोहरे स्तर की व्याख्या

प्रत्यक्ष रूप से जिन समाजशास्त्रियों ने समुदाय के दोहरे स्तर की व्याख्या की है उसमें जर्मनी के समाजशास्त्री फर्डिनांड टानिज का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिन्होंने जेमाइन्शाफ्ट तथा गेजेकशाफ्ट के रूप में समुदाय और समाज के रूप में वर्णन

किया है। निम्नलिखित चार्ट के द्वारा फर्डिनांड टानिज ने प्रत्यक्ष रूप से समुदाय की व्याख्या करते हुए इसकी तुलना समाज से की है और इन दोनों के अंतर को स्पष्ट किया है। जहाँ एक ओर समुदाय की व्याख्या करते हुए उन्होंने समुदाय के गुणों को आवेगात्मक श्रेणी में रखा है जहाँ व्यक्ति की चेतना मानसिक उदगारों और संवेदनाओं से जुड़ी होती ही है दूसरी ओर समाज की तुलना उन्होंने उसके उपयोगितावादी सोच से की है जहाँ वह अपने व्यवहार को लाभ-हानि के मानदंड पर रखकर फैसला करता है।

इसी प्रकार ड० दुर्खिम ने भी यांत्रिक और सावयवी एकता का वर्णन किया है। अपनी पुस्तक *डिविजन ऑफ लेबर* में उन्होंने बताया कि जनसंख्या के घनत्व, संचार के संसाधनों में विकास के फलस्वरूप यांत्रिक और सावयवी एकता जो एक-दूसरे के परस्पर विपरीत गुण है उभर कर आते हैं। यांत्रिकी एकता के लक्षण ज्यादातर समुदाय के स्तर पर देखे जाते हैं जबकि वहीं दूसरी ओर स्वजनी एकता के गुण समाज में विशेषकर आधुनिक समाज व औद्योगिक समाज में देखे जा सकते हैं। राबर्ट रेडफिल्ड ने भी प्रत्यक्ष रूप से इस प्रकार के दोहरे समाज का ग्रेट ट्रेडिसन तथा लिटल ट्रेडिसन की संज्ञा दी है। ग्रेट ट्रेडिसन शहरी समाज को दर्शाता है वहीं दूसरी ओर लिटल ट्रेडिसन समुदाय का परिचायक है और समुदाय के लक्षण यहाँ देखे जा सकते हैं।

सामाजिक लक्षण	समाज के दोहरे प्रकार	
	जमाइनशाफ्ट (समुदाय)	गेजेलशाफ्ट (समाज)
प्रमुख सामाजिक संबंध	भाईचारा नातेदारी पड़ोस	विनिमय विवेकसंगत सोच
प्रमुख संस्थाएं	परिवार से जुड़े नियम विस्तृत स्वजन समूह	राज्य पूंजीवादी अर्थव्यवस्था
सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति	स्वयं	व्यक्ति
संपत्ति का स्वरूप	जमीन	संपत्ति
कानून के प्रकार	परिवार संबंधित नियम	अनुबंध-नियम
संस्थाओं का क्रम	पारिवारिक जीवन ग्रामीण जीवन नगरीय जीवन	शहरी जीवन विवेक पर आधारित जीवन विश्वव्यापी
सामाजिक नियंत्रण के प्रकार	सामंजस्य जनरीतियां एवं रूढ़ियां धर्म	सम्मेलन कानून जनमत

समुदाय के प्रकार

समुदाय के प्रकार का वर्णन करते हुए कुछ समाजशास्त्रियों ने शहरी समुदाय का भी उल्लेख किया है। वास्तव में 1920 तथा 1930 के दशकों में अमेरिका के शिकागो शहर में समाजशास्त्रियों के एक दल ने यह महसूस किया कि शहरी समाज की परिस्थिति का अध्ययन करना ज्यादा अर्थपूर्ण होगा और इस क्रम में शहरी समाज के साथ-साथ ग्रामीण समाज का भी अध्ययन अप्रत्यक्ष रूप से शहरी समाजशास्त्र के अध्ययन से शुरू हुआ। इस प्रकार से ग्रामीण समुदाय के ऊपर ज्यादा ध्यान देकर अध्ययन किया गया। ग्रामीण समुदाय को समाज का प्राचीन समूह माना जाता है।

जहाँ तक भारतीय समाजशास्त्रियों का प्रश्न है-इन सभी समाजशास्त्रियों ने 1950 तथा 1960 के दशक में सबसे ज्यादा ध्यान ग्रामीण समुदाय के अध्ययन पर ही दिया। भारतीय समाजशास्त्रियों में एस०सी० दुबे, एम० एन० श्री निवास, आंद्र वेतेन,

रामकृष्णन मुखर्जी वे साथ कई विदेशी समाजशास्त्रियों ने भी भारतीय ग्रामीण समुदाय का विशेषतौर पर अध्ययन किया। डेविड पाकक, एफ0जी0 वेली, मैकिम मेरियोट तथा आस्कर लेविस जैसे कछ समाजशास्त्रियों ने विस्तार से ग्रामीण समुदाय का अध्ययन किया। इरावती कार्वे ने भारतीय समाज के तीन महत्वपूर्ण समूहों के अध्ययन पर अत्यधिक बल दिया। उनका कहना था कि भारतीय समाज को संचालित करने वाले ये तीन महत्वपूर्ण समूह हैं'-

- क. ग्रामीण समुदाय
- ख. संयुक्त परिवार
- ग. जाति व्यवस्था

अधिकांश समाजशास्त्रियों ने ग्रामीण समुदाय के अपने अध्ययन में इसके निम्न विशेषताओं का वर्णन किया है:-

1. सामुदायिक चेतना
2. पड़ोस की भूमिका
3. संयुक्त परिवार
4. धर्म में विश्वास
5. सरलता

भारतीय ग्रामीण समुदाय के निम्न विशेषताओं का अक्सर उल्लेख किया जाता है।

1. पृथक स्वरूप तथा आत्मनिर्भरता
2. सरल एवं शांतिप्रिय जीवन
3. गरीबी और अज्ञानता
4. स्थानीय लोक-प्रशासन

आजादी के बाद भारतीय सरकार ने अपने पंचवर्षीय योजनाओं तथा जमीन सुधार के लिए जो वैधानिक तथा सुधारवादी आंदोलन हुए उसके परिणाम स्वरूप ग्रामीण समुदाय के बनावट, प्रकृति तथा इनके कार्यों में गुणात्मक परिवर्तन आये हैं जिसे निम्न स्त्रोतों में आसानी से देखा जा सकता है-

- क. जाति का बदलता स्वरूप
- ख. जजमानी व्यवस्था
- ग. संयुक्त परिवार में परिवर्तन
- घ. विवाह के परंपरागत व्यवस्था में परिवर्तन
- ङ. जीवन शैली में परिवर्तन
- च. अर्थव्यवस्था में बदलाव
- छ. राजनीतिक व्यवस्था में बदलाव

इन परिवर्तनों को ध्यान में रखकर यह कहा जाता है कि भारतीय ग्रामीण-समुदाय के बारे में जो परंपरागत सोच मानी जा रही थी वह सर्वथा गलत साबित हुई है। परिवर्तन की लहर ने ग्रामीण समाज के एकाकीपन व सरल जीवन को इतना प्रभावित किया है कि आज ग्रामीण समुदाय का संबंध शहरी समाज से बाजार के ताकतों के कारण काफी जटिल हो गया है।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समुदाय का स्वरूप वर्तमान समय में काफी परिवर्तित हुआ है। समुदाय के अध्ययन के लिए समाजशास्त्रीय विधि में भी बदलाव आया है। अब भागीदारी निरीक्षण के द्वारा समुदाय का अध्ययन किया जाने लगा है जिसमें व्यक्ति उस समुदाय का एक स्वरूप बनकर उस समाज का अध्ययन करता है। वेरियर एलविन ने इसी प्रकार का अध्ययन उत्तर पूर्व में बसने वाले आदिवासी लोगों के बीच रहकर किया था। अब शहर का अध्ययन करने वाले समाजशास्त्रियों ने भी समुदाय का अध्ययन उस समुदाय के समस्याओं के संदर्भ में भी किया है जिसके कारण समुदाय के

अध्ययन में नयी खोज, नये तथ्य जुड़ गए हैं। लोगों का दृष्टिकोण भी समुदाय के बारे में बदला है। समाजशास्त्रियों ने समुदाय के अध्ययन में जो मानसिक बदलाव है उसे ज्यादा महत्व देते हैं। इसलिए समुदाय का एक प्रतिमान से जुड़ा हुआ स्वरूप है जिसे समझने की आवश्यकता है। आधुनिक समय में समुदाय का एक काल्पनिक स्वरूप भी लोगों के दिमाग में जिसकी चर्चा समाजशास्त्रियों ने अपने अध्ययन के दौरान 'इमैजिन्ड' समुदाय के रूप में किया है

संस्था

संस्था शब्द से अभिप्राय व्यवस्थित सामाजिक व्यवहार से है जिसे समाज में रहकर व्यक्ति सदा नियंत्रित करता है। सामाजिक व्यवहार को एक खास तरीके से नियंत्रित किया जाना किसी भी संस्था के लिए अनिवार्य शर्त है। परंतु नियंत्रण के लिए समाज में नियम बने होते हैं वे सामाजिक प्रतिमानों द्वारा संचालित होते हैं। किसी भी सामाजिक संरचना व सामाजिक व्यवस्था के लिए संस्था का खास महत्व होता है। संस्थाओं द्वारा ही समाज का व्यवस्थित स्वरूप दिखता है। अगर संस्थाएं न हों तो सामाजिक व्यवस्था में अराजकता की स्थिति हो जाएगी और इस समाज को सामाजिक व्यवस्था से संबोधित करना भी गलत होगा। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की लैंगिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए विवाह जैसी संस्था द्वारा नियंत्रित किया गया है और अगर ऐसा न हो तो व्यक्ति और पशु में कोई अंतर नहीं रह जायेगा। उसी प्रकार मनुष्य को धन संचय करने की प्रबल इच्छा को आर्थिक संस्थाओं के द्वारा नियंत्रित किया जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि यौन संबंध मूलतः एक जैविक क्रिया है और विवाह उस यौन क्रिया को संस्थात्मक स्वरूप प्रदान करना है। संबंध बनाने के लिए संचार एक साधन है परंतु भाषा के द्वारा उसे संस्थात्मक स्वरूप दिया गया है। अतः भाषा को भी एक संस्था के रूप में देखा जाता है। पीटर एल बर्जर तथा ब्रिगिट बर्जर यह मानते हैं कि संभवतः भाषा समाज का एक प्रमुख तथा मौलिक संस्था है क्योंकि इसके आधार पर ही दूसरी व्यवस्था चाहे वह राज्य हो या आर्थिक व्यवस्था हो या फिर शैक्षणिक व्यवस्था हो ये सभी मूलतः भाषा के आधार पर ही विकसित हो पाते हैं।

यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मानव समाज में कुछ व्यवस्था का बनाया जाना अनिवार्य होता है अर्थात् व्यवस्था को बनाकर रखने के कुछ अनिवार्य शर्तें होती हैं। इन प्रकार्यात्मक शर्तों का उल्लेख करते हुए टी0वी0 बाटमोर ने निम्न शर्तों को आवश्यक माना है।

- क. संचार की व्यवस्था
- ख. आर्थिक व्यवस्था जिससे उत्पादन और वितरण को नियंत्रित किया जा सके।
- ग. नये पीढ़ी के समाजीकरण के लिए (परिवार तथा शिक्षा)
- घ. सत्ता को नियंत्रित करने के लिए राजनीति प्रणाली
- ङ. धार्मिक अनुष्ठान जो व्यक्तिगत घटनाओं जैसे जन्म, विवाह और मृत्यु को नियंत्रित कर सके।

इन सभी सामाजिक क्रियाओं को नियंत्रित तथा व्यवस्थित करने के लिए कुछ प्रमुख संस्थाओं की जरूरत होती है। प्रत्येक समाज अपनी प्रकार्यात्मक जरूरतों की पूर्ति के लिए संस्थागत नियमों के आधार पर संस्थाओं का गठन करता है जिससे उसकी जरूरतों की पूर्ति की जा सके। इसीलिए जन्म से ही हमारा परिचय इन संस्थाओं के आधारभूत नियमों से होता है जिसे परिवार तथा समाज के सदस्य होने के कारण हम सीखते हैं और अपने व्यवहार को उसके अनुरूप ढाल लेते हैं।

संस्थाओं के महत्वपूर्ण लक्षण

संस्थाएं व्यवहार को नियंत्रित करने का एक प्रमुख साधन हैं इसलिए प्रत्येक संस्थाओं की एक परंपरा और आचारसंहिता होती है। इन परंपराओं के द्वारा हमारे व्यवहार अपने आप नियंत्रित होते रहते हैं क्योंकि इन संस्थाओं का अपना एक नैतिक बल होता है। इसलिए संस्थाओं के इस नैतिक बल के भी अपने कुछ लक्षण हैं जिसे समझना उचित होगा।

बाह्यता

संस्था एक बाहरी सच है जो हमारे बाहर रहते हुए भी हमें तथा हमारे व्यवहार को नियंत्रित करता है। इस प्रकार यह एक बाहरी सच है जो हमारे बाहर रहते हुए अपनी मौजूदगी का एहसास कराता है। संस्थाओं का बाहर होकर हमें प्रभावित करना एक महत्वपूर्ण विशेषता है। उदाहरण के लिए भाषा को ही संस्था के रूप में देखा जा सकता है जो हमारे बाहर होते हुए भी हमारी क्रियाओं को प्रभावित करता है।

वस्तुनिष्ठता

संस्था वस्तुनिष्ठ तरीके से हमारे व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। यह वस्तुनिष्ठ इसलिए हो जाता है क्योंकि इसके इस स्वरूप को हम सभी वास्तविक रूप में स्वीकार करते हैं। भाषागत व्यवहार को ही अगर उदाहरण माना जाये तो यह कहा जा सकता है कि कब हम भाषा की गलती करते हैं और कब गलती नहीं कर रहे होते हैं इसका वस्तुनिष्ठ तरीके से आकलन किया जा सकता है। स्विस बाल मनोवैज्ञानिक जिन पिआजे ने प्रयोग द्वारा यह बताया कि एक बच्चे से पूछा गया कि क्या सूर्य को कुछ और शब्द द्वारा संबोधित किया जा सकता है। उसका उत्तर था नहीं! बच्चे को इसकी जानकारी कैसे मिली। यह बच्चे के लिए भी पहेली से कुछ कम नहीं था। परंतु उसने सूर्य की तरफ इशारा करते हुए बताया कि यह सूर्य है। इस प्रकार जो निरीक्षण के द्वारा भी बताया जा सके उस प्रकार के वस्तुनिष्ठ गुण संस्थाओं की एवं खास पहचान होती है।

बाह्य दबाव

संस्थाओं का एक बाहरी दबाव भी होता है जिसे व्यक्ति चाहकर भी अपने चेतन मन से नहीं हटा सकता। संभव है व्यक्ति अपने कार्य की व्यस्तता के कारण भूल जाये और अगर ऐसा होता है तो अपनी इस गलती का एहसास जनमत के एतराज जताने से तुरन्त हो जाता है। उदाहरण के लिए मंदिर में प्रवेश अगर हम जूता पहन कर करें तो यह गलती चाहे अनजाने में ही क्यों न हुई हो मंदिर में मौजूद लोग विरोध प्रदर्शित करेंगे और हमारी गलती का एहसास दिला देते हैं। इस प्रकार किसी औपचारिक सभा में बिना अनुमति लिए बोलना भी गलत माना जाता है। अर्थात् संस्थाओं का अपना एक अलग तरीका होता है जिसके द्वारा व्यक्ति पर ये संस्थाएं अपना दबाव डालती हैं।

नैतिक बल

प्रत्येक संस्था का एक नैतिक बल होता है जिसके द्वारा संस्थाएं अपना दबाव मनुष्य पर सदैव बनाए रखते हैं। संस्थाओं की वैधानिकता को चुनौती नहीं दी जा सकती क्योंकि इन संस्थाओं को ऊर्जा उसमें निहित नैतिक बल से मिला होता है। इसका उल्लंघन करने वाले को इसकी सजा दी जाती है। झारखंड के आदिवासी समूह संस्थाओं में बिटलाहा जैसे संस्था का प्रावधान है जिसके द्वारा किसी भी व्यक्ति को उनके समाज के नियमों का उल्लंघन करने की छूट नहीं दी गयी है। उनके विवाह के नियम का प्रावधान ऐसा है जिसके द्वारा किसी भी व्यक्ति को अपने आदिवासी समाज से बाहर शादी करने की इजाजत नहीं दी जाती है। और अगर कोई व्यक्ति इसका उल्लंघन करता है तो उसे उस गाँव तथा अपने समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है-उसके घर को विशेषकर रसोई को ध्वस्त कर दिया जाता है। इस प्रकार संस्थाओं का अपना एक अलग नैतिक बल होता है जिसके कारण समाज के नियमों की मर्यादा बनी रहती है।

ऐतिहासिक स्वरूप

संस्थाओं का अपना एक अलग ऐतिहासिक स्वरूप भी होता है जिसके कारण संस्थाएं न केवल एक सच्चाई के रूप में अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं बल्कि वे अपना एक अलग पहचान ऐतिहासिक भूमिका के कारण भी बनाकर रखते हैं। संस्थाओं का अर्थ अचानक ही नहीं बना होता है बल्कि इसके पीछे एक ऐतिहासिक सोच और परंपरा भी जुड़ी होती है। इस दृष्टिकोण से यह भी स्मरण रखना जरूरी है कि संस्थाओं के नियम व्यक्ति के जन्म लेने से पहले ही बने होते हैं। व्यक्ति उन संस्थागत नियमों का सिर्फ पालन करना अपना फर्ज समझता है।

मैकाइबर तथा पेज ने संस्थाओं के अध्ययन के तीन विधि की बात की है जो निम्न हैं:-

क. ऐतिहासिक

ख. तुलनात्मक

ग. परस्पर संबंध

संस्थाओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विवेचन पहले भी किया गया है इसलिए यहाँ तुलनात्मक तथा परस्पर संबंध की चर्चा की जरूरत है। किसी भी संस्था की तुलना की जा सकती है। एक, समाज के विवाह प्रणाली की तुलना दूसरे समाज के विवाह प्रणाली से की जा सकती है। इस रूप में दोनों समाज के विवाह प्रणाली का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए दोनों के बीच में परस्पर संबंधों की भी विवेचना की जा सकती है। फ्रेडरिक इंजेल्स ने अपने पुस्तक *आरिजिन्स ऑफ फ़ैमिली, स्टेट व प्राइवेट प्रापर्टी* में विवाह के प्रणाली का तुलनात्मक अध्ययन निजी संपत्ति के विकास के क्रम तथा राज्य के विकास के क्रम के संदर्भ में किया था।

समाजशास्त्र की मौलिक अवधारणाएँ

मैकाइबर तथा पेज ने संस्थागत नियमों के आधार को रीति-रिवाजों से भी जोड़कर देखा है। रीतिरिवाज, जनरीतियाँ और रुढ़ियाँ ये तीनों एक खास प्रकार के संस्थागत मुल्यों से जुड़े हुए हैं जिनका प्रमुख उद्देश्य है मनुष्य के व्यवहार का नियंत्रण। इन अवधारणाओं के द्वारा भी यह समझा जा सकता है कि ऐसे संस्थाओं का अपना एक नैतिक आधार होता है जिसके द्वारा यह मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित करता है।

समाजशास्त्रियों ने संस्थाओं के अध्ययन में पाँच प्रकार के प्रमुख संस्थाओं का वर्णन व्यापक रूप से किया है ये संस्थाएँ निम्न हैं:-

- क. आर्थिक संस्थाएँ : इसके द्वारा उत्पादन, वितरण और उपभोग जैसे क्रियाओं का वर्णन किया जाता है।
- ख. राजनीतिक संस्थाएँ : इसके द्वारा सत्ता का नियंत्रण किस प्रकार होता है-इसे समझने में मदद मिलती है।
- ग. स्तरीकरण : इसके द्वारा किस प्रकार समाज के वर्ग अपनी स्थिति के आधार पर बंटे होते हैं। उन प्रक्रियाओं को समझा जा सकता है।
- घ. स्वजन संस्थाएँ : इन संस्थाओं से संस्थाएँ विवाह, परिवार और बच्चों के समाजीकरण की क्रिया को समझा जा सकता है।
- ङ. सांस्कृतिक संस्थाएँ : ये संस्थाएँ, धार्मिक, वैज्ञानिक तथा कला के क्षेत्र में संस्थाओं की क्या भूमिका है उसे समझने में मदद करती हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र में संस्थाओं का व्यापक अध्ययन होता है जिसके आधार पर संस्थाओं की भूमिका का अध्ययन होता है।

समिति

समिति से अभिप्राय एक ऐसे संगठित समूह का है, जिसका निर्माण किसी खास उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है। इसलिए मैकाइबर तथा पेज ने समिति को लक्ष्य प्राप्ति का एक साधन मात्र माना है। जिस समाज में हम रहते हैं, जहाँ हम काम करते हैं उन जगहों से हमारी कुछ आकांक्षाएँ जुड़ जाती हैं। अगर उन इच्छाओं की पूर्ति न हो तो हम एक-दूसरे से मिलकर एक समिति का गठन करते हैं जहाँ वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। उसके मकसद को कामयाब करने में समिति उस एक सामाजिक आधार व एक मंच तैयार करके उसकी मदद करता है। समिति के द्वारा व्यक्ति विशेष के तीन लक्ष्यों की पूर्ति होती है:-

- क. वे स्वतंत्र होकर कार्य कर सकते हैं। ये सभी बिना किसी और व्यक्ति के हितों व समाज के हितों की परवाह किये बिना अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए समिति का गठन कर स्वतंत्र रूप से प्रयत्नशील रहते हैं।
- ख. अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिए उनमें आपसी संघर्ष की भी स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार के संघर्ष हानिकारक हो सकते हैं। परंतु अक्सर यह संघर्ष परस्पर प्रतिस्पर्धा से जुड़ा होता है जिसके कारण ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह व्यक्ति अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिए संघर्ष का रास्ता अपनाता रहता है।
- ग. अपने उद्देश्य में सफल होने के लिए व्यक्ति अगर संघर्ष कर सकता है तो वहीं उसके विपरीत सहयोग के द्वारा एक-दूसरे की मदद करते हुए अपने-अपने लक्ष्य की प्राप्ति मिलकर कर सकता है या फिर अलग होकर भी अपने लक्ष्यों से कर सकता है।

समिति की विशेषताएँ

उपर्युक्त विवेचनोपरांत यह स्पष्ट है कि समिति की कुछ विशेषताएँ हैं जिनको समझने के बाद इस अवधारणा से जुड़ा और उससे संबंधित अवधारणा के संबंध की भी चर्चा की जा सकती है। समिति की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:-

- क. सामूहिक शक्ति : किसी भी समिति का बल उसके सामूहिक शक्ति के ऊपर निर्भर करता है।
- ख. निश्चित उद्देश्य : प्रत्येक समिति के कुछ निश्चित उद्देश्य होते हैं जिसके आधार पर समिति का गठन किया जाता है। जैसे ही उस समिति के लक्षण की प्राप्ति हो जाती है वे समिति अपना महत्व खो बैठती है।
- ग. एच्छिक सदस्यता : इसकी सदस्यता एच्छिक होती है। प्रायः वे लोग ही इसके सदस्य बनते हैं जिनका स्वार्थ इस समिति के गठन से जुड़ा होता है।

घ. अस्थायित्व : समिति कभी भी स्थायी रूप से गठित नहीं की जाती हैं। जैसे ही इस समिति के गठन के बाद सदस्यों के उद्देश्य पूरे हो जाते हैं समिति के गठन को समाप्त कर दिया जाता है।

ङ. प्रत्यक्ष स्वरूप : समिति को एक खास उद्देश्य को ध्यान में रखकर गठित किया जाता है इसलिए इसका एक मूर्त स्वरूप होता है।

नियमों पर आधारित औपचारिक संगठन की तरह ये समिति काम करते हैं। ये नियम समिति के सही संचालन में मदद करते हैं।

परिवार एक समिति

परिवार के स्वरूप तथा उसके कार्य को ध्यान में रखकर ग्रामीण परिवार को एक समुदाय के रूप में देखा जाता है। वर्तमान समय में परिवार ने एक समिति का रूप ले लिया है जिसमें वयस्क सदस्य अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इससे जुड़े होते हैं। अर्थात् परिवार का गठन भी कुछ उद्देश्यों को ध्यान में रखकर होता है। जन्म से यद्यपि एक बच्चा परिवार का सदस्य होता है परंतु कुछ समय बाद ही जब वह बड़ा हो जाता है तब वह उस परिवार को छोड़कर नये परिवार का गठन करता है। इस दृष्टिकोण से परिवार को समिति कहा जा सकता है।

राज्य एक समिति के रूप में

राज्य को अक्सर समुदाय के रूप में देखा जाता है। वास्तव में राज्य एक संगठन है। राज्य को चर्च से अलग करके देखा जाता है। चर्च का भी एक संगठन होता है परंतु राज्य का संगठन चर्च जैसे संगठन से बिल्कुल ही भिन्न होता है। चर्च धार्मिक संगठन होता है जबकि राज्य एक राजनीतिक संगठन है। राज्य जैसे संगठन की सदस्यता एक व्यक्ति स्वाभाविक रूप से लेता है जबकि वह परिवार, चर्च तथा क्लब का भी सदस्य हो सकता है।

राज्य को समिति के रूप में देखा जाता है जो अन्य समितियों की तरह नहीं है। उसकी विशेषता का वर्णन करते हुए मैकाइवर तथा पेज ने राज्य को एक विशेष प्रकार की समिति कहा है। सामाजिक व्यवस्था से जुड़े होने के कारण राज्य का अपने अलग स्वरूप होता है जिसे समिति के रूप में भी समझा जा सकता है। राज्य प्राथमिक इच्छाओं के साथ-साथ द्वितीयक लक्ष्य की प्राप्ति में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इसीलिए राज्य को भी समिति के रूप में चित्रित किया जाता है। इसके बावजूद भी यह माना जाता है कि राज्य एक सार्वभौमिक संगठन है जिसका कार्य काफी व्यापक होता है।

समिति और संस्था के बीच अक्सर उलझन की स्थिति बनी रहती है इसलिए इसे समझने के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है:-

समिति	संस्था
1. समिति का गठन नियमों और प्रणाली तथा व्यवस्था को ध्यान में रखकर नहीं होता बल्कि समिति का गठन निश्चित लक्ष्य को ध्यान में रखकर किया जाता है।	1. संस्था में किसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर उसे गठित नहीं किया जाता है बल्कि संस्थाओं में कुछ नियम, व्यवस्था व प्रणाली होते हैं जो व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करता है।
2. समिति का कोई भी नैतिक दबाव नहीं होता है।	2. संस्था का एक नैतिक दबाव होता है।
3. समिति का एक मूर्त स्वरूप होता है।	3. संस्था का कोई मूर्त स्वरूप नहीं होता।
4. समिति की सदस्यता अस्थायी होती है अर्थात् उद्देश्यों के पूर्ति के बाद ही इसे भंग कर दिया जाता है।	4. संस्था स्थायी होता है जिसे भंग नहीं किया जा सकता है।
5. समिति के नियमों का पालन आवश्यक नहीं होता। अपनी स्वेच्छा से इसे नहीं भी माना जा सकता है।	5. संस्था के नियमों का पालन अनिवार्य होता है। इसके नियमों का पालन नहीं किया जाये तो जनमत व्यक्ति के खिलाफ हो सकते हैं।
6. व्यक्ति समिति की सदस्यता लेता है।	6. मनुष्य संस्था का सदस्य नहीं होता बल्कि संस्था के द्वारा वह अपने व्यवहार को नियंत्रित करता है।

सामाजिक समूह

किसी भी सामाजिक व्यवस्था की पहचान सामाजिक समूह है। सामाजिक समूह को बीच का केन्द्र बिन्दू बनाकर समाज शास्त्र कि व्याख्या की जाती है। इस प्रकार सामाजिक समूह मनुष्य के जीवन का एक महत्वपूर्ण संगठन है। मनुष्य के संगठित जीवन का इतिहास बहुत पुराना है। प्राचीन समय में भी जब आदि मानव जंगलों व गुफाओं में रहता था उसने अपने भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समूह बना रखे थे। ये समूह पूरे समाज को संचालित करने वाला एक प्राथमिक तथा मौलिक संगठन था इसमें मनुष्य का जन्म, विवाह और मृत्यु तक उस समूह के साथ उसका संबंध उसके पहचान की स्थिति को दर्शाता था। आज भी आधुनिक युग में हमारा जीवन समूह के द्वारा संचालित होता है। हां! इसका स्वरूप प्राचीन समय की तुलना में काफी बदल गया है।

एबरक्रावी, हिल तथा टर्नर ने सामाजिक समूह को व्यक्ति के सामूहिक अंतःसंबंध तथा सामाजिक संबंध स्थापित करने का प्रमुख स्त्रोत बताया है। इस प्रकार से सामाजिक समूह की परिभाषा देते हुए समाजशास्त्रियों ने इसे मनुष्य के जीवन का प्रमुख आधार माना है। समाज में रहते हुए जब हम समूह की बात करते हैं तो हमारा ध्यान सहज ही परिवार, नातेदारी, ग्रामीण समुदाय, जाति, संयुक्त परिवार, वर्ग या क्लब की तरफ जाता है जहाँ ये सभी किसी न किसी रूप में हमारे जीवन को प्रभावित करते रहते हैं। इन समूहों से हमारा संबंध इतना गहरा होता है कि व्यक्ति अपने आप को इन समूहों से पृथक कर अपने अस्तित्व की कल्पना भी नहीं कर सकता। बेब्टर शब्दकोश में समूह को व्यक्ति के झुंड से जोड़कर देखा है जो सामाजिक संबंध के कारण एकता के सूत्र से बंधे होते हैं। हैरि एम जानसन का मानना है कि सभी समूह में सामाजिक संबंध पाया जाता है परंतु सभी सामाजिक संबंध समूह नहीं होते हैं। एक समूह में सदस्यों के बीच कुछ हद तक सहयोग पाया जाता है जिसके द्वारा सामूहिक लक्ष्य को प्राप्त किया जाता है। जिसबर्ग का मत है कि समूह का वर्णन तथा वर्गीकरण सामाजिक संरचना के निर्माण का आधार बनता है। टी0बी0 वाटमोर ने समूह को परिभाषित करते हुए कहा है कि यह व्यक्ति का एक समूह है जिसमें (क) सदस्यों के बीच एक निश्चित संबंध पाया जाता है जो इसका निर्माण करते हैं तथा (ख) सभी व्यक्ति को इस समूह के प्रतीक तथा समूह का ध्यान होता है। जैसे सिख, जैन तथा इसाई धर्म के समूह की पहचान उनके पहनावे से होता है। इसाई धर्म के मानने वाले लोग क्रॉस पहनते हैं। विवाहित महिलाएं ही सिंदूर लगाती हैं।

समूह के लक्षण - उक्त परिभाषा से समूह के निम्न लक्षणों की पहचान की जा सकती है।

- क. कोई एक व्यक्ति समूह का निर्माण नहीं करता। समूह को बनाने में कई लोगों का योगदान होता है।
- ख. समूह की सदस्यता या तो औपचारिक होती है या अनौपचारिक।
- ग. समूह से जुड़े लोगों में सहयोग तथा एकता की भावना बनी होती है।
- घ. समूह के सभी सदस्यों के बीच स्थायी रूप से सामाजिक संबंध पाया जाता है।
- ङ. समूह का एक सामूहिक उद्देश्य होता है।
- च. प्रत्येक समूह का एक प्रतीक चिन्ह, एक पहचान होती है जिसे सभी सदस्य समझते हैं।

समूह का वर्गीकरण

समूह का वर्गीकरण कई आधार पर किया जाता है। समूह का निर्माण जिन आधार पर किया जाता है उनके लक्ष्य अलग-अलग हो सकते हैं इसलिए उनके निर्माण व संगठन, आकार, प्रकृति तथा स्थायित्व को ध्यान में रखकर समूह को कई वर्गों में बांटा गया है। समनर ने अपनी पुस्तक 'फोकवेज' (1907) में अंतःसमूह (In Group) तथा बाह्य समूह (Out Group) के रूप में बांटा है। अंतःसमूह से तात्पर्य अपने समूह से होता है जिसमें 'हम' (We) का आवेग छुपा होता है वहीं इसके विपरीत समूह कि से दूसरा कहते हैं उसे दूसरे (They) से संबोधित किया जाता है। अपना समूह व्यक्ति का स्वयं का समूह होता है जिसका पहचान स्पष्ट होता है। परिवार, स्वजन, समुदाय ऐसे समूह हैं जिससे व्यक्ति विशेष का एक व्यक्ति संबंध होता है जिसके कारण उसे समूह को अंतःसमूह की संज्ञा दी जा सकती है। वह समूह जिसका व्यक्ति सदस्य नहीं होता है और जिसका वह ज्यादा संबंध नहीं बनाता है वह दूसरे (They) समूह होते हैं। इस प्रकार इस वर्गीकरण में मनुष्य के चेतन अवस्था तथा उसके प्रत्यक्ष और वस्तुनिष्ठ संबंधों के आधार पर समूह बने होते हैं।

इसी प्रकार जर्मनी के समाजशास्त्री जार्ज सिमेल ने व्यक्ति के अंतःसंबंध की प्रक्रिया तथा संगठन को ध्यान में रखकर समूह का वर्गीकरण 'मोनाड' जिसमें एक व्यक्ति को संबंध बनाने का प्रमुख कर्ता माना जाता है और इसी संदर्भ में 'डियाड' तथा

'ट्रियाड' समूह की चर्चा की है जिसमें एक व्यक्ति के स्थान पर क्रमशः दो और तीन व्यक्तियों को ध्यान में रखकर समूह का संगठन बना होता है। इसे आधार बनाकर कई समाजशास्त्रियों ने लघु स्तर तथा वृहत स्तर के समूह का वर्णन किया है। इन सभी समूहों में सामाजिक अंतःसंबंध की प्रक्रिया भी भिन्न पायी जाती है। समूह के काफी विकसित संगठन भी हो सकते हैं और इस रूप में उस समूह का कार्यक्षेत्र तथा कार्य क्षमता वृहत हो सकता है तथा समूह का कार्य क्षेत्र तथा कार्यक्षमता छोटे स्तर का भी हो सकता है।

समूह का वर्गीकरण संगठन के प्रकृति को ध्यान में रखकर भी किया गया है संगठन के आधार पर अमेरिका के समाजशास्त्री सी०एच० कुले ने 'प्राथमिक समूह' की चर्चा अपने पुस्तक 'सामाजिक संगठन' (1909) में किया था। यद्यपि प्राथमिक समूह के विश्लेषण के संदर्भ में ही 'द्वितीय समूह' की चर्चा भी की गयी परंतु द्वितीय समूह की अवधारणा का वर्णन उन्होंने विस्तृत स्तर पर नहीं किया। प्रायः प्राथमिक समूह की विशेषताओं का वर्णन करते हुए द्वितीय समूह की बात भी विस्तार से की जाती है। प्राथमिक समूह का विवेचन करते हुए कुले ने कहा इस समूह में व्यक्ति के संबंध आमने-सामने के होते हैं जिसमें एक-दूसरे का सहयोग करते हैं। प्राथमिक तथा द्वितीय समूह के निम्न विशेषताओं का विस्तार से वर्णन किंगस्ले डेविस ने अपनी पुस्तक हुयमैन सोसाइटी में किया है। इसी प्रकार के संगठित समूह की चर्चा फर्डिनांड टानिज ने अपने अवधारणा जेमाइनशाफ्ट तथा गेजेलशाफ्ट में किया है जिसका अर्थ 'समुदाय' और 'समाज' है। फ्रांस के समाजशास्त्री इ० दुर्खीम ने प्राथमिक समूह के संगठन को ध्यान में रखकर यह बताया कि इस प्रकार के समूह में भौतिक एकता पायी जाती है और इसके विपरीत श्रम विभाजन तथा औद्योगिक विकास के क्रम में एक-दूसरे द्वितीय स्तर का समूह भी उभर कर आता है जिसमें सावयवी एकता देखी जा सकती है। ब्रिटेन के समाजशास्त्री हर्बर्ट स्पेंसर के संगठन तथा प्रकृति को ध्यान में रखकर ही 'सरल' और 'जटिल' समूह का विश्लेषण किया है। उनके अनुसार जटिल समूह अपने प्रकृति के कारण और भी जटिल हो सकता है जिसे डब्ली कंपाउंड और ट्रेवली कंपाउंड समूह की संज्ञा देते हैं।

प्राथमिक समूह के भौतिक स्थिति को ध्यान में रखकर निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है।

आमने-सामने का संबंध

व्यक्ति इस प्रकार के समूह में आमने-सामने का संबंध रखते हैं इसलिए इस प्रकार के समूह में वे समूह आते हैं जिसमें हम रहते हैं जैसे परिवार, गाँव, पड़ोस आदि जहाँ एक व्यक्ति का सीधा संपर्क दूसरे व्यक्ति के साथ होता है। इस समूह के तीन और लक्षण देखे जा सकते हैं।

नजदीक का संबंध

इस प्रकार के प्राथमिक समूह में भौतिक स्तर पर सदस्य एक दूसरे के नजदीक होते हैं जिसके कारण सुख-दुख में सदैव वे एक-दूसरे के साथ होते हैं। जार्ज हर्बर्ट मीड ने इस प्रकार के समूह का वर्णन प्रतीक व संकेतों के द्वारा भी किया है जिसमें हाथ मिलाना, गले लगना, साथ घूमना, साथ उठना-बैठना सभी नजदीकी संबंध को दर्शाते हैं।

समूह का छोटा आकार

यह समूह छोटा होता है इसलिए सभी व्यक्ति का एक दूसरे से अंतःसंबंध घनिष्ठ होता है।

स्थायित्व

इस समूह का स्थायी स्वरूप भी होता है। स्थायी रूप से सदस्य इस समूह के अभिन्न हिस्से बनकर रहते हैं।

प्राथमिक संबंध का चरित्र

सामूहिक लक्ष्य

इस समूह के लोगों के बीच का संबंध सामूहिक होता है इसलिए इनके लक्ष्य एक होते हैं और लक्ष्य तथा उद्देश्य को लेकर वैचारिक मतभेद नहीं पाया जाता है।

संबंध अपने आप में साध्य होते हैं और इसलिए संबंध के गुणवत्ता को सभी स्वीकार करते हैं और संबंधों को बनाये रखना ही उनका धर्म और अंतिम लक्ष्य बन जाता है।

व्यक्ति संबंध

समूह के सदस्यों के बीच का संबंध व्यक्तिगत होता है इसलिए उनके संबंध को बताने के लिए किसी औपचारिक स्तर पर नियम बनाने की जरूरत नहीं होती।

संबंध अपने आप में पूर्ण होता है

इसलिए प्रत्येक क्षेत्र में इस समूह के सदस्य एक-दूसरे के इच्छाओं व आकांक्षाओं को अपना मानते हैं। सभी एक-दूसरे को अच्छी तरह जानते हैं इसलिए सदस्यों के बीच किसी भी माने में कोई गोपनीयता नहीं पायी जाती। समूह के सदस्यों के बीच पारदर्शिता भी पायी जाती है।

संबंध प्राकृतिक व नैसर्गिक होते हैं

सदस्यों के बीच संबंध में कोई कृत्रिमता या बनावटपन नहीं होता। जैसे माँ का अपने परिवार के सदस्यों के साथ एक प्राकृतिक संबंध हो जाता है। उसी प्रकार इस समूह के सदस्यों के बीच प्राकृतिक संबंध पाया जाता है।

इसके विपरीत द्वितीयक समूह की उपर्युक्त लिखे सभी बातों की तुलना में विपरीत स्थिति होती है। आमने-सामने का संबंध नहीं होता। सदस्यों के बीच दूर का संबंध होता है। आकार बड़ा होता है। संबंध स्थायी नहीं होते। यहाँ लक्ष्य सामूहिक न होकर व्यक्तिगत होते हैं। संबंध के बजाय व्यक्ति अपने स्वार्थ को पहचानते हैं। व्यक्तिगत संबंध के बजाय उनके बीच का संबंध औपचारिक होता है। इन सदस्यों के बीच का संबंध अपने आप में पूर्ण नहीं होता। इस समूह के लोगों के बीच संबंध बनाये जाते हैं इसलिए संबंधों की पहचान बनाये गये नियमों पर टिका हाता है जिसे व्यक्ति स्वतंत्र व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए औपचारिक तरीके से बनाता है। इसलिए यहां संबंध व्यक्तिगत नहीं होता है बल्कि औपचारिक होता है।

भौतिक शर्तें	सामाजिक विशेषताएं	संबंधों का नमूना	समूह का नमूना
प्राकृतिक समूह क्षेत्रीय स्तर पर नजदीकी	लक्ष्यों को प्रधानता	दोस्त-दोस्त संबंध पूर्ण होते हैं। दूसरे व्यक्ति का पूरा ख्याल रखना	क्रीड़ा समूह पति-पत्नी परिवार
छोटी संख्या स्थायित्व	स्वतंत्र और संबंधों में प्राकृतिक आकर्षण अनौपचारिक रूप से संबंध नियंत्रित होते हैं।	माता-पिता और बच्चे शिक्षक-छात्र	गाँव व पड़ोस सामूहिक कार्य
द्वितीय समूह क्षेत्रीय स्तर पर दूरी वृहत संरचना अस्थायित्व	लक्ष्यों में दूरी संबंधों का बाह्यपन दूसरे व्यक्ति का सीमित ज्ञान बाहरी दबाव का महसूस करना औपचारिक नियंत्रण	किरानी-ग्राहक वक्ता-श्रोता अभिनेता-दर्शक अधिकारी-कर्मचारी लेखक-पाठक	देश चर्च का स्तरीकरण व्यवसायिक समिति निगम

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि समूह कई प्रकार से बने होते हैं और समूह के व्यापक अर्थ, लक्ष्य और उसके क्रिया-कलापों को समझने के लिए समूह की बनावट, उसकी भूमिका तथा उसके लक्ष्य को ध्यान में रखकर ही उसका सही वर्णन किया जा सकता है।

सामाजिक संरचना

सामाजिक संरचना समाजशास्त्र की एक मौलिक अवधारणा है परंतु उसकी व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गयी है। हर्बर्ट स्पेंसर जैवीकीय अनुरूपता से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने सामाजिक संरचना की तुलना मानव शरीर से की। उनका कहना था कि जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग होते हैं और वे सभी शारीरिक बनावट को बनाये रखते हैं उसी प्रकार समाज के भी विभिन्न अंग होते हैं जो समाज के बनावट को बनाये रखते हैं। रेडक्लिफ ब्राउन का मत था कि जब कभी हम सामाजिक संरचना का उल्लेख करते हैं तो सामाजिक संरचना से हमारा अभिप्राय एक व्यवस्था से होता है जिसमें उस व्यवस्था व संरचना के विभिन्न तत्व एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। तत्वों के इस समीकरण और व्यवस्थित पद्धति को ही संरचना कहा जा सकता है। सामाजिक संरचना के संदर्भ में व्यक्ति को उस संरचना की इकाई मानते हैं। व्यक्ति सामाजिक संरचना में एक स्थान पर बने होते हैं। उनका एक व्यवस्था में स्थान ग्रहण करना एक सामाजिक प्रक्रिया के तहत होता है। जिसके अंतर्गत कुछ प्रतिमानों के कारण उन्हें वह स्थान मिला होता है। इस प्रकार सामाजिक संरचना व्यक्ति का एक व्यवस्थित रूप है जिसमें उनके सामाजिक संबंध किसी खास संस्थात्मक मूल्यों से नियंत्रित होते हैं। अगर हम परिवार के बनावट की बात करें तो उस परिवार में रहने वाले लोगों की बात करेंगे जो लोग उस परिवार के कुछ संबंधों से जुड़े होते हैं। उस परिवार के सदस्य की एक खास भूमिका अदा करना पड़ता है। इस प्रकार एक संगठन में सभी व्यक्तियों को अपनी-अपनी भूमिका अदा करने के लिए एक-दूसरे से जुड़ा होना आवश्यक है।

एस0एफ0 नाडेल ने भी संरचना शब्द की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए इसे एक व्यवस्थित समग्र के अंग से जोड़कर देखा है जिसमें उस व्यवस्था से सभी तत्व एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। उनके अनुसार समाज में तीन तत्व सदैव मौजूद रहते हैं।

क. मानव समूह

ख. संस्थात्मक प्रतिमान जिसके कारण किसी समूह के सदस्य एक दूसरे से अंतःसंबंध के कारण संपर्क में आते हैं।

ग. इन अंतःसंबंधों का संस्थात्मक स्वरूप

ये सभी प्रतिमान व नियम व्यक्ति की स्थिति और भूमिका को निर्धारित करते हैं। सामाजिक संरचना की व्याख्या करते हुए कुछ समाजशास्त्रियों ने इससे स्थायी संबंधों की बात को भी महत्व दिया है। उनका मानना है कि किसी भी बनावट से हमारा तात्पर्य उस बनावट को बनाने वाले उन अंगों से है जो स्थायी रूप से उस बनावट को बनाये रखने में अपना महत्वपूर्ण योगदान देते हैं इस विचार को प्रकट करते हुए हैरी एम0 जानसन ने भूमिका तथा उपसमूह के संरचनात्मक संबंध के परस्पर आत्मनिर्भरता की बात पर बल दिया है। प्रतिमानों के दो स्वरूप की चर्चा करते हुए उन्होंने निम्न प्रतिमानों का उल्लेख किया है।

क. प्रतिमान जो क्रियाओं के अपेक्षित भूमिका का वर्णन करते हैं जिसमें परिवार के भूमिका को सकारात्मक माना जाता है और इस प्रकार पिता का अपने पुत्र के प्रति वफादारी दिखाना इसका एक उदाहरण है।

ख. दूसरे प्रतिमान को नियंत्रात्मक प्रतिमान कहा जा सकता है जिसके कारण प्रतिमान द्वारा व्यक्ति के व्यवहार नियंत्रित होते हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सामाजिक संरचना की व्याख्या करते हुए अधिकांश समाजशास्त्रियों ने दो सैद्धान्तिक पक्ष को उजागर किया है। पहले श्रेणी में हम उन सैद्धान्तिक विचार की बात कर सकते हैं जिसमें सामाजिक संरचना का एक ऐसा स्वरूप होता है जिसे देखा व परखा जा सकता है। प्रकायवाद के सिद्धान्त में सामाजिक संरचना का एक स्पष्ट स्वरूप है जिसका वर्णन किया जा सकता है।

दूसरी श्रेणी में उन समाजशास्त्रिय रचनाओं की बात की जाती है जिसमें समाज की बनावट का अमूर्त स्वरूप होता है जिसे देखा व परखा नहीं जा सकता है।

तीसरे प्रकार के विचार को कुछ समाजशास्त्रियों के सैद्धान्तिक रूप से उभारा है जिसमें सामाजिक संरचना के संबंधों को स्थायित्व मिलता है। संबंधों को एक वास्तविक आधार मिलता है। रेडक्लिफ ब्राउन तथा एस0एफ0 नाडेल दोनों इस विचार के हिमायती थे जिन्होंने सामाजिक संरचना के कुछ स्थायी तत्वों की बात की जिससे व्यक्ति के व्यवहार भी नियंत्रित होते हैं और उनके व्यवहार को नियंत्रित करने का एक संस्थात्मक आधार मिलता है।

टालकाट पारसंस का कहना था कि सामाजिक व्यवस्था के द्वारा समाज की बनावट को समझा जा सकता है। उनका विचार था कि किसी भी सामाजिक संरचना को समझने के लिए उस समाज के मूल्यों का तथा उसके संस्थात्मक स्वरूप को समझना आवश्यक है। उनके अनुसार किसी भी सामाजिक व्यवस्था को चार प्रमुख सामाजिक कार्य स्थायी रूप से निष्पादित करने पड़ते हैं -

- क. अनुकूलन : इसके अनुसार भौतिक पर्यावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करना होता है।
- ख. लक्ष्य उपलब्धि : समाज में व्यक्ति व समूह के बीच लक्ष्य निर्धारित करना तथा उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए काम करना सम्मिलित होता है।
- ग. प्रतिमान-अनुरक्षण : कार्यों को संपादित करने के लिए उत्साहवर्धन करना।
- घ. एकीकरण : आंतरिक सम्बन्ध स्थापित कर एकीकृत करना भी उस समाज का कर्तव्य हो जाता है।

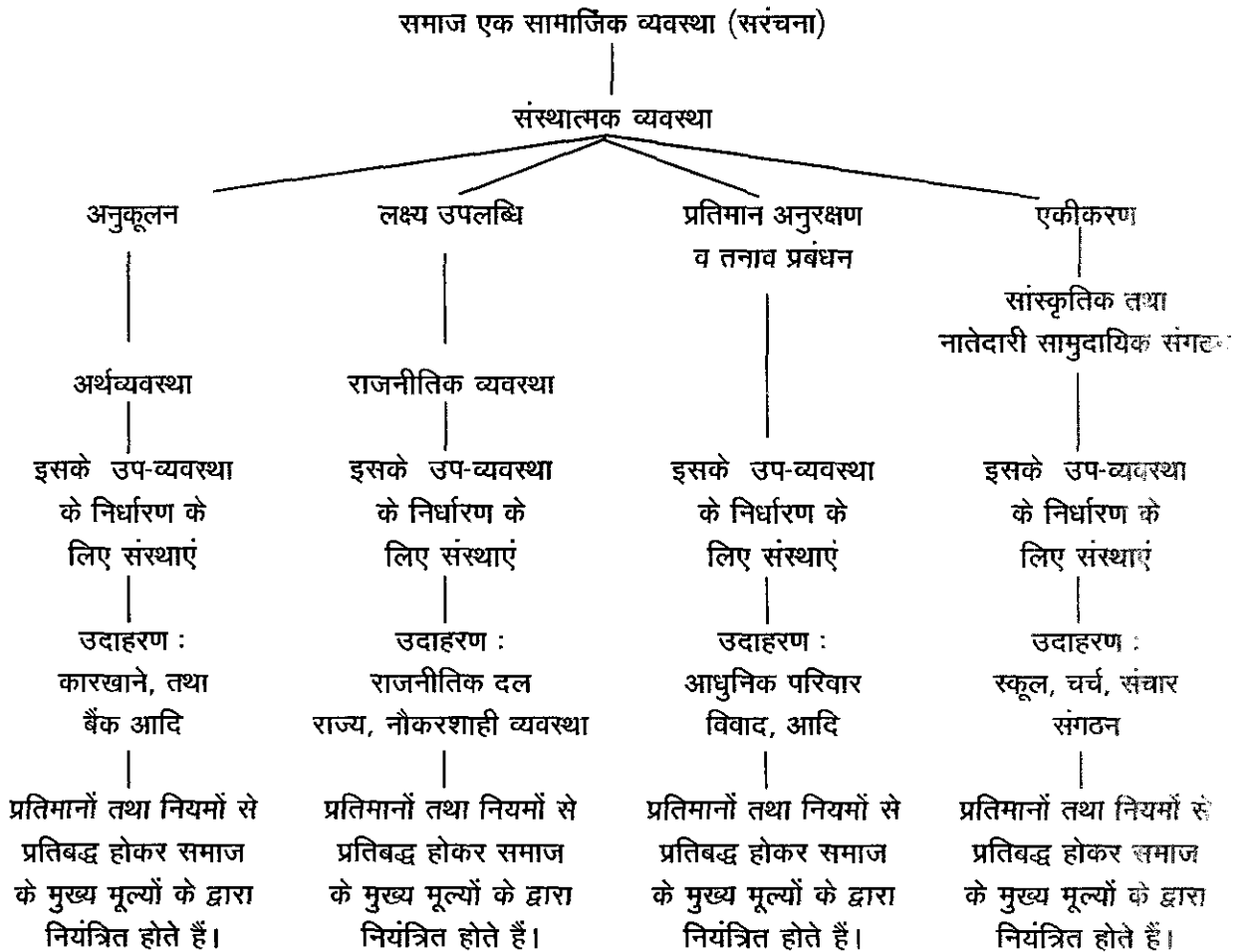
इन सभी कार्यों को अच्छी तरह संपादित करने के लिए उपसमूह होते हैं। जिन उपसमूह को सामाजिक व्यवस्था से जुड़कर काम करना होता है और ये सभी कार्य एक संस्थात्मक तरीके से निष्पादित होते हैं। अनुकूलन का कार्य निष्पादित होता है आर्थिक व्यवस्था के द्वारा जो सामाजिक व्यवस्था के अंग या महत्वपूर्ण इकाई के रूप में कार्य करता है।

इसी प्रकार लक्ष्य उपलब्धि का कार्य राजनीतिक व्यवस्था से होता है जो सामाजिक व्यवस्था के एक अंग या महत्वपूर्ण इकाई के रूप में यह कार्य करता है।

प्रतिमान अनुरक्षण के कार्य का निष्पादन स्वजन अर्थात् नातेदारी द्वारा होता है।

एकीकरण का कार्य सांस्कृतिक व्यवस्था तथा सामुदायिक संगठन के द्वारा निष्पादित होता है।

इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था के कार्य को निपटाने के लिए एक स्थायी संरचनात्मक तत्व समाज में विद्यमान होते हैं जिसे निम्न चार्ट के द्वारा बेहतर तरीके से समझा जा सकता है।



इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सामाजिक संरचना की अवधारणा को एक महत्वपूर्ण अवधारणा तथा सिद्धान्त से जोड़कर देखा जा सकता है। सामाजिक संरचना की अवधारणा को संघर्ष के सिद्धान्त से जोड़कर भी देखा जाता है परंतु सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में इसके सिद्धान्तों को कुछ समाजशास्त्रियों ने पहचाना है परंतु इसकी विवेचना से अभी भी परंपरागत समाजशास्त्री परहेज करते हैं।

स्थिति तथा भूमिका

स्थिति तथा भूमिका, समाजशास्त्र में सामाजिक संबंधों के अध्ययन के एक खास विषय है। समाज में मनुष्य की विभिन्न क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। हम अपने दैनिक जीवन में विभिन्न लोगों के साथ मिलते हैं। उनके साथ संबंध स्थापित होते हैं। संबंध को स्थापित करते समय हम व्यक्ति विशेष के स्थान और उसके भूमिका से भी अवगत होते हैं। जैसे ही हमें पता चलता है कि जिस व्यक्ति के साथ हम संबंध बना रहे हैं वह व्यक्ति डॉक्टर, प्रोफेसर, वकील या राजनेता हैं तो उसी के अनुरूप हम अपने व्यवहार को नियंत्रित करते हुए उससे मिलने की तैयारी करते हैं। इसके साथ ही समाजशास्त्र में हम वैसी परिस्थितियों का भी अध्ययन करते हैं जब व्यवहार के बारे में पहले से कुछ तैयारी नहीं की जाती। अचानक या फिर अनायास ही हमें परिस्थितियों के अनुरूप व्यवहार में परिवर्तन लाना पड़ता है। इन परिस्थितियों तथा अंतःसंबंध के विभिन्न पद्धतियों के संदर्भ में भूमिका तथा स्थिति का अध्ययन निश्चय ही काफी दिलचस्प प्रतीत होता है।

जहाँ तक भूमिका का प्रश्न है किंगस्ले डेविस के अनुसार इसका आकलन व्यक्ति के स्थान से लगाया जाता है। अगर उस व्यक्ति का स्थान ऐसा है कि उसे ही एक टीम का नेतृत्व करना है तो ऐसी स्थिति में उसकी जिम्मेवारी बढ़ जाती है और उसकी भूमिका में भी अपेक्षित बदलाव देखा जा सकता है जो अन्य टीम के सदस्यों की तुलना में बिल्कुल ही अलग हो सकता है। इस प्रकार व्यक्ति के स्थान को ध्यान में रखकर ही उस व्यक्ति की भूमिका का आकलन किया जा सकता है। इस प्रकार किंगस्ले डेविस के शब्दों में किसी व्यक्ति की भूमिका का अंदाज हम उसके वास्तविक रूप की स्थिति को ध्यान में रखकर लगा सकते हैं अर्थात् जिस प्रकार वह अपने स्थिति के अनुरूप कार्य करता है वह उसके भूमिका का द्योतक है। इसीलिए भूमिका को किंगस्ले डेविस ने स्थिति का 'गतिशील पहलू' कहा है। परंतु स्थिति के अतिरिक्त और भी कई ऐसे पहलू हैं जो व्यक्ति की भूमिका को निर्धारित व नियंत्रित करते हैं। सामाजिक बनावट के दृष्टिकोण से जब हम भूमिका पर विचार करते हैं तो उसमें सदैव एक प्रकार का नयापन और अनुमान नहीं लगा पाने में दुविधा रहती है। जब हम एक नेता को चुनकर संसद या विधान सभा में भेजते हैं तो हम उम्मीद करते हैं कि वह किस प्रकार काम करेगा परंतु संभव है वह नेता हमारे उम्मीद के ही अनुरूप नहीं काम करे। इसीलिए भूमिका के बारे में कोई भी भविष्यवाणी या पूर्वानुमान लगाना एक पहेली है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भूमिका से हमारा अभिप्राय है व्यक्ति विशेष का अपने स्थिति व स्थान के आधार पर प्रतिबद्ध होकर काम करना। एक व्यक्ति की भूमिका उसके निजी गुणों पर नहीं वरन् उसके सामाजिक स्थान से जुड़ा होता है। उदाहरण के लिए एक शिक्षक का व्यवहार उसके व्यक्तिगत गुणों के बजाय उसके सामाजिक स्थिति के कारण संचालित होता है। इसीलिए वह अपने स्थिति को ध्यान में रखकर तथा समाज से प्रभावित होकर वह कार्य करता है।

व्यक्ति के भूमिका को लेकर समाज शास्त्र में ही दो विचारों को सिद्धान्ति आधार पर मान्यता प्राप्त है। पहला व्यवस्थित प्रयोग जार्ज हबर्ट मीड ने 1934 में किया। उनके अनुसार भूमिका अंतःसंबंधों की प्रक्रिया में देखने को मिलता है। इसे अपनाकर लोग अपने व्यवहार को संचालित करते हैं। मीड ने इस बात का खुलासा किया कि भूमिका सीखा जाता है। मनुष्य उस समाज का एक अंग बनकर अपनी भूमिका की पहचान करता है और उसी के अनुरूप कार्य संपादित करता है। बच्चों में खासकर काल्पनिक रूप में भूमिका को निर्वाह करने की क्षमता होती है। कल्पना के द्वारा एक बच्चा डाक्टर, टीचर, वकील, जज और नेता की भूमिका को बेखुबी अपनाकर उसके अनुरूप काम करता है। प्रत्येक भूमिका दूसरे व्यक्ति के भूमिका के संदर्भ में होती है। भूमिका का जान-बूझकर निर्वाह भी सामाजिक क्षेत्र में होता है। हम अपने सामाजिक जीवन में हमेशा दूसरे के भूमिका के बारे में विचार करते हैं। दूसरे की भूमिका के आधार पर हम अपनी भूमिका को नियंत्रित करते हैं। सामाजिक अंतर्क्रियावादी सिद्धान्त के पक्षधर यह मानते हैं कि भूमिका का निष्पादन मनुष्य के व्यवहार को स्थायित्व प्रदान करता है। इसलिए सामाजिक क्षेत्र में जो लोग इन भूमिकाओं का निर्वाह करते हैं उनके व्यवहार में एकरूपता देखी जा सकती है।

इसके साथ ही जो दूसरा सिद्धान्त देखने को मिलता है वह राल्फ लिटन (1936) के नाम से जुड़ा है और जिसे प्रकार्यवादी सिद्धान्त से जोड़कर देखा जाता है। इस विचार के समर्थक यह मानते हैं कि भूमिका सदैव प्रस्तावित होता है जिसका सीधा संपर्क उस समाज के संस्कृति से होता है। इस संस्कृति से जुड़े हुए विचार के अनुसार भूमिका को हमेशा दूसरी भूमिका के

संदर्भ में पहचाना जा सकता है व्यक्ति हमेशा संस्कृति द्वारा परिभाषित भूमिका की जानकारी रखते हैं और उसी के अनुरूप अपनी भूमिका को नियंत्रित करते हैं।

कई परिस्थितियों में व्यक्ति को ऐसी भूमिका का निर्वाह करना पड़ता है जो उसके ऊपर दबाव डालते हैं जिसके कारण दो या दो से अधिक भूमिका का निर्वाह करते हुए भूमिका संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। दो या दो से अधिक ऐसी भूमिकाओं के बीच विसंगति तथा विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिससे भूमिका-संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कई बार दोस्त के नाते या परिवार के रिश्ते के नाते असमंजस की स्थिति पैदा हो जाती है। व्यक्ति अपने औपचारिक कार्यों के निष्पादन में दोस्ती या रिश्तेदारी का फर्ज अदा करने में अपने आप को असमर्थ पाता है।

कुछ ऐसे भी क्षण आते हैं जब व्यक्ति निर्णय लेने में अपने आप को असमर्थ पाता है। परंतु कुछ क्षेत्र जैसे मिलेटरी में अनुशासन या नियमों को इतना कठोर बना दिया जाता है कि कोई भी व्यक्ति फैसला लेते समय नियमों की मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर पाता है। अर्थात् ऐसे परिस्थिति में जो ऑफिस की भूमिका है वह इतनी प्रभावी होती है कि व्यक्तिगत दबाव का उन पर कोई असर नहीं हो पाता। और ऐसे क्षणों में अपने आप भूमिका से दूरी बनाने में व्यक्ति सफल हो पाता है। फिर भी यहां ग्रह ध्यान रखना आवश्यक होगा कि किसी भी अंतःसंबंध की क्रिया में इस प्रकार से दबाव तथा विसंगति सरचनात्मक तत्वों के साथ जुड़े होते हैं।

स्थिति का अभिप्राय है व्यक्ति द्वारा एक स्थान पर बने रहने से जो व्यक्ति को या तो ऑफिस अनौपचारिक रूप से मिलता है या फिर उस समाज के द्वारा उसे दिया जाता है। किसी-किसी समाज में स्थान व स्थिति व्यक्ति के वहाँ के रीति-रिवाजों या रूढ़िवादी परंपराओं द्वारा मिली होती है। एक जज को वह पद उसे ऑफिस के द्वारा मिला होता है परंतु अगर वह निम्न वर्ग, अश्वेत हो तो उसे समाज में उसी के अनुरूप वह स्थान नहीं मिल पाता है। अर्थात् श्वेत होना या ब्राह्मण जाति का होना उसकी स्थिति को समाज में निर्धारित करता है। अर्थात् कुछ स्थान व्यक्ति को औपचारिक तरीके से मिलते हैं और कुछ अनौपचारिक तरीके से मिलते हैं। औपचारिक तरीके से एक हरिजन संसद का सदस्य चुना जा सकता है परंतु इस आधार पर वह हरिजन एक ब्राह्मण लड़की से विवाह नहीं कर सकता है।

इस प्रकार यह समझना आवश्यक है कि किस आधार पर कुछ लोगों को तथा स्थितियों में स्थान प्रदत्त होता है और कुछ लोगों का तथा स्थितियों में वह स्थान अर्जित होता है। प्रदत्त तथा अर्जित स्थिति दो अलग अवधारणा है जिसे समझना आवश्यक है।

(क) प्रदत्त स्थिति के आधारभूत तत्व : प्रदत्त स्थिति का आधार व्यक्ति में निहित होता है। यह माना जाता है कि व्यक्ति में कुछ प्राकृतिक गुण ऐसे हैं जिसके कारण उस व्यक्ति को वह स्थान दिया जा सकता है। यह भी माना जाता है कि व्यक्ति के अन्दर वह गुण पहले से ही विद्यमान है जिसके लिए किसी परीक्षण व निरीक्षण की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार के स्थिति के कुछ आधार होते हैं जो निम्न हैं:

जन्म

ये स्थिति उस व्यक्ति को जन्म से मिली होती है। जन्म ही किसी व्यक्ति के स्थान का निर्धारण करता है। राजा को यहां से आ उसका पुत्र राजा के मरणोपरांत राजा बनाया जायेगा। जाति में भी जन्म से ही कुछ लोग ब्राह्मण व निम्न जाति में जन्म लेते हैं और जन्म से ही उनके परस्पर स्थिति अलग-अलग हो जाते हैं। जन्म से ही एक बच्चा या तो पुरुष होता है या स्त्री। इस प्रकार लिंग के आधार पर भी जो अंतर पाया जाता है वह जन्म से ही निश्चित हो जाता है।

यहां यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इन स्थिति को न्यायोचित व वैध नहीं बताया जा रहा। यहां सिर्फ इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि समाज में कुछ ऐसे प्रतिमान हैं जिसके कारण एक व्यक्ति को उच्च व निम्न स्थान जन्म से मिलता है। इन स्थितियों के निर्वाह में कितने सफल होंगे इसका सूचक उनकी स्थिति से लगाना गलत होगा। अतः उनके स्थिति से उनके क्षमता व गुणों के बारे में कुछ भी अन्दाज नहीं लगाया जा सकता है।

आयु

आयु के आधार पर कुछ ऐसे लोगों को एक खास स्थान मिलता है। आदिवासी समाज में उम्र के आधार पर वृद्ध लोगों को निर्णय लेने का अधिकार मिला होता है। मैक्स वेबर ने इसे पितृसत्तात्मक परिवार से जोड़कर इसे अनुवांशिक या पैतृक अधिकार की संज्ञा दी है। इसी प्रकार मातृसत्तात्मक परिवार में वृद्ध महिलाओं के अनुवांशिक अधिकार हो सकते हैं। आर०एच० द० वी

ने मसाई समुदाय के आयु संबंधित स्थिति का विस्तार से वर्णन किया है और बताया है कि किस प्रकार आयु या उम्र से उस समाज में लोगों को स्थिति मिला होता है।

स्वजन

स्वजन या नातेदारी भी व्यक्ति के स्थिति का एक महत्वपूर्ण सूचक होता है। एक बच्चा अनुवासिक स्थिति के आधार पर इस अधिकार का प्रयोग करता है जिसे समाज द्वारा मान्यता मिली होती है। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज में रक्त संबंधी रिश्तेदारों की स्थिति विवाद से जुड़े रिश्तेदारों के मुकाबले उच्च मानी जाती है। इसे वैध ठहराना कहां तक उचित है यह अलग बात है परन्तु यहाँ पर यह समझना ही काफी है कि नातेदारी भी स्थिति में अंतर का कारण हो सकता है।

(ख) अर्जित स्थिति: ये स्थिति ऐसे हैं जहाँ व्यक्ति अपने क्षमता, गुणों से अपना स्थान प्राप्त करते हैं। एक व्यक्ति सफल व्यापारी, उद्योगपति अपने गुणों के आधार पर बनता है जो उसे जन्म के आधार पर नहीं मिला होता है बल्कि इसे वह व्यक्ति अपने गुणों के आधार पर मेहनत के द्वारा हासिल करता है। प्रायः आधुनिक समाज में व्यक्ति यह स्थान अपने मेहनत से हासिल करता है। परन्तु परंपरागत समाज तथा आदिवासी समाज में लोगों को उनका स्थान जन्म के द्वारा प्रदत्त होते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्थिति में विविधता या भिन्नताओं के आधार अलग-अलग हो सकते हैं।

संस्कृति

संस्कृति शब्द एक लोकप्रिय एवं प्रचलित अवधारणा है जिसका साधारण अर्थ जितना सरल है उतना तकनीकी दृष्टिकोण से नहीं है। साधारण रूप में संस्कृति शब्द से अभिप्राय संस्कार व सुलझे हुए व्यवहार से किया जाता है। इसके शब्दिक अर्थ पर अगर ध्यान डालें तो पता चलता है कि यह शब्द लैटिन के कोलियर (Colere) शब्द से लिया गया है जिसका अर्थ खेती से है। मध्यकालीन युग में इसका अर्थ खेती के कार्य में जो परिवर्तन या बदलाव आया है उससे मिला गया और इस प्रकार यह शब्द खेती करने की कला से जुड़ गया। 18वीं तथा 19वीं सदी में इसका अर्थ लोगों के तौर-तरीके में बदलाव तथा सुधार से किया जाने लगा और मनुष्य के उच्च कोटी के व्यवहार को संस्कृति (culture) की संज्ञा दी गयी। जर्मन शब्द Kulture का अभिप्राय भी जीवन में सभ्य तरीके से काम करने की पद्धति से जुड़ा है।

परन्तु समाजशास्त्रियों ने संस्कृति की परिभाषा अलग से दी है। 1871 में ही एडवर्ड वी. टाइलर ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए कहा, संस्कृति वह जटिल संपूर्णता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, रचनाएं, नैतिकता, विधि प्रथाएं और वे सभी योग्यताएं एक क्षमताएं सम्मिलित की जाती हैं जिन्हें समाज के एक सदस्य के रूप में मान अर्जित करता है। इसी संदर्भ में राल्फ लिंटन का कहना था, "किसी समाज की संस्कृति उस समाज के सदस्यों का जीवन है, उनके विचारों और आदतों का सम्मिलित स्वरूप है जिसे वह समाज में सीखता है, बांटता है और एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी को हस्तांतरित करता है।" क्लाड कलकहान ने संस्कृति को मनुष्य के पूरे जीवन काल से जोड़कर वर्णन किया है। इस प्रकार संस्कृति का तकनीकी दृष्टिकोण से जो अर्थ निकाला जाता है वह प्रतिमानों के संदर्भ से जुड़ा है। संस्कृति मनुष्य के संस्थात्मक व्यवहार का प्रतीक है जिसमें व्यक्ति के व्यवहार जो वह समाज में रहकर निष्पादित करना है उसकी झलक मिलती है।

विशेषताएं

समाजशास्त्रियों की तरह ही सामाजिक मानवशास्त्र में भी संस्कृति शब्द के विशेष अर्थ की व्याख्या विस्तार से की गयी है। ब्रिटिश तथा अमेरिकन मानवशास्त्रियों ने विशेषकर इस शब्द का विस्तार से वर्णन किया है। अमेरिकन मानव शास्त्रियों ने विशेषकर इस शब्द का विस्तार और उसके किये गये कार्यों से जोड़कर देखा है। मैलिनोस्की ने संस्कृति को मनुष्य द्वारा निर्मित संपदा बताया है और इसे मनुष्य के लक्षित उद्देश्य को प्राप्त करने का एक साधन बताया है। इस प्रकार हर्सकोबिट द्वारा दिये गये संस्कृति तथा अन्य विद्वानों ने परिभाषाओं को ध्यान में रखा जाये तो संस्कृति ने निम्न तत्वों का उल्लेख किया जा सकता है:

1. संस्कृति को सीखा जाता है।
2. संस्कृति का अर्थ, जैविकीय, वातावरण, मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक तथ्यों से जोड़कर देखा जाता है।
3. संस्कृति का निर्माण संगठित विचार, मनोदशा तथा व्यवहार से होता है।

4. संस्कृति के विभिन्न पहलू होते हैं।
5. संस्कृति गतिशील होता है।
6. संस्कृति परिवर्तनशील होता है।
7. संस्कृति सतत् होता है जिसके निरंतरता को विज्ञान के विधि द्वारा विश्लेषित किया जा सकता है।
8. संस्कृति एक जटिल साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति एक परिस्थिति से दूसरे परिस्थिति के अनुरूप अपने आप को ढाल लेता है।
9. संस्कृति को समाज से अलग रखकर नहीं देखा जाता है।
10. प्रत्येक संस्कृति की एक सांस्कृतिक धरोहर होती है जिसे हम अपनी आने वाली पीढ़ी को सौंप देते हैं और सभी पीढ़ी में इसके कुछ तत्व जुड़ते हैं तो वहीं कुछ तत्व छूट भी जाते हैं।
11. संस्कृति के तत्व एक समाज से दूसरे समाज के लिए मिल ही जाते हैं। बल्कि एक ऐतिहासिक अवस्था के दूसरे ऐतिहासिक अवस्था में ही इसमें परिवर्तन देखा जा सकता है।

संस्कृति के तत्व

अंतः संबंध की प्रक्रिया में संस्कृति के कई तत्व परिलक्षित होते हैं। संस्कृति के अंतर्गत सभी भौतिक तथा अभौतिक तत्वों का समावेश होता है। भौतिक तत्वों का मूर्त रूप होता है जिसे देखा, परखा व आंका जा सकता है। इसके विपरित अभौतिक चीजों में वो तत्व आते हैं जो अमूर्त होते हैं। विचार, आदतें, प्रतिमान, विश्वास आदि ये सभी मनुष्य के ऐसे स्वरूप हैं जिसे देखा नहीं जा सकता है। सर्बट ब्रिस्टेड ने तीन तत्वों को संस्कृति का मुख्य तत्व माना है जो निम्न हैं:

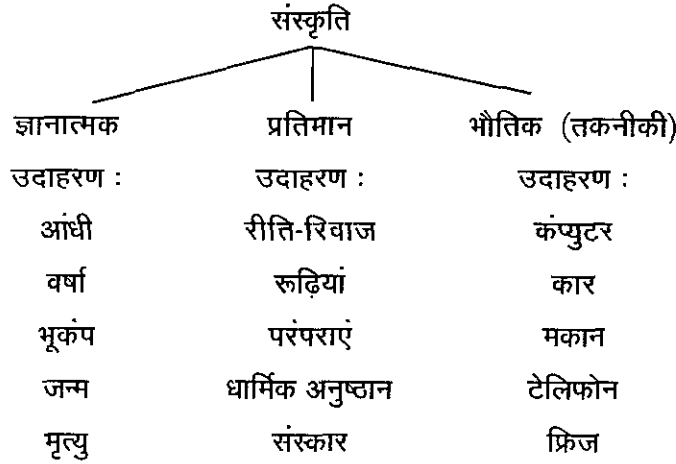
(क) जनात्मक: समाज में रहने वाले व्यक्ति का सबसे पहला संपर्क उसे अपने भौतिक तथा सामाजिक वातावरण से होता है जिससे वह प्रभावित होकर उसके बारे में पूरी जानकारी प्राप्त करना चाहता है। यहाँ तक ही आदिवासी लोगों को जो दूर दराज जंगलों व गुफाओं में रहते थे उन्हें भी अपने सामाजिक परिवेश तथा वातावरण की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक हुआ करता था। अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिए उन्हें यह जानना आवश्यक था कि भोजन के तलाश में उन्हें कहीं जाना है, प्रकृति के प्रकोप से कैसे बचना चाहिए और भयानक जानवर, आँधी, तूफान, बाढ़ तथा दूसरे घातक चीजों से बचने का तरीका क्या है।

(ख) प्रतिमान से संबंधित पहलू: प्रतिमान को संस्कृति का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। प्रतिमान के अंतर्गत नियम, आकांक्षाओं तथा कार्यशैली स्थापित तरीके सभी इसके साथ जुड़े होते हैं। इन सभी परिस्थितियों में जिसमें लोगों की भागीदारी होती है वे सभी प्रतिमानों से जुड़े होते हैं। इन्हीं प्रतिमानों के कारण मनुष्य के संबंधों में एक क्रमबद्धता तथा स्थायीत्व पाया जाता है। इसके फलस्वरूप मनुष्य के व्यवहार के बारे में कुछ हद तक निश्चित रूप से अनुमान लगाया जा सकता है। प्रतिमानों से जुड़े रीतिरिवाज, रूढ़ियां तथा परंपराएं आदि जुड़ी होती हैं जो व्यक्ति के व्यवहार को संचालित करते हैं।

समाज के कौन-से प्रतिमान व मूल्य ज्यादा महत्व रखते हैं उसे समाज के प्रतिमानों से ही जाना जा सकता है अर्थात् संस्कृति में एक प्रतिमानों के संरचनात्मक पहलू भी विद्यमान होते हैं जिसका आकलन किया जा सकता है। विलियम ने निम्न आधार पर प्रतिमानों में कौन-से प्रतिमान ज्यादा महत्वपूर्ण है इसका उल्लेख किया है।

- क. मूल्यों की व्यापकता: कई प्रतिमान व मूल्य ऐसे होते हैं जो उस सामाजिक व्यवस्था के संपूर्ण जीवन को प्रभावित करते हैं तो हम उसे ज्यादा महत्वपूर्ण मान सकते हैं।
- ख. स्थायीत्व: अगर कोई प्रतिमान व मूल्य ऐसा हो जो लम्बे अरसे तक उस समाज का हिस्सा रहे हों तो ऐसे मूल्य को भी महत्वपूर्ण माना जा सकता है।
- ग. तीव्रता व कुछ प्रतिमान ऐसे होते हैं जिसकी तीव्रता को सभी लोग स्वीकार करते हैं तो उसे भी हम महत्वपूर्ण मान सकते हैं।
- घ. प्रतिमानों की प्रतिष्ठा व कुछ प्रतिमान व मूल्य ऐसे होते हैं जो उस समाज के प्रतिष्ठा व सम्मान का प्रतीक होते हैं और अगर उसकी अवमानना होती है तो पूरा समाज उससे विचलित हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में प्रतिष्ठा से जुड़े प्रतिमान व मूल्य को भी महत्वपूर्ण माना जाता है।

(ग) भौतिक : संस्कृति के कुछ भौतिक तत्व भी होते हैं जिनमें-कार, टी०वी०, फ्रिज, औजार, हथियार कंप्यूटर, टेलिफोन आदि। ये सभी भौतिक चीजें विज्ञान तथा तकनीकी में परिवर्तन के कारण आये हैं। इन तत्वों को निम्न चार्ट से समझा जा सकता है:



इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समाज में संस्कृति को एक खास स्थान प्राप्त है जिसे सभी लोग स्वीकार करते हैं। समाजशास्त्र में संस्कृति का अध्ययन समाज के प्रतिमानों के दायरे के अंतर्गत किया जाता है और इसकी चर्चा एक विशेष अवधारणा के रूप में कई अन्य अवधारणाओं के साथ जोड़कर भी की जाती है। इस प्रकार इसका व्यापक प्रयोग सामाजिक व्यवस्था को समझने के लिए किया गया है।

सामाजिक प्रक्रिया

समाजशास्त्र में सामाजिक क्रियाओं के परिवर्तित स्वरूप का अध्ययन सामाजशास्त्रियों ने किया है। सामाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन को आधार मानकर सामाजिक प्रक्रियाओं का विस्तार वर्णन किया है। समाजशास्त्रियों ने जिन सामाजिक क्रियाओं को प्रमुख माना है, उन प्रक्रियाओं में दो प्रकार की प्रक्रियाओं की प्रधानता रही है। पहली प्रक्रिया वह प्रक्रिया है जिनके द्वारा समाज में स्थायित्व बना होता है, और यह प्रक्रिया समाज में सामाजिक सम्बन्धों को पुष्ट करती है। यह कहा जा सकता है कि इन प्रक्रियाओं के द्वारा समाज में निरंतरता बनी होती है। इसके साथ-साथ समाज में कुछ ऐसी भी प्रक्रियाएँ घटित होती हैं जो समाज की निरंतरता को चुनौती देती हैं। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में समाज के स्थायित्व को चुनौती देने वाली इन क्रियाओं को विघटनात्मक प्रक्रियाओं से जोड़ कर देखा जाता है। ऐलेक्स इन्कलेस का यह प्रतिक्रियाओं का सम्मिलित स्वरूप होता है और यह दोनों प्रक्रियाएं सामाजिक जीवन को गतिशील बनाए रखने में एक महत्वपूर्ण योगदान देती हैं। मेकाइबर, तथा पेज ने सामाजिक प्रक्रिया का अभिप्राय, सामाजिक परिवर्तन से लगाया है। उनका मानना था कि सामाजिक प्रक्रियाएँ एक निरंतर परिवर्तन की प्रक्रिया है जो एक निश्चित स्वरूप को बनाने वाले तत्व सामाजिक परिस्थितियों में ही मौजूद होते हैं।

जीसबर्ग ने सामाजिक क्रिया का वर्णन करते हुए इसे अंतः सम्बन्ध की विभिन्न प्रणालियों से जोड़कर देखा है। उनका यह कहना था कि यह अंतः सम्बन्ध व्यक्तियों के बीच तथा समूह के बीच हो सकते हैं जहाँ सहयोग तथा संघर्ष, सामाजिक विभिन्नता और एकीकरण, विकास, तथा विकास का अविरुद्ध करने वाले तत्व सभी देखे जा सकते हैं। इस प्रकार सामाजिक प्रक्रियाओं में सामाजिक सम्बन्धों के बदलते स्वरूप का अध्ययन किया जाता है। इसलिए कुछ सामाजशास्त्रियों ने सामाजिक प्रक्रिया का अध्ययन किए जाने पर विशेष जोर दिया था। जॉर्ज सिमेल का यह मत था कि समाज में सामाजिक क्रियाओं के दो निम्न स्वरूप होते हैं:

1. सहचारी सामाजिक प्रक्रिया (Associative Social Process)
2. विघटनकारी सामाजिक प्रक्रिया (Dissociative Social Process)

समाजशास्त्रियों ने सामाजिक प्रक्रिया के अध्ययन में इन दोनों प्रक्रियाओं का अध्ययन किया है।

सहयोग और संघर्ष

सहयोग तथा संघर्ष, समाज के दो ऐसी प्रक्रियाएँ हैं जिनका समाजशास्त्र में एक महत्वपूर्ण स्थान है। समाजशास्त्र में सामाजिक व्यवस्था कैसे बनती है, इसका विस्तार से अध्ययन किया गया है। वास्तव में अगर देखा जाए तो समाजशास्त्रियों

को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है, एक वर्ग वह है जो सहयोग को महत्व देता है, और दूसरा वर्ग वह है जो संघर्ष को प्रमुख मानता है। सहयोग को प्राथमिकता देकर जिन समाजशास्त्रियों ने सामाजिक सिद्धांत दिए हैं, उसका वर्णन हमने प्रकार्यात्मक सिद्धांत से जोड़कर पहले अध्याय में किया है। प्रकार्यात्मक सिद्धांत को मानने वाले समाजशास्त्रियों का यह मत था कि समाज, सामाजिक व्यवस्था का एकीकृत स्वरूप है। समाज के संरचनात्मक तत्वों के बीच सदैव एकरूपता बनी रहती है। इस विचार को प्रकट करने वालों में हर्बर्ट स्पेन्सर, दुर्खिम, रेडक्लिफ ब्राऊन, मैलिनोस्की, टी. पार्सन्स और आर.के. मर्टन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं इनके प्रकार्यात्मक सिद्धान्त को 'कनसेन्सस' (Consensus Model) मॉडल की संज्ञा दी जाती है। इन सभी समाजशास्त्रियों ने सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए सहयोग को एक आवश्यक शर्त बताया है। इसके विपरीत जिन समाजशास्त्रियों ने संघर्ष को एक महत्वपूर्ण सामाजिक प्रक्रिया बताया है, उनमें कार्ल मार्क्स, जॉर्ज सिमेल, राफ़ डेहरेनडाफ़, तथा रेन्डल कॉलिन्स के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, इन सभी ने संघर्ष को सामाजिक परिवर्तन का महत्वपूर्ण कारण बताया है। इन समाजशास्त्रियों के विचारों को 'कनफ्लिक्ट मॉडल (Conflict Model) से जोड़ कर देखा जाता है। इस अध्याय में सबसे पहले सहयोग की अवधारणा पर विचार करेंगे और उसके बाद संघर्ष की अवधारणा की चर्चा करते हुए इन दोनों अवधारणाओं की विशेषताओं तथा सामाजिक परिवर्तन में इन दोनों सामाजिक प्रक्रियाओं की क्या भूमिका होती है इस पर विचार करेंगे।

सामाजिक सहयोग की प्रणाली

जब हम सहयोग की चर्चा करते हैं, तब सहयोग से हमारा तात्पर्य सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने वाले नियम से होता है, अर्थात् सहयोग से हमारा तात्पर्य एक समूह के निर्धारित लक्ष्य प्राप्ति के लिए आम सहमती के द्वारा काम करने से है। टुन तथा सेलजेनिक ने सहयोग के सामूहिक स्वरूप का वर्णन करते हुए इसे संयुक्त रूप से काम करने की प्रवृत्ति बताया है। सहयोग की परिभाषा देते हुए किंगस्ले डेविस का कहना था कि सहयोगी समूह वह है जो एक साथ मिलकर एक लक्ष्य जो वांछित होता है, उसे प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। मेकाइबर तथा पेज का भी कहना था कि मनुष्य एक दूसरे के नजदीक के सहयोग के कारण ही आते हैं, बिना सहयोग के सामूहिक लक्ष्य की प्राप्ति संभव नहीं। उन्होंने सहयोग के दो मुख्य प्रकार बताए हैं:

- क. प्रत्यक्ष सहयोग (Direct Cooperation)
 - ख. अप्रत्यक्ष सहयोग (Indirect Cooperation)
- क. प्रत्यक्ष सहयोग के अंतर्गत सामूहिक रूप से व्यक्ति लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक दूसरे का सहयोग करते हैं। एक साथ खेलना, एक साथ पूजा करना, एक साथ खेती करना, यह सभी उस प्रत्यक्ष सहयोग के उदाहरण हैं। यद्यपि इस प्रकार के सहयोग में प्रत्येक व्यक्ति का योगदान अलग-अलग हो सकता है, परन्तु लक्ष्य की प्राप्ति सामूहिक रूप से स्वीकार की जाती है इसलिए इसे प्रत्यक्ष सहयोग कहा जाता है। प्रत्यक्ष सहयोग के एक और महत्वपूर्ण पहलू का वर्णन करते हुए मेकाइबर का कहना था कि जब व्यक्ति किसी कार्य को करने में स्वयं सफल नहीं हो पाता, तब वह अपने परिवार के व अपने समूह के किसी अन्य सदस्य का सहयोग पाकर वह काम कर लेता है अर्थात् जो काम व्यक्ति अकेले नहीं कर सकता वह दूसरों की मदद से कर सकता है।
- ख. अप्रत्यक्ष सहयोग में सभी व्यक्ति श्रम विभाजन के कारण एक दूसरे से अलग होकर अपना काम करते हैं और इस प्रकार सामूहिक रूप से एक लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होते हैं। इस प्रकार श्रम विभाजन एक ऐसी प्रक्रिया है जो सभी व्यक्तियों को सामूहिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अलग-अलग काम करने का अवसर प्रदान करती है। परिवार के सदस्य अलग-अलग अपना काम करते हैं, जिससे परिवार का काम चलता रहता है और परिवार सदस्यों के बीच एकता की भावना बनी रहती है। कारखाने, सरकार, प्रशासनिक व्यवस्था, शोध संस्थाएँ इन सभी जगह लोग एक दूसरे से अलग रहकर काम करते हैं और इस प्रकार के अप्रत्यक्ष सहयोग के कारण उस संगठन के कार्य संपादित होते रहते हैं। सहयोग के इन दो स्वरूपों के अतिरिक्त निम्न तीन प्रकार के सहयोग का भी समाजशास्त्रियों ने वर्णन किया है:

- क. प्राथमिक सहयोग (Primary Co-operation)
- ख. द्वैतीयक सहयोग (Secondary Co-operation)
- ग. तृतीयक सहयोग (Tertiary Co-operation)

प्राथमिक सहयोग की भावना परिवार जैसे प्राथमिक समूह में दिखाई पड़ती है। यहाँ पर परिवार के सदस्यों के बीच एक स्वाभाविक रूप से सहयोग की भावना पाई जाती है। इस प्रकार की भावना खेल के मैदान में, टीम के सदस्यों के बीच देखी जा सकती है।

द्वैतीयक सहयोग में, सहयोग की भावना व्यक्तिगत नहीं होती परन्तु औपचारिक स्तर पर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ सहयोग करते हैं। इस प्रकार के सहयोग की भावना सरकारी कारखाने, मंदिर या फिर मजदूर यूनियन में देखी जा सकती है।

तृतीयक सहयोग उस प्रकार का सहयोग है जो एक छोटे समूह का बड़े समूह के साथ देखा जाता है, जैसे- आतंकवाद की जो वारदात अमेरिका में 11 सितम्बर, 2001 में बहुमंजली इमारत को ध्वस्त करने के बाद हुई, उसे तृतीयक स्तर का सहयोग कहा जा सकता है। उस घटना के बाद अमेरिका के साथ इंग्लैंड, फ्रांस और अन्य देशों ने भी आतंकवाद के खिलाफ अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इससे लड़ने के लिए एक आम सहमती बनाकर एक-दूसरे से सहयोग करने का निर्णय लिया।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सहयोग की प्रक्रिया, एक ऐसी प्रक्रिया है जिसे समाज के सामूहिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सभी व्यक्ति एक-साथ मिल-जुल के काम करते हैं। जनजातिय समाज में इस प्रकार के सहयोग की भावना प्रत्यक्ष रूप से देखी जाती है।

ई. दुर्खिम ने भी अपने पुस्तक 'श्रमविभाजन' के कारण 'यांत्रिकी एकता' तथा सावयवी एकता समाज के सदस्यों के बीच बनी होती है, इसका वर्णन किया है। धर्म भी एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से सहयोग करने का भाव पैदा करता है, इसलिए प्रकार्यात्मक सिद्धान्त के समर्थकों ने धर्म के द्वारा सहयोग की भावना का विशेष रूप से उल्लेख किया है।

सामाजिक संघर्ष की प्रणाली

सहयोग के साथ-साथ संघर्ष की प्रक्रिया भी एक सामान्य प्रक्रिया है। संघर्ष की प्रक्रिया का वर्णन करने वाले प्रायः यह मान कर चलते हैं कि संघर्ष के द्वारा समाज की व्यवस्था छिन्न-भिन्न जो जाती है, परन्तु इसके बावजूद भी यह कहा जाता है कि सहयोग की तरह संघर्ष भी एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। ब्रुम तथा सेल्जेनिक ने संघर्ष की परिभाषा देते हुए, संघर्ष के लिए स्वार्थों की टकराहट को एक महत्वपूर्ण कारण बताया है। जब एक समूह के सदस्य भौतिक पदार्थों की कमी के कारण, उसे प्राप्त करने के लिए एक दूसरे के खिलाफ कार्य करते हैं, तब इसे संघर्ष कहा जाता है।

ए. डब्लु ग्रीन का मत था कि संघर्ष वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति या समूह अपने विरोधी को प्रत्यक्ष तौर पर चुनौती देकर या दबाव डाल कर अपने उद्देश्य को प्राप्त करना चाहते हैं। गिलिन और गिलिन का कहना था कि संघर्ष एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हिंसात्मक तरीकों का भी सहारा ले सकता है। इसलिए जार्ज सिमेल ने कहा था संघर्ष को विघटनात्मक प्रक्रिया के रूप में देखना भ्रामक होगा क्योंकि इसके कुछ साकारात्मक पहलू भी देखे जा सकते हैं। उन्होंने संघर्ष करने वाले सदस्यों के बीच 'आंतरिक एकता' को एक साकारात्मक लक्षण माना है। परन्तु यह सच है कि संघर्ष में विघटनात्मक तत्वों का जोड़ होता है। संघर्ष के उपर्युक्त विश्लेषणों के बाद यह कहा जा सकता है कि संघर्ष के कुछ महत्वपूर्ण लक्षण भी होते हैं जिसकी पहचान हम सभी को करनी चाहिए। संघर्ष के निम्न प्रकारों का वर्णन मेकाइबर व पेज ने किया है।

क. प्रत्यक्ष संघर्ष (Direct Conflict)

ख. अप्रत्यक्ष संघर्ष (Indirect Conflict)

प्रत्यक्ष संघर्ष में एक सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए व्यक्ति एक दूसरे का सीधा विरोध करते हैं। संघर्ष कई बार हिंसात्मक रूप अख्तियार कर लेते हैं। इसके हिंसात्मक रूप अख्तियार कर लेने पर संघर्ष की प्रक्रिया में आर्थिक कारणों से वर्ग संघर्ष की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है। कार्ल मार्क्स ने वर्ग संघर्ष की अवधारणा के द्वारा यह बताने की कोशिश की थी कि कैसे आर्थिक स्वार्थ की टकराहट से उन्माद की प्रक्रिया में एक वर्ग का स्वार्थ दूसरे वर्ग के स्वार्थ का परस्पर विरोधी होता है जिसके कारण शोषित वर्ग संगठित होकर वर्ग चेतना के आधार पर शोषक वर्ग को हटाकर वर्ग विहित समाज की स्थापना करने का लक्ष्य बनाता है।

जब व्यक्ति या समूह एक दूसरे के सामान्य लक्ष्य को प्राप्त करने में स्वयं तो सफल नहीं होते लेकिन उस लक्ष्य को अगर दूसरे प्राप्त करना चाहें तो उसका मिल-जुलकर विरोध करते हैं, तो ऐसे संघर्ष को अप्रत्यक्ष संघर्ष की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार

यह कहा जा सकता है कि संघर्ष एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें सामाजिक प्रतिमानों का व्यक्तिगत तथा सामूहिक स्तर पर विरोध किया जाता है। सामाजिक प्रतिमानों को नहीं मानने के निम्न कारण हो सकते हैं:

1. कुछ प्रतिमानों को कम महत्त्व दिया जाता है।
2. प्रतिमान एक दूसरे के विरोधी हो सकते हैं, और व्यक्ति को उन्हें मानने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है।
3. एक व्यक्ति सामाजिक प्रतिमानों को नजरअंदाज करते हुए चल सकता है अगर उसे यह पता चल जाता है कि उस प्रतिमान का उल्लंघन करने पर उसके कुछ खास परिणाम नहीं होंगे।
4. सभी प्रतिमान सीखे नहीं जा सकते इसलिए कुछ प्रतिमानों के उल्लंघन से संघर्ष बने होते हैं।
5. संघर्ष में सांस्कृतिक संहिता का भी विरोध किया जाता है।

सामाजशास्त्रियों ने सांस्कृतिक संघर्ष के द्वारा मूल्यों तथा प्रतिमानों के अंतर को बताते हुए उसके परस्पर विरोधी तत्व का उल्लेख किया है। एक सांस्कृतिक संहिता का दूसरे सांस्कृतिक संहिता के साथ संघर्ष कई कारणों से हो सकता है, उनके निम्न कारणों की चर्चा ब्रुम तथा सेल्जेनिक ने की है:

1. एक सांस्कृतिक संहिता के व्यवहार दूसरे सांस्कृतिक संहिता के व्यवहार से बिल्कुल भिन्न हो सकते हैं, जनजातीय संस्कृति में एक जनजाती के टोटम दूसरे जनजाती के टोटम से बिल्कुल भिन्न होते हैं, अगर एक जनजाती समूह के टोटम को पूजता है तो संभव है दूसरे जनजाती उस टोटम को साधारण वस्तु समझे।
2. औपचारिक तरीके से एक प्रतिमान तथा मूल्य को इस तरह से उस समाज में लागू किए जाए की सभी लोग उसका विरोध करने पर बाध्य हो जाएँ। जैसे कुछ इस्लामिक देश में बुर्का जैसी पोशाक पहनने पर स्कूल की लड़कियों को बाध्य किया जाए तो वह उस नियम का बहिष्कार शुरू कर देते हैं। इस प्रकार की स्थिति उपनिवेश ताकतों के चलते गए सांस्कृतिक नियमों के कारण हुए। जैसे अफ्रीका में भी ब्रिटिश हुकुमत के दौरान रेल के प्रथम श्रेणी के डिब्बे में सफर करने का अधिकार सिर्फ अंग्रेजों को था और अप्रत्यक्ष रूप से वहाँ के मूल निवासियों को यह अधिकार नहीं दिया गया था और यह संघर्ष का कारण बन गया। आज भी श्वेत तथा अश्वेतों में रंग भेद की नीति अपनायी जाती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है की संघर्ष के निम्न विशेषताएँ हैं:

1. संघर्ष एक चेतनशील क्रिया है जिसमें स्वेच्छा से विरोध किया जाता है।
2. यह एक व्यक्तिगत क्रिया है।
3. इसमें निरंतरता का अभाव होता है।
4. यह एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है।
5. हिंसात्मक प्रवृत्ति भी संघर्ष में पाई जाती है।

संघर्ष के विभिन्न प्रकारों का वर्णन करते हुए समाजशास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार के संघर्षों का उल्लेख किया है, जो निम्न हैं:

1. युद्ध
2. दलगत संघर्ष
3. मुकदमेबाजी
4. व्यक्तिगत संघर्ष
5. अव्यक्तिगत संघर्ष
6. प्रजातीय संघर्ष
7. वर्ग संघर्ष
8. राजनीतिक संघर्ष
9. अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष

इस प्रकार संघर्ष के विभिन्न स्वरूप देखे जा सकते हैं। समाज में इन संघर्षों में विभिन्न स्वरूपों का अध्ययन विस्तार से किया है। भारतीय समाजशास्त्रियों ने भी संघर्ष के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन किया है। भारत में रहने वाले विभिन्न भाषा तथा धर्म के मानने वाले लोगों में भी भाषा, धर्म, जाती, राजनीतिक दल, मजदूर यूनियन को आधार बनाकर संघर्ष की स्थिति सदैव बनी रहती हैं इन संघर्षों का एक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, तथा सांस्कृतिक स्वरूप भी देखने को मिलता है जिसके कारण आधुनिक युग में विचारधारा के आधार पर जो संघर्ष हुए हैं, उसमें हिंसात्मक वारदातों के कारण जान-माल की क्षति हुई है। जाती के आधार पर संघर्ष तथा सांप्रदायिक दंगों का राजनीतिकरण हो गया है, इसलिए आधुनिक युग में संघर्ष का स्वरूप काफी बदल गया है। आज के समय में विभिन्न वर्ग तथा जाति के लोग संगठित होकर एक सांस्कृतिक मंच तथा समिति का गठन करते हैं जो अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न तरीकों के साथ दबाव समूह (Pressure Group) के रूप में काम करते हैं। अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ये सभी समूह आपस में एक-दूसरे से धुल-मिलकर लक्ष्य प्राप्ति के लिए संघर्ष करते हैं।

रहते हैं। इस प्रकार की प्रक्रिया ने संघर्ष समूह के बीच ही सहयोग की भावना पैदा कर दी है। इन संघर्ष के समूह के सदस्यों के बीच लक्ष्य प्राप्ति के लिए एकता देखी जाती है जिसके कारण वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होते हैं।

इसलिए सहयोग तथा संघर्ष को दो अलग-अलग अवधारणाओं के रूप में देखना उचित नहीं। सहयोग समूह में भी सहयोग की भावना पाई जाती है, इसलिए मेकाइबर तथा पेज ने समाज के संदर्भ में सहयोग तथा संघर्ष का वर्णन करते हुए समाज को एक सहयोगी समूह बताया था जिसमें संघर्ष की प्रतिक्रिया भी सम्मिलित होती है।

प्रतिस्पर्धा

प्रतिस्पर्धा का अध्ययन समाजशास्त्रियों ने एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में किया है जिसे यह कहा जा सकता है कि यह संघर्ष का एक रूपांतरित स्वरूप है। निःसंदेह प्रतिस्पर्धा को सामाजिक संघर्ष की एक अनवरत प्रक्रिया कही जा सकती है। प्रतिस्पर्धा में एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से परस्पर विरोधी प्रयास देखने को मिलता है। ब्रुम तथा सेल्जेनिक का कहना था कि जब एक सीमित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दो या दो से अधिक व्यक्ति या समूह परस्पर विरोधी तरीकों के द्वारा लक्ष्य प्राप्त करने की कोशिश करते हैं तो प्रतिस्पर्धा की प्रक्रिया तेज होती है। मैक्स वेबर ने प्रतिस्पर्धा की परिभाषा देते हुए इसे शांतिप्रिय संघर्ष कहा है जिसमें कम संसाधन को प्राप्त करने की कोशिश व्यक्ति करते हैं। जॉर्ज सीमेल ने प्रतिस्पर्धा को अप्रत्यक्ष संघर्ष मानते हुए यह बताया है कि यहाँ पर प्रतिद्वन्दी भी एक दूसरे को मिटाना नहीं चाहते बल्कि एक दूसरे से आगे निकलना चाहते हैं। जैसे दौड़ की प्रतियोगिता में एक धावक दूसरे धावक से आगे निकलने की इच्छा रखता है उसे मिटाने की बात कभी नहीं सोचता।

कार्ल मार्क्स ने प्रतिस्पर्धा को कभी एक सार्वभौमिक प्रक्रिया नहीं बताया उन्होंने इसे पूँजीवादी व्यवस्था का आवश्यक पहलू बताया है। मार्क्स ने पूँजीवादी सिद्धान्त का वर्णन करते हुए तीन प्रकार के प्रतिस्पर्धा का विश्लेषण किया है जो निम्न हैं:

1. पूँजीवादियों के बीच बाजार को नियंत्रित करने के लिए प्रतिस्पर्धा।
2. मजदूरों के बीच रोजगार पाने की प्रतिस्पर्धा।
3. पूँजी तथा मजदूर के बीच एक-दूसरे के उपर वर्चस्व बनाने की प्रतिस्पर्धा।

इस प्रकार मार्क्स के द्वारा प्रकट किए गए विचारों में प्रतिस्पर्धा के कारण संघर्ष की स्थिति बनी रहती है जिसमें एक श्रमिक क्रांतिकारी वर्ग चेतना के द्वारा वर्ग संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है जिसके परिणामस्वरूप पूँजीवादी व्यवस्था का विनाश संभव होता है। ऐसा मार्क्स का मानना था।

मैक्स वेबर ने जब प्रतिस्पर्धा को एक शांतिप्रिय संघर्ष बताया तब उन्होंने निम्न दो प्रकार के प्रतिस्पर्धा की चर्चा की:

1. नियोजित प्रतिस्पर्धा
 2. अनियोजित प्रतिस्पर्धा
1. नियोजित प्रतिस्पर्धा में एक प्रकार का सामाजिक स्तर पर सदस्यों का चयन होता है। इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा को किसी पद किसी स्थान के लिए एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए शिक्षक बनने के लिए एक प्रकार के चयन की प्रणाली में भाग लेना आवश्यक होता है। जो व्यक्ति इस चयन प्रणाली में सफल होते हैं, उन्हें ही शिक्षक के रूप में चुना जाता है। ऐसी ही प्रतिस्पर्धा प्रशासकीय सेवा में स्थान प्राप्त करने के लिए होती है।
 2. अनियोजित प्रतिस्पर्धा में स्वाभाविक चयन की प्रक्रिया होती है, इस स्वाभाविक चयन की प्रक्रिया में हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ भी देखी जा सकती हैं जिसके कारण प्रतिद्वन्दियों के बीच लक्ष्य प्राप्ति के लिए एक दूसरे को मिटा देने का भाव भी पैदा हो जाता है। उदाहरण के लिए जब भीड़ में किसी कारण से खलबली मच जाए तो सभी लोग प्रयास करते हैं अपनी जान बचाकर भागने की, और इस प्रक्रिया में कभी-कभी छोटे बच्चे व कमजोर लोग दबकर मर भी जाते हैं। इस प्रकार के उदाहरण हम अकसर देखते हैं जब किसी बिल्डिंग में आग लग जाए तो सभी लोग सुरक्षित स्थान पर पहुँचने के लिए बेतहाशा भागने लगते हैं, इस प्रक्रिया में भी जान-माल की क्षति हो सकती है। समाजशास्त्रियों ने प्रतिस्पर्धा का वर्णन करते हुए जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है वह निम्न हैं:

क. प्रतिस्पर्धा अनौपचारिक संघर्ष है।

समाजशास्त्र की मौलिक अवधारणाएँ

- ख. प्रतिस्पर्धा अनौपचारिक क्रिया है।
- ग. प्रतिस्पर्धा सार्वभौमिक क्रिया है।
- घ. प्रतिस्पर्धा प्रेरित करती है लक्ष्य प्राप्ति के लिए।
- ङ. प्रतिस्पर्धा में तरक्की के बराबर मौके दिए जाते हैं।

प्रतिस्पर्धा के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करते हुए निम्न पाँच प्रकार के क्षेत्रों में प्रतिस्पर्धा देखी जा सकता है:

1. आर्थिक
2. सांस्कृतिक
3. सामाजिक
4. राजनीतिक
5. प्रजातीय

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रतिस्पर्धा के विभिन्न आयामों के अध्ययन से सामाजिक प्रक्रियाओं के बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त होती है। समाजशास्त्रियों ने इसके विभिन्न पहलुओं पर विचार करते हुए, प्रतिस्पर्धा के स्थायित्व की भी चर्चा की है। इसके स्थायित्व के साथ-साथ समाजशास्त्रियों ने इसके विभिन्न स्वरूपों का वर्णन, विभिन्न सामाजिक क्षेत्रों में भी किया है। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि कार्ल मार्क्स ने पूँजीवादी व्यवस्था तथा औद्योगिक व्यवस्थाओं के विस्तार से विश्लेषण किया है। इसके तीसरे स्तर पर प्रतिस्पर्धा के जिस रूप का विश्लेषण समाजशास्त्रियों ने किया है, उसमें प्रतिस्पर्धा की भूमिका एक व्यक्ति, दूसरे व्यक्ति के व्यवहार को कैसे नियंत्रित करता है, इस संदर्भ में किया है।

सात्मीकरण

सामाजिक प्रक्रियाओं के अध्ययन में सात्मीकरण प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण स्थान है। इस प्रक्रिया में एक समूह या व्यक्ति एक समूह की संस्कृति को आत्मसात कर लेता है, जिस समूह का वह सदस्य बनना चाहता है। इसलिए मेकाइबर तथा पेज ने सात्मीकरण की प्रक्रिया को एक सौहार्दपूर्ण प्रक्रिया बताया है, इसके सकारात्मक पक्ष का उल्लेख करते हुए मेकाइबर तथा पेज का मत है कि सात्मीकरण की प्रक्रिया में दो व्यक्ति या समूह एक संयुक्त प्रक्रिया में एक-दूसरे के नजदीक आते हैं और एक समूह, दूसरे समूह के संस्कृति, तौर-तरीके को अपना लेता है। इस प्रकार सात्मीकरण की प्रक्रिया एक वृहद प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत एक संस्कृति का अस्तित्व दूसरे संस्कृति के अस्तित्व के साथ घुल-मिल जाता है।

ब्रुम तथा सेल्जेनिक ने सात्मीकरण की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए यह कहा है कि इस प्रक्रिया में एक समूह की पहचान दूसरे समूह में लिप्त हो जाती है। इस प्रक्रिया में उन्होंने संवाद के अवरोध के टूटने को महत्वपूर्ण माना है। निःसंदेह यह प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें एक निम्न स्तर का ग्रुप, उच्च स्तर के ग्रुप में अपनी पहचान खो बैठता है। इस अवधारणा का प्रयोग अमेरिका के प्राजातीय संबंधों की व्याख्या के दौरान दिया गया था जिसमें प्रवासी प्रजाति के सांस्कृतिक स्वरूपों का विलय उच्च प्रजाती के संस्कृति में हो जाता है। आर. पार्क ने इसे एक सैद्धांतिक आधार प्रदान कर इसे प्रजाती का चक्रिय संबंध बताया है। उनके अनुसार समूह के सांस्कृतिक लक्षण आतिथेय (Host) समूह में विलीन हो जाते हैं। इस प्रक्रिया के दौरान आर. पार्क का कहना था कि निम्न चार अवस्थाओं को देखा जा सकता है:

1. संपर्क (Contact)
2. समायोजन (Competition)
3. समायोजन (Accommodation)
4. सात्मीकरण (Assimilation)

इन विभिन्न अवस्थाओं के अर्थात् सात्मीकरण की प्रक्रिया एक स्तरीय प्रक्रिया है जिसमें आप्रवासी समूह अपनी संस्कृति को छोड़कर प्रभावी समूह व समाज के संस्कृति को स्वीकार कर लेते हैं। इसलिए सात्मीकरण की प्रक्रिया को संस्कृति संक्रमण, (Acculturation) की अवधारणा भी कहा जाता है।

सात्मीकरण की प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जो अल्पसंख्यक समाज की संस्कृति की पहचान को नष्ट कर देती है। उपनिवेशवादी ताकतों के दौरान इस प्रकार की प्रक्रिया एक सामान्य रूप की प्रक्रिया के रूप में उभर कर आए जिससे उपनिवेशवादी ताकतों ने वहाँ के सांस्कृति तथा उसके स्वरूप को बदल दिया।

भारत में सामाजिक मानवशास्त्रियों ने सात्मीकरण की प्रक्रिया का अध्ययन सांस्कृतिक संक्रमण के रूप में विस्तार से किया है। भारत की जनजातियों का अध्ययन करते हुए कई सामाजिक मानवशास्त्रियों ने तो इसे सामाजिक एकीकरण के लिए एक उपयोगी प्रणाली माना हैं भारत के प्रसिद्ध मानवसमाजशास्त्री एन. के. बोस ने संस्कृति संक्रमण की इस प्रक्रिया को जनजातियों के संदर्भ में हिन्दुकरण की प्रक्रिया बताया है। उनका मानना था कि जनजातीय समाज एक अल्पसंख्यक समाज है उसे भारत में भारत की संस्कृति के साथ घुल-मिलकर रहना आवश्यक है और इसके लिए यह आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति के तत्वों को वे अपना बना ले। इसके लिए उन्होंने संस्कृति संक्रमण की विधि को एक उपयुक्त विधि बताया।

कई सामाजशास्त्रियों ने सात्मीकरण की प्रक्रिया को एक विचारधारा का दूसरी विचारधारा पर वर्चस्व बताया है। इसलिए इस प्रक्रिया को संस्कृति के दृष्टिकोण से सामाजशास्त्रियों ने उचित नहीं ठहराया है। निःसंदेह यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें अल्पसंख्यकों की संस्कृति का विलय हो जाता है इसलिए इसे राष्ट्रीय स्तर पर अपनाकर भारत के विविध स्वरूप को नष्ट करने का ही एक तरीका समझा जाएगा। इसलिए 'इसे सांस्कृतिक एकीकरण की क्रिया में ज्यादा महत्व नहीं दिया गया है।

अध्याय-3

सामाजिकरण एवं सामाजिक नियंत्रण

समाजशास्त्र में 'सामाजिकरण' शब्द का इस्तेमाल समाज में निरंतरता की प्रक्रिया से जोड़ कर देखा जाता है। समाज में निरंतरता को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि जन्म के साथ ही बच्चे को समाज की प्रतिभाओं तथा मूल्यों से अवगत कराया जाए अर्थात् सामाजिकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बच्चों में समाज के प्रति तथा समाज में पाए जाने वाले प्रतिमानों के द्वारा उसके व्यक्तित्व का विकास होता हो। सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सामाजिकरण की प्रक्रिया एक सीखने की प्रक्रिया है जिसके द्वारा बचपन से ही एक व्यक्ति समाज के प्रतिमानों को अपनाने की कोशिश करता है। यह प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक संस्कृति के चीर स्थापित धरोहर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होते हैं। यह प्रक्रिया निरंतर समाज में स्थाई रूप से चलती रहती है। इस प्रक्रिया को परिभाषित करते हुए समाजशास्त्रियों ने अलग-अलग अपने विचार प्रकट किए हैं। हैरी एम. जोनसन का कहना है कि सामाजिकरण एक सीखने की प्रक्रिया है जिसके द्वारा सामाजिक भूमिका निभाने की क्षमता विकसित करता है। जोनसन का यह मत था कि सभी कुछ सीखने की प्रक्रिया सामाजिकरण नहीं है। समाज के बहुत सारे तत्व ऐसे तत्व हैं जिसे वह सीखता तो है परन्तु उन तत्वों के सीखने का कोई महत्व नहीं होता, इसलिए सीखने की प्रक्रिया में संस्कृति के द्वारा सीखे गए प्रतिमानों व मूल्यों का महत्वपूर्ण हाथ होता है। सैल्विनिक ने सामाजिकरण की प्रक्रिया की परिभाषा देते हुए यह कहा था कि यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक व्यक्ति समूह के मूल्यों को सीखता है।

सामाजिकरण की प्रक्रिया की परिभाषा देते हुए मैकाइबर का कहना था कि यह ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज में रहकर एक व्यक्ति, एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करता है। इस प्रकार वह समाज के अन्य सदस्यों के साथ गहरा सम्बन्ध विकसित करता है और एक-दूसरे के प्रति अपने कर्तव्यों को पहचानते हुए अपने व्यक्तित्व का विकास जटिल समाज के नियमों के अनुरूप करता है, इसलिए किम्बोल यंग ने सामाजिकरण से अभिप्राय व्यक्ति के सामाजिक तथा सांस्कृतिक नियमों को सीखने से लगाया था। बर्जर तथा बर्जर ने सामाजिकरण की एक सरल परिभाषा देते हुए इसे एक ऐसी प्रतिक्रिया बताया है जिससे व्यक्ति समाज का सदस्य बनने की क्षमता विकसित करता है।

इस प्रकार सामाजिकरण की प्रक्रिया को दो दृष्टिकोणों से देखा जाता है-1. समाज के दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि सामाजिकरण की प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे संस्कृति के तत्व एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुँचते हैं। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि सामाजिकरण की यह प्रक्रिया उसके बचपन से ही शुरू हो जाती है जो उसके व्यक्तित्व होने के साथ-साथ वृद्ध होने तक चलती रहती है। इस प्रकार समाज के दृष्टिकोण से यह एक अनवरत प्रक्रिया है, जो निरंतर चलती रहती है। निःसंदेह इस प्रक्रिया के दौरान एक व्यक्ति संस्कृति के नए तत्वों को अपना लेता है।

2. व्यक्ति के दृष्टिकोण से सामाजिकरण की प्रतिक्रिया के द्वारा एक व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। वह एक जीवसमूह से मानव-समूह बन जाता है। समाज में रहकर उस व्यक्ति की एक पहचान बनती है। वह अपने व्यवहार को नियंत्रित करना सीखता है। इस प्रकार उसके व्यक्तित्व का विकास होता है।

सामाजिकरण की मुख्य अवस्थाएं

समाजशास्त्रियों ने सामाजिकरण की प्रक्रिया के विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन किया है। साथ ही, उन अवस्थाओं के साथ-साथ सामाजिकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले माध्यमों का भी वर्णन किया है।

सामाजिकरण की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन करते हुए जोनसन ने व्यक्ति के सामाजिक नियमों को अपनाने का ज़रिया बताया था, सामाजिक भूमिका का अंतरीकरण करना बताया था। उन्होंने सामाजिकरण की चार मुख्य अवस्थाओं का वर्णन किया है।

1. मौखिक अवस्था (Oral Stage)
2. एनल अवस्था (Anal Stage)

3. मातृरति अवस्था (Oedipal Stage)

4. किशोर अवस्था (Adolescence Stage)

1. मौखिक अवस्था सामाजिकरण की आरम्भिक अवस्था है जो बचपन से ही शुरू हो जाती है। जन्म के साथ ही बच्चे को सांस लेना, भोजन करना तथा प्रतिकूल परिस्थितियों से बचने के लिए सुरक्षित रखना आवश्यक होता है। संभवतः इसलिए मौखिक आवश्यकताओं के लिए यह पूर्ण रूप से माँ पर निर्भर करता है। उसका सीधा संबंध परिवार के अन्य सदस्यों के बजाय सिर्फ माँ से होता है जो उसके मौखिक आवश्यकताओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। यह वह अवस्था है, जिसका वर्णन करते हुए फ्रायड ने इसे प्राथमिक पहचान की अवस्था कहा था। इस अवस्था में माँ और बच्चे का सीधा सम्पर्क स्थापित होता है। शारीरिक स्तर पर भी यह संबंध स्थापित होता है। इस अवस्था में वह 0-1 वर्ष का होता है।

2. एनल अवस्था सामाजिकरण की वह अवस्था है जब बच्चा एक से तीन साल के बीच होता है। इस अवस्था में रहकर एक बच्चा दो भूमिका को सीखता है-पहली भूमिका है, स्वयं की, और दूसरी भूमिका है जो अपने माँ के साथ रहकर निभाता है। बच्चा इन दोनों अवस्थाओं में माँ की देखरेख में रहता है, और उसे माँ का प्यार मिलता है, और इसके बदले वह भी माँ को प्यार देता है। इस अवस्था में उसकी दो प्रमुख भूमिकाएँ होती हैं-सबसे पहली भूमिका होती है समाज के सापेक्ष नियमों को सीखने की, जो सापेक्ष नियम होते हैं, वे सकारात्मक नियम होते हैं जिसे करने पर उसे माँ का प्यार मिलता है। इसके विपरीत नकारात्मक नियम भी होते हैं-जिसे निषेधात्मक नियम कहा जाता है-अर्थात् कुछ नकारात्मक नियम भी होते हैं, जिसे माँ के द्वारा दंडित किए जाने पर ही वह सीखता है। नकारात्मक नियमों के द्वारा उसे गलत काम करने के लिए माँ द्वारा दंड दिया जाता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि सामाजिकरण की प्रक्रिया में तनाव के तत्व भी होते हैं। बच्चों को शौच से संबंधित जानकारी माँ के द्वारा ही दी जाती है। इस प्रकार सामाजिकरण की प्रक्रिया के दौरान शौच से संबंधित व्यवहार को नियंत्रित किया जाता है।

माँ की एक ओर अहम भूमिका सामाजिकरण की प्रक्रिया में होती है जिसके द्वारा वह एक उपव्यवस्था से दूसरी बड़ी व्यवस्था का सदस्य बनता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों अवस्थाओं में सामाजिकरण की प्रक्रिया माँ के द्वारा सम्भव नहीं है। इस अवस्था में वह 1-3 वर्ष का होता है।

3. मातृरति अवस्था वह अवस्था है जब बच्चा चार से बारह या तेरह साल का होता है। इस अवस्था में बच्चा एक परिवार के साथ जुड़ कर परिवार के नियमों को सीखता है। उसकी पहचान माँ के अलावा पिता और अपने भाइयों से तथा परिवार के अन्य सदस्यों से भी होती है। बच्चे को अपने पुरुष या महिला होने की पहचान इसी अवस्था में होती है। पुरुष बच्चे को अपनी माँ से अत्यधिक लगाव होता है और पिता से एक प्रकार की प्रतिस्पर्धा होती है। उसी प्रकार महिला बच्चे को अपने पिता से अधिक लगाव होता है तथा माँ से ईर्ष्या होती है। इस मनोवैज्ञानिक स्थिति को फ्रायड ने इडिपस कॉम्प्लेक्स (Oedipus complex) तथा इलेक्ट्रा कॉम्प्लेक्स (Electra complex) की अवधारणा से समझाने की कोशिश की है। इस अवस्था को किशोरावस्था कहा जाता है, जिस अवस्था में रहकर वह अपने पुरुषत्व व स्त्रीत्व की अपनी पहचान विकसित करता या करती है और परिवार के संबंधियों के साथ के संबंध को भी समझता है। माँ और पिता के साथ जिस प्रकार की मनःस्थित उत्पन्न होती है, वह निश्चय ही कभी-कभी तनाव भी पैदा करती है परन्तु जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होता है, इसकी पहचान उसे समाज में रहकर हो जाती है। इस अवस्था में सीखने की प्रक्रिया थोड़ी जटिल अवश्य होती है। एक बच्चा सीखने के तीन मुख्य प्रक्रियाओं से अवगत होता है-

A. वह पुरुष व स्त्री के बीच अंतर को समझने लग जाता है।

B. तुलनात्मक वंचन (Relative Deprivation) के द्वारा उसे इस बात की भी जानकारी होती है कि सही भूमिका अपनाने पर लोग उसकी प्रशंसा करते हैं और गलत व्यवहार पर उसकी आलोचना होती है।

C. अपने निराशा को नियंत्रित कर वह अपनी प्रतिक्रिया सीमित रखने की सीख भी इस अवस्था में ही लेता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सामाजिकरण की तीसरी अवस्था में बच्चों के तुलनात्मक विधि के द्वारा पुरुष और स्त्री से संबंधित भूमिका की पहचान होती है। इस अवस्था में वह 3-12 वर्ष का होता है।

4. किशोरावस्था-इस अवस्था में बच्चा न तो पूर्ण रूप से वयस्क होता है और न ही बच्चा होता है। बारह वर्ष के बाद से वयस्क होने तक की यह अवस्था है। इस अवस्था में क्रमशः लड़का या लड़की अपने माता पिता के नियंत्रण

से अपेक्षाकृत आजाद महसूस करने लगते हैं अर्थात् माता पिता का नियंत्रण इन पर कम होता है और इसलिए इस अवस्था में वह ज्यादा आजाद रहकर समाज में रहते हुए समाज के नए नियमों को सीखते हैं। जिस प्रकार एक लड़का अपनी माँ से स्वतंत्र होकर बाहरी दुनिया के तौर-तरीकों को सीखता है। उसी प्रकार लड़की भी अपने पिता से अलग होकर बाहरी दुनिया के तौर तरीकों से सीखती है। सामाजिकरण की प्रक्रिया में उसका संबंध जिस समूह के साथ होता है उसे पीयर (Peer Group) ग्रुप कहते हैं। वह इस समूह में अपने उम्र के लड़के व लड़कियों के साथ रहना पसन्द करता है। इस प्रकार परिवार व माता-पिता से स्वतंत्र रहकर समाज के कुछ नियमों को सीखता है।

सामाजिकरण के मुख्य साधन

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि सामाजिकरण की विभिन्न अवस्थाओं के द्वारा बचपन से वयस्क होने तक वह समाज के नियमों को सीखता है। समाज के इन नियमों को सीखलाने में परिवार की एक अहम भूमिका होती है। इसलिए परिवार को एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में देखा जाता है। परिवार के साथ-साथ कई और भी साधन हैं जैसे-स्कूल, चर्च, विभिन्न समिति क्लब आदि की भूमिका महत्वपूर्ण होती है परन्तु सामाजिकरण की प्रतिक्रिया में, परिवार को एक महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में देखा जा सकता है। वास्तव में, परिवार ही एक ऐसा समूह है, जहाँ एक बच्चे का अधिकांश समय जन्म के बाद गुजरता है। इसलिए बचपन से ही वह परिवार के सदस्य के रूप में सामाजिकरण की प्रतिक्रिया के द्वारा समाज के नियमों को अपनाया शुरू कर देता है। चूंकि परिवार को एक प्राथमिक समूह कहा जाता है इसलिए परिवार के सदस्यों द्वारा जो नियम उसे सिखाए जाते हैं, वह सामाजिक रूप से तथा नैतिक, दोनों स्तर पर अधिकांश परिस्थितियों में सही होते हैं, बहुत से बच्चे निर्धन परिवार में जन्म लेते हैं जिन्हें स्कूल में जाकर शिक्षा प्राप्त करने का मौका नहीं मिल पाता और ऐसे बच्चों के लिए परिवार ही स्कूल बन जाता है।

परिवार में रहकर एक बच्चा न केवल अपने परिवार के सदस्यों की पहचान करता है बल्कि परिवार के वयस्क सदस्यों के साथ रहकर वह समाज के नियमों को भी अच्छी तरह समझने लगता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सामाजिकरण की प्रक्रिया में परिवार एक प्राथमिक पाठशाला है। भाषा का ज्ञान उसे परिवार में मिलता है, अपने माता-पिता के साथ रहकर वह न केवल बड़ा होता है बल्कि बोलना भी सीखता है। इस प्रकार समाज के बड़े-बुजुर्गों को किस सम्बोधन से बुलाना है, किस प्रकार उनका अभिवादन करना है-इन सभी बातों को परिवार में रहकर ही वह सीखता है।

परिवार में रहकर ही वह अपने प्रतिभा का भी विकास करता है। परिवार के सदस्यों के साथ अन्तःसंबंध के द्वारा वह अपने प्रतिभा की पहचान करता है और इस प्रतिभा को पहचान कर परिवार के सदस्यों के द्वारा उसे अपने प्रतिभा को विकास करने का पूरा-पूरा मौका मिलता है।

सामाजिकरण की प्रक्रिया में परिवार की अहम भूमिका निम्न बातों पर निर्भर करती है-

1. परिवार में परिवार परंपरा का ज्ञान।
प्रत्येक परिवार की अपनी परंपरा, आचार-विचार व नियम होते हैं जिसे वह परिवार में रहकर ही सीखता है।
2. परिवार के सदस्यों के साथ उसका संबंध स्थाई होता है।
3. परिवार के सदस्यों के साथ रहकर उसके संबंध भावनात्मक स्तर पर भी विकसित होते हैं।
4. परिवार में रहकर उसे सामाजिकरण की प्रक्रिया के द्वारा भाषा का ज्ञान होता है।
5. परिवार में रहकर ही उसे सेक्स रोल की पहचान होती है। वह पुरुष और महिला के परस्पर संबंध तथा पृथक भूमिका को भी अच्छी तरह समझने की क्षमता विकसित करता है।
6. अपनी प्रतिभा की पहचान तथा उस प्रतिभा के विकास, तथा विस्तार का भी मौका उसे परिवार में रहकर ही मिलता है।
7. परिवार में रहकर ही वह अपने आप को पहचानना शुरू करता है, तथा उसे नैतिक मूल्यों का ज्ञान भी परिवार में ही होता है।

समाजिकरण के सिद्धान्त

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परिवार सामाजिकरण का एक महत्वपूर्ण साधन है। समाजिकरण की प्रक्रिया को सैद्धांतिक स्तर पर भी समझने की कोशिश समाजशास्त्रियों ने की है। मुख्य रूप से निम्न सिद्धांतों का वर्णन किया है:

1. सी.एच. कूले (C.H. Cooley) के समाजिकरण के सिद्धांत
2. जॉर्ज हर्बर्ट मीड (George Herbert Mead) के सिद्धांत
3. सिगमंड फ्रायड के सिद्धांत (Sigmund Freud)

1. सी.एच. कूले के सिद्धांत-अमेरिका के प्रसिद्ध समाजशास्त्री सी.एच. कूले ने समाजिकरण के सिद्धांत की व्याख्या करते हुए लुकिंग ग्लास शेल्फ (Looking Glass Shelf) की अवधारणा की व्याख्या की है। उनका मत था कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के संपर्क में आकर अपने 'सेल्फ' अर्थात् स्वः का विकास करता है। वह जब तक किसी दूसरे के संपर्क में नहीं आता उसे अपने स्वः की पहचान नहीं हो पाती, अर्थात् एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ संपर्क होने पर ही अपनी सही पहचान कर पाता है। इस प्रक्रिया को सी.एच. कूले ने 'आत्मदर्पण' (Looking Glass self) कहा है इस प्रक्रिया में आत्म का व्यक्तिगत भाव दूसरों के द्वारा प्रतिबिम्बित होता है। सी.एच. कूले ने 'आत्मदर्पण' के तीन प्रमुख तत्वों की बात की है।

- A. हमारा यह कल्पना करना कि वह दूसरों की नजर में कैसा लगता है।
- B. दूसरे व्यक्ति के निर्णय की कल्पना कर अपने बारे में विचार करना।
- C. उस निर्णय के संदर्भ में आत्मभाव पैदा करना।

कूले ने इस बात पर जोर दिया है कि कैसे व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ अन्तःसंबंध की क्रिया के द्वारा हमेशा यह जानना चाहता है कि उसके बारे में दूसरों की क्या राय है अर्थात् जिस व्यक्ति के साथ वह संपर्क कर रहा है उसकी राय उसके बारे में क्या है? अगर उसे यह पता चल जाए कि दूसरा व्यक्ति उसके बारे में अच्छी राय नहीं रखता तो उसका मन में ग्लानि का भाव पैदा होता है, और उसके विपरीत उसे यह पता चलता है कि दूसरे व्यक्ति द्वारा उसकी क्रियाओं तथा व्यवहार को सहारा जा रहा है तो उसका व्यक्तित्व बहिर्मुखी हो जाता है। अगर उसकी आलोचना की जाती है तो उसका व्यक्तित्व अंतर्मुखी हो जाता है। सामाजिक स्वः (Self) सामाजिक संबंध पर निर्भर करता है। व्यक्ति के विचार, मत, मूल्य तथा आदतें यह सभी जिन व्यक्तियों के बीच वह रहता है, उनसे प्रभावित होते हैं। इसलिए कूले की यह मान्यता थी कि प्राथमिक समूह की एक खास पहचान होती है-प्राथमिक समूह के कारण ही व्यक्ति का संपर्क समाज से होता है, जहाँ उसके प्राथमिक संबंध विकसित होते हैं। प्राथमिक समूह की विशेषताओं का जिक्र करते हुए कूले ने प्राथमिक समूह के निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया है।

क. क्षेत्रीय स्तर पर नजदीकी, ख. आमने-सामने का संबंध, ग. छोटा समूह।

2. जॉर्ज हर्बर्ट मीड के सिद्धांत-कूले की तरह ही जॉर्ज हर्बर्ट मीड ने भी अपनी पुस्तक 'माइन्ड सेल्फ' तथा 'सोसाइटी' (1934) में समाजिकरण के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए यह कहा था कि मनुष्य के मस्तिष्क तथा स्वः का विकास सामाजिक अन्तःसम्बन्ध तथा संचार की प्रक्रिया से शुरू होता है। उनका मत था कि मस्तिष्क और स्वः समाज के द्वारा पैदा होता है। सेल्फ अर्थात् स्व को सामाजिक स्वरचना के रूप में देखते हैं जो सामाजिक अनुभव पर आधारित होता है अर्थात् स्व का विकास सामाजिक अनुभव के बिना सम्भव नहीं। स्वः और मस्तिष्क तथा आत्मचेतना सामाजिक अंतःसंबंधों का परिणाम है, जो भाषा के द्वारा अभिव्यक्त किए जाते हैं। इस संबंध में उन्होंने प्रतीकों के महत्व का विस्तार से वर्णन किया है। उनका मत था कि मनुष्य के बीच अन्तःसंबंध भाषा के बिना संभव नहीं। इसलिए वह मानते हैं कि भाषा मानवीय समाज का एक महत्वपूर्ण प्रतीक है, अर्थात् उनका मत था कि भाषा, मस्तिष्क तथा स्व दोनों का निर्माता है। भाषा के द्वारा ही विचारों को अभिव्यक्त मिलती है जिसके द्वारा मनुष्य अपने व्यवहार को नियंत्रित करना सीखता है।

अपने सामाजिकरण के सिद्धांत की व्याख्या करते हुए उन्होंने सामाजिक स्व को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका मत था कि स्व के विकास से ही बच्चा परिवार के विभिन्न सदस्यों की भूमिका की पहचान कर पाता है। जिन लोगों के संपर्क

में आकर वह उनकी भूमिका की पहचान कर पाता है उसे वह 'जेनेरेलाइज्ड (Generalised others) अदस' की सजा देते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने I तथा Me के बीच के संबंध को समझाने की कोशिश की है। मीड का कहना था कि Me से तात्पर्य, व्यक्ति के सेल्फ से होता है। और मैं (I) और मुझ (Me) में तब परिवर्तित हो जाता है जब उस व्यक्ति का सामाजिकरण हो पाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मैं (I) से मुझ (Me) में परिवर्तित होने की प्रक्रिया सामाजिकरण का कारण ही संभव हो पाती है। उदाहरण द्वारा उन्होंने यह भी बताने का प्रयास किया है कि आदिवासी समाज में मैं (I) का महत्त्व कम होता है। वहाँ मुझ (Me) की प्रधानता होती है। जबकि आधुनिक समाज में मैं (I) का महत्त्व अधिक होता है क्योंकि मैं (I) का स्वरूप व्यक्ति के व्यक्तिगत विकास, नए विचार तथा सोच से जुड़ा होता है। मीड के अनुसार व्यक्ति और समाज दोनों एक दूसरे के जैविकीय रूप से मिले हुए हैं इन दोनों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। जहाँ व्यक्ति सामाजिक वातावरण का निर्माण करता है वहीं समाज में रहकर दूसरों के विचार से भी प्रभावित करता है वहीं समाज में रहकर दूसरों के विचार से भी प्रभावित होता है। इसलिए उनका मत था कि 'सेल्फ' का विकास समाज तथा सामाजिक वातावरण पर निर्भर करता है।

3. फ्रायड का सिद्धांत-सामाजिकरण की प्रक्रिया में फ्रायड के सिद्धांतों का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। फ्रायड का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक माना जाता है। उन्होंने स्व तथा समाज से जुड़े अवधारणाओं का जोरदार खण्डन किया है। उनका मत था कि 'स्व' और 'समाज' दोनों एक-दूसरे के पर्याय नहीं हैं, अर्थात् यह बात मानते थे कि 'स्व' और 'समाज' दोनों एक-दूसरे से अलग हैं। उन्होंने सामाजिकरण की प्रक्रिया में निम्न तीन प्रक्रियाओं का विस्तार से उल्लेख किया है।

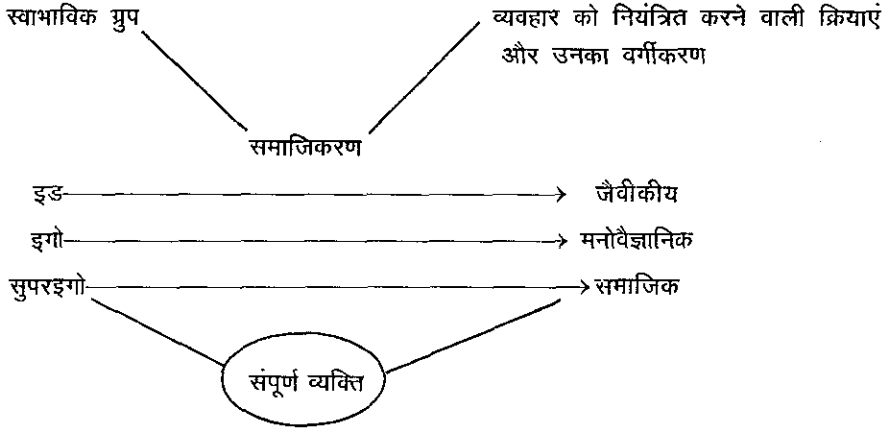
इड-इगो-सुपरइगो (Id-ego-superego) फ्रायड के अनुसार अर्थात् Id-ego-superego एक-दूसरे से जुड़ी प्रक्रियाएँ हैं। Id की परिभाषा देते हुए फ्रायड का कहना था कि यह मनुष्य के मनोवैज्ञानिक स्थिति को बहुत हद तक प्रभावित करता है। यह मुख्यतः व्यक्ति के भौतिक इच्छाओं से जुड़ा होता है जो सुख के सिद्धांत (Pleasure Principle) का अनुसरण करता है। इस प्रकार की स्थिति में Id का आधार सिर्फ भौतिक इच्छाओं की पूर्ति से है। इसका संबंध न तो समाज से होता है और न ही नैतिकता से जुड़ा होता है यह सिर्फ अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए कुछ भी कर सकता है। इसलिए फ्रायड Id की व्याख्या करते हुए इसे एक स्वतंत्र, इच्छा पर आधारित क्रिया बताया है। दूसरे तत्व Ego से सामाजिकरण की प्रक्रिया के साथ जोड़ कर देखा जाता है। यह भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को बहुत हद तक प्रभावित करता है। वह एक ओर Id-Pleasure Principle पर आधारित होता, वहाँ Ego वास्तविक सिद्धांत को लेकर वास्तविक रूप से मनुष्य की क्रियाओं को नियंत्रित करता है इन दोनों के बीच के अंतर को स्पष्ट करते हुए, यह कहा जा सकता है कि Id केवल आत्मनिष्ठ (Subjective) सच्चाई को उजागर करता है वहीं दूसरी ओर Ego में वस्तुनिष्ठ सच्चाई को आत्मनिष्ठ सच्चाई से अलग करके देखता है। Ego की महत्ता इस बात पर निर्भर करती है कि काल्पनिक तत्वों के द्वारा Ego का संतुष्ट नहीं किया जा सकता। Ego का मुख्य आधार आवश्यकताओं की पूर्ति करना है परन्तु उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उचित साधन भी होने चाहिए। इस प्रकार Ego के द्वारा हमें यह पता चलता है कि क्या सही है, क्या गलत है, क्या समाज को मान्य हो सकता है और क्या समाज को नहीं मान्य हो सकता है, क्या सम्भव है क्या सम्भव नहीं है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वास्तविकता के सिद्धांत को विकल्प के तौर पर अनुसरण करते हुए व्यक्ति की क्रियाएँ Ego के द्वारा ही संचालित होती हैं।

'सुपरइगो' व्यक्ति के व्यक्तित्व का एक आदर्श स्वरूप है, जिसका सीधा संपर्क नैतिक मूल्यों से होता है। यह मनुष्य के प्रतिभा तथा मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है जिसे एक बच्चे ने बचपन से ही अपने व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया बना लिया है। यह न तो सच्चाई की मांग करता है और न ही कल्पित सच्चाई को उजागर। इसका सीधा संपर्क समाज के उन गुणों से होता है जो समाज के आदर्श होते हैं। इसका सीधा संबंध इस बात को समझने में लगा होता है कि चुने हुए पदार्थ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जरूरी है या नहीं अर्थात् वह सही है व गलत है।

यह कहा जा सकता है कि सुपरइगो का प्रमुख कार्य इड जैसे मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने की आदर्श क्रियाओं का प्रभावित करता है। सुपरइगो के द्वारा मनुष्य की क्रियाओं को एक नैतिक आधार मिल जाता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये सभी अवधारणाएँ एक साथ काम करते हैं और इन तीनों की एक परम्परागत सोच होती है। इन तीनों प्रवृत्तियों को व्यक्तित्व के विकास का महत्त्वपूर्ण पहलू कहा जाता है। जहाँ तक इड का प्रश्न है, वह मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

जो उसके इन्स्टिन्क्ट (Instinct) का हिस्सा होती है। ईगो, इड तथा सुपरईगो के बीच एक संतुलन बनाता है और यह वह अवस्था है जिसके द्वारा उसे सही और गलत व्यवहार का ज्ञान होता है। सामाजिकरण की प्रक्रिया में ही उसे सही और गलत की पहचान करने की सीख मिलती है। सुपरईगो एक आदर्श स्थिति की पहचान कराती है।

फ्रायड द्वारा बताये गये सिद्धांत को निम्न चित्र के द्वारा समझा जा सकता है।



व्यक्ति और समाज

समाजशास्त्र में समाजिकरण की प्रक्रिया के वर्णन से व्यक्ति और समाज के बीच के संबंध को अच्छी तरह समझा जा सकता है। समाजिकरण की विभिन्न अवस्थाओं को ध्यान में रखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति समाज में रहकर न केवल सामाजिक नियमों को सीखता है बल्कि उसके व्यक्तित्व का भी विकास होता है। व्यक्तित्व के विकास में समाज की भूमिका सर्वोपरि होती है। इसलिए व्यक्ति का समाज के साथ एक अटूट संबंध होता है।

मेकाबइर तथा पेज ने अपनी पुस्तक 'समाज' में समाज को सामाजिक एकता की प्रक्रिया का एक स्वाभाविक स्वरूप माना है। व्यक्ति जब जन्म लेता है तो वह जैविकीय क्रियाओं को ही संपादित करना जानता है। अन्य जीवों की तरह उसकी पहचान जैविकीय बनावट से ही की जाती है। इस प्रकार संरचनात्मक दृष्टिकोण से पुरुष तथा स्त्री को भी अलग-अलग देखा जा सकता है। परन्तु यह गुण उनके जैविकीय गुण हैं जिसका वर्णन किंगरले डेविस ने करते हुए मनुष्य की तुलना दूसरे प्राणी से की है। किंगरले डेविस ने मनुष्य को उसके जैविक तथा सामाजिक व्यवस्था के आधार पर दूसरे जीवों से इसकी तुलना की है और इस प्रकार मनुष्य को उन्होंने 'मैमिलियन' समाज का एक अभिन्न अंग माना है। उनका कहना था कि 'मैमिलियन' समाज ही एक ऐसा समाज है जिसमें सामाजिक तथा सांस्कृतिक समूह रहते हैं। अपनी जैविकीय क्षमताओं का प्रयोग कर संस्कृति का विकास करते हैं। एक समूह की संस्कृति दूसरे समूह की संस्कृति से भिन्न हो सकती है। इस प्रकार मानवीय समाज के गुण एक जैविकीय स्वभाव के साथ-साथ सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्वभाव में भी बदलने लगते हैं। इसलिए मनुष्य का समाज के साथ जो संबंध स्थापित होता है वह एक 'मैमिलियन' समूह के आधार पर विकसित होता है।

किंगरले डेविस ने इसलिए यह माना था कि मैमिलियन समूह के व्यवहार सामाजिक होते हैं जबकि अन्य जीवों के व्यवहार सामाजिक नहीं होते। अन्य जीवों के व्यवहार में सीखने की प्रक्रिया अपवाद स्वरूप विकसित की जाती है। जैसे एक कुत्ते का कुछ ट्रिक या खेल सीख लेना अपवाद स्वरूप हो सकता है परन्तु जहाँ तक 'मैमिलियन' समूह का प्रश्न है सीखने की प्रक्रिया उसके सामाजिक व्यवहार का एक हिस्सा बन जाती है। इसलिए मैमिलियन समूह को एक जटिल जैविकीय प्राणी कहा जा सकता है जो क्रमशः समाज में रहकर समाज के गुणों को सीखता है।

अन्य प्राणी जगत के प्राणी की तुलना में 'मैमिलियन' समूह के सीखने की क्षमता कहीं अधिक होती है और यही कारण है कि आदिम जाति के लोगों में भी एक जटिल परन्तु सीखने की दृष्टि से विकसित क्षमताओं का भण्डार था जिसके कारण उन्होंने भाषा विकसित की। उनके आंखों में ज्यादा पैनापन होता है, दिमाग ज्यादा विकसित होता है, व्यवहार में लचीलापन होता है और प्रजनन की क्षमता भी अन्य जानवरों के मुकाबले ज्यादा विकसित होती है जिसे समाज में रहकर उसे नियंत्रित करना सीखते हैं। समाज में रहकर ही वह परिवार के सदस्य बनते हैं और इस प्रकार परिवार के सदस्यों के साथ अन्तः संबंध के

द्वारा परिवार तथा समाज के सांस्कृतिक नियमों को भी सीखते हैं। किंगस्ले डेविस ने यह माना था कि समाज में रहकर व्यक्ति निम्न गुणों के कारण अपने व्यवहार को नियंत्रित करना सीखता है-

1. अभिव्यक्ति (Reflexes)
2. स्वभाव (Instinct)
3. प्रेरणा (Urges)
4. क्षमता (Capacity)

इन चारों तत्त्वों को सामाजिकरण की प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है।

अभिव्यक्ति का जहाँ तक प्रश्न है वह मनुष्य की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है जिसके द्वारा अपने हाव-भाव से वह अपने हृदय के उदगारों को व्यक्त करना सीखता है। किंगस्ले डेविस का यह मानना है कि अभिव्यक्ति अनेकों प्रकार के होते हैं जिनकी विस्तृत सूची बनाना सम्भव नहीं। परन्तु यह स्पष्ट है कि इन अभिव्यक्तियों को सामाजिकरण की प्रक्रिया में एक ठोस आधार मिलता है।

मनुष्य के स्वभाव भी उसके व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। जन्म के समय एक बच्चे का स्वभाव सीमित होता है। इन स्वभावों के आधार भी यांत्रिक होते हैं परन्तु जैसे-जैसे उसका विकास होता है उसके स्वभाव समाज के नियमों के अनुरूप होने लगते हैं।

प्रेरणा भी मनुष्य का एक प्रमुख हिस्सा होता है। प्रेरणा को व्यक्ति के 'इम्पल्स ड्राइव' (Impulse Drive) का एक हिस्सा माना जाता है। यह उसके गतिशील प्रवृत्ति का एक अंग है जिसे वह समाज के अन्य सदस्यों के साथ रहकर सीखता है। अन्य और बुरे काम करने की प्रेरणा उसे समाज में रहकर ही मिलती है जो उसके व्यक्तित्व के ऊपर एक अमिट छाप छोड़ जाती है।

जहाँ तक क्षमता का प्रश्न है यह मनुष्य का एक महत्वपूर्ण गुण है जिसकी पहचान उसे दूसरे व्यक्ति के संपर्क में आने से होता है। मनुष्य की क्षमता असीमित है और संस्कृति प्रत्येक व्यक्ति को उसके क्षमता के अनुरूप समाज में एक स्थान दिलाता है। हर एक व्यक्ति की क्षमताएँ अलग-अलग होती हैं इसलिए अपने क्षमता के अनुरूप समाज के गुणों को सीखते हुए व्यक्ति अपना व्यक्तित्व का विकास करता है।

बच्चे का एकाकी व्यक्तित्व

चूँकि व्यक्ति का विकास समाज में होता है और समाज में रहकर ही वह बोलना और समाज के अन्य नियमों को सीखता है। इसलिए अकेले व्यक्ति का जीवन किस प्रकार का हो जाता है, इसका उदाहरण किंगस्ले डेविस ने दिया है। पहले उदाहरण में उन्होंने अन्ना नाम के एक अवैध लड़की का जिक्र किया है जिसे अपने दादा की नाराजगी के कारण एक ऊपर मजिल के बंद कमरे में स्थाई रूप से छः साल तक रखा गया था। छः साल के बाद उसे उसके कमरे से हटाया गया तो चौंका देने वाले लक्षण पाए गए। वह न तो किसी से बात कर सकती थी और न ही चल-फिर सकती थी, उसके हाव-भाव से ऐसा लगता था कि वह गूंगी-बहरी और अंधी हो गई थी। उसके जीवन को देखकर यह कहा जा सकता है कि उसे न केवल सामाजिकरण की प्रक्रिया से दूर रखा गया बल्कि उसको मौलिक अवस्थाओं से भी दूर रखा गया था। जिसके कारण उसके बोलने की क्षमता के साथ-साथ अन्य मानवीय गुणों का भी विकास नहीं हो पाया। हालांकि ग्यारह साल की अवस्था में ही उसकी मृत्यु हो गई परन्तु इस उदाहरण के द्वारा उन्होंने यह बताया है कि व्यक्तित्व के विकास के लिए समाज तथा परिवार की क्या भूमिका होती है।

इसी प्रकार मेकाइबर ने भी सामाजिक एकता तथा व्यक्तित्व में समाज के महत्त्व का उल्लेख किया है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से व्यक्ति के व्यक्तित्व का अर्थ समझना आवश्यक है-

1. व्यक्ति के व्यक्तित्व का भौतिक एवं जैविकीय अर्थ-कई बार हम मनुष्य के भौतिकीय परिस्थितियों के आधार पर उसके व्यक्तित्व की चर्चा करते हैं। उनका मानना था कि भौतिक संदर्भ से देखा जाए तो मनुष्य को जीवित रखने के लिए कुछ न्यूनतम शर्तों को प्राप्त करना आवश्यक है, अर्थात् जल, वायु और घर यह उसके भौतिक शर्तें हैं जिसकी पूर्ति आवश्यक है।

2. व्यक्तित्व का समाजशास्त्रीय अर्थ-समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति जब सामाजिक वातावरण से घिरा होता है तब उसके व्यक्तित्व का विकास पूरी तरह होता है। उसके स्व: के विकास में भी समाज की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। समाज से जुड़कर ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास अर्थपूर्ण हो जाता है इस प्रकार व्यक्ति और समाज के बीच संबंध एक संतुलन के सिद्धांत पर आधारित है। एक जटिल तथा संगठित समाज में व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास सहज तरीके से होता है।

फ्रांस के समाजशास्त्री दुर्खिम ने अपनी पुस्तक 'डिविजन ऑफ लेबर' में ग्रामीण तथा औद्योगिक समाज में व्यक्ति के परस्पर गुणों की चर्चा की थी। ग्रामीण समाज में श्रम विभाजन सीमित होता है जहां सामान्य गुणों के आधार पर सामाजिक एकता बनी होती है परन्तु विकसित तथा औद्योगिक समाज में व्यक्ति में दोनों गुण अर्थात् भिन्नता तथा समानता मौजूद होते हैं, और इन दोनों गुणों के कारण व्यक्तित्व का विकास और भी जटिल हो जाता है। दुर्खिम के सामाजिक एकता के इस सिद्धांत का वर्णन हर्बर्ट स्पेन्सर, जॉर्ज सिमिल, एफ. टोनिज, बोल्डविन तथा मेकाइबर ने भी किया है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि समाज और व्यक्ति दोनों में एक समन्वित संबंध है। समाज तथा व्यक्ति के संबंध एक दूसरे पर आश्रित है। समाज की कल्पना व्यक्ति के बिना नहीं की जाती और उसी प्रकार व्यक्ति की कल्पना समाज के बिना संभव नहीं है। इसलिए व्यक्ति और समाज के संबंध को लेकर इन्हें एक ही सिक्के के दो पहलू के रूप में देखा जाता है। ऊपर लिखे समाजिकरण के सिद्धांतों पर जब हम विचार करते हैं तो यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि समाज और व्यक्ति का संबंध अटूट है। इन दोनों को एक-दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता है।

सामाजिक नियंत्रण

समाजशास्त्र में सामाजिक नियंत्रण के विभिन्न तरीकों का वर्णन किया गया है। जहाँ एक ओर सामाजिक नियंत्रण के लिए कानून को सामाजिक नियंत्रण का एक औपचारिक जरिया माना जाता है वहीं दूसरी ओर समाज में नियंत्रण की प्रक्रिया महज औपचारिक नियमों के आधार पर नहीं होती बल्कि इसके कई अनौपचारिक आधार भी होते हैं, समाजशास्त्रियों ने सामाजिक नियंत्रण की अवधारणा में उन अनौपचारिक तत्वों का भी समावेश किया है जो सामाजिक संरचना के विशिष्ट लक्षणों से जुड़े होते हैं। टाम बोटमोर ने सामाजिक नियंत्रण के दो प्रमुख आधारभूत तत्वों का वर्णन किया है जो निम्न हैं-

1. शक्ति का प्रयोग
2. मूल्यों तथा प्रतिमानों के स्थापित कर उन नियमों के द्वारा सामाजिक व्यवहार का नियंत्रण

समाजशास्त्र में समाजशास्त्रियों ने ज्यादा महत्व दूसरे विधि को दिया है। इस प्रकार टॉम बोटमोर के अनुसार सामाजिक नियंत्रण में समाज में स्थापित मूल्य तथा प्रतिमाओं की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सामाजिक नियंत्रण से उनका अभिप्राय एक प्रकार के सामाजिक व्यवस्था से था जिस व्यवस्था को बनाए रखने में समाज के मूल्य तथा प्रतिमानों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। मेकाइबर ने भी सामाजिक नियंत्रण की परिभाषा देते हुए यह कहा था कि सामाजिक नियंत्रण का मतलब सामाजिक व्यवस्था से है जिसके द्वारा समाज में संतुलन बनाए रखा जाता है। एडवर्ड ए. रौस ने भी सामाजिक नियंत्रण की अवधारणा की व्याख्या करते हुए इसे समाज की व्यवस्था से जोड़ कर देखा है। विलियम. जे. समनर ने भी अपनी पुस्तक 'फोकवेज' में (Folkways) सामाजिक नियंत्रण को परिभाषित करते हुए सामाजिक प्रचलन, व्यवहार, जन्म रीति तथा नैतिक मूल्यों को मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित करने का एक प्रमुख स्रोत बताया है।

फ्रांस के समाजशास्त्री ई. दुर्खिम का कहना था कि सामाजिक नियंत्रण की अवधारणा नैतिक मूल्यों को स्वीकार कर उसके अनुरूप काम करने से है। इन सामाजिक मूल्यों के आधार, नैतिकता पर भी टिके होते हैं जिससे समाज में एकता बनी रहती है अर्थात् दुर्खिम ने सामाजिक एकता बनाए रखने का एक स्रोत समाजिकरण को ही माना है।

पारसन्स ने सामाजिक नियंत्रण की परिभाषा देते हुए इसे एक सामाजिक प्रक्रिया बताया जिसके द्वारा मनुष्य के व्यवहार को अनुमोदन (Sanction) के द्वारा नियंत्रित किया जाता है। यद्यपि सामाजिक नियंत्रण के लिए सामाजिक अनुमोदन (Sanction) का महत्वपूर्ण होता है, परन्तु फिर भी सामाजिक नियंत्रण में औपचारिक रूप से शक्ति के प्रदर्शन अर्थात् पुलिस के द्वारा एक समूह के द्वारा व्यवहार को नियंत्रित करने की कोशिश की जाती है। इस प्रकार सामाजिक नियंत्रण के द्वारा समूह के व्यवहार को स्थाई रूप से नियंत्रित किया जाता है। फ्रांस के आधुनिक समाजशास्त्री फुको ने समाज में व्यक्ति को सामाजिक नियंत्रण के द्वारा अनुशासित करने का तरीका बताया है। व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करने का तरीका उन पर निगरानी रखना

है। उनका यह मानना था कि समाज में ज्ञान तथा सूचना के द्वारा मनुष्य पर निगरानी रखी जाती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल से ही समाज में व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करने के तरीके इस्तेमाल में लाए गए हैं। आज उन तरीकों में काफी बदलाव आया है। सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रिया के कई महत्वपूर्ण साधन हैं जिनके द्वारा समाज में मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित किया जाता है। वास्तव में, मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित करने के कई संस्थात्मक साधन हैं जिनको आधार बनाकर मेकाइबर ने भी उनके दो स्वरूप की चर्चा की है। पहला स्वरूप है उनमें मौजूद उनके नियमों तथा प्रतिमानों के द्वारा सामाजिक प्रतिबंध बनाए रखना। इन प्रतिबंधों को समाज के रीति-रिवाजों से ज्यादा जोड़कर देखा जाता है। इसलिए यह व्यक्ति पर औपचारिक तरीके से दबाव नहीं बनाते। इसके दूसरे स्वरूप की चर्चा करते हुए मेकाइबर का कहना था कि सामाजिक नियंत्रण के सामाजिक तरीके के माध्यम से मनुष्य अपनी नैतिक कर्तव्य के द्वारा समाज के नियमों को स्वयंसेवा से मानने के लिए बाध्य होता है। इन सामाजिक अनुबंधों के कई पहलू हैं। जिन पहलूओं पर विचार करने के लिए मेकाइबर ने चार प्रमुख अनुबंधों की चर्चा की है जो निम्न हैं-

1. सहचारी संहिता (Associational Code)
2. सामुदायिक संहिता (Communal Code)
3. नैतिक संहिता (Moral Code)
4. वैधानिक संहिता (Legal Code)

इन्हें अनौपचारिक विधान के रूप में भी जाना जाता है। इनके अनौपचारिक स्वरूप की चर्चा कई समाजशास्त्रियों ने की है। कार्ल मनहाईन ने भी सामाजिक नियंत्रण के दो पहलूओं की चर्चा की है। एक को वह सामाजिक नियंत्रण का प्रत्यक्ष साधन मानते हैं तथा दूसरे को सामाजिक नियंत्रण का अप्रत्यक्ष साधन मानते हैं। किम्बल यंग ने इसे सकारात्मक तथा नकारात्मक अनुबंधों के रूप में इसकी चर्चा की है। इनाम देकर किसी को प्रोत्साहित करना सकारात्मक अनुबंध की श्रेणी में आता है तथा किसी व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करने का एक और तरीका उसे दंडित करना होता है। ल्यूम्बी (Lumley) ने इन दोनों तरीकों को एक सांकेतिक रूप से देखा है। उनका मानना था कि इनाम, प्रशंसा तथा आग्रह के द्वारा किसी व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करना सकारात्मक अनुबंध की श्रेणी में आता है। जबकि व्यंग्य, आलोचना तथा धिक्कार के द्वारा जब किसी व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करने की कोशिश की जाती है तो उसे नकारात्मक अनुबंध कहा जाता है। मेकाइबर द्वारा दिए गए उपर्युक्त चार संहिता को सकारात्मक तथा नकारात्मक संहिता का अंग कहा जा सकता है।

1. सहचारी संहिता-इस विधान के द्वारा कुछ समितियाँ अपने सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करती हैं। इन समितियों के द्वारा कुछ नियम बनाए जाते हैं, जिससे व्यक्ति के व्यवहार नियंत्रित होते हैं। कई स्वैच्छिक बनाए जाते हैं, जिससे व्यक्ति के व्यवहार नियंत्रित होते हैं। कई स्वैच्छिक संस्थाओं (Voluntary organisation) के नियम सामान्य प्रकार के होते हैं। जिसके द्वारा व्यक्ति स्वैच्छा से उन नियमों के अनुरूप व्यवहार करता है। कभी-कभी जब इन नियमों का उल्लंघन किया जाता है तब व्यक्ति को उस स्वैच्छिक संस्था की प्राथमिक सदस्यता से बहिष्कृत करने का प्रावधान भी होता है। यह नियम डॉक्टर तथा वकील के पेशे से भी जुड़े होते हैं। उन नियमों के उल्लंघन करने पर डॉक्टर व वकील का उनका लाइसेन्स से हाथ धोना पड़ सकता है। परन्तु यह अनुबंध तभी प्रभावी होते हैं जब इन नियमों को एक औपचारिक स्वरूप दिया गया हो।
2. सामुदायिक संहिता-यह प्रायः समुदाय के व्यवहार को नियंत्रित करती है। यह विशेष प्रकार का एक सामुदायिक अनुबंध होता है जो उतने विशिष्ट नहीं होते परन्तु फिर भी एक महत्वपूर्ण अनुमोदन (Sanction) के रूप में इनका स्थान निर्धारित होता है। रीति-रिवाजों के नियम इस अनुमोदन के तहत आते हैं। जो कई परिस्थितियों में एक शक्तिशाली अनुमोदन के रूप में काम करते हैं। फैशन या पोशाक से जुड़े हुए नियम अनुमोदन का एक हल्का स्वरूप है जिसका पालन न करने पर प्रतिक्रिया व्यक्त की जाती है परन्तु उस प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप कोई गंभीर कदम उल्लंघन करने वाले के ऊपर नहीं लगाया जाता। इन अनुबंधों का पालन नहीं करने पर व्यक्ति को कटाक्ष या आलोचना का शिकार बनना पड़ता है। परन्तु इसके अतिरिक्त और कोई प्रतिबंध पौशाक के उल्लंघन करने वाले व्यक्ति के खिलाफ नहीं लगाया जाता।
3. नैतिक संहिता-व्यक्ति विशेष या समूह के व्यवहार को नैतिक मूल्यों के अनुरूप क्या सही है, क्या गलत है, क्या उचित है, क्या अनुचित है-इन बातों को बताकर व्यक्ति तथा समूह के व्यवहार को नियंत्रित किया जाता है। इस प्रकार नैतिक

आधार पर बनाए गए अनुबन्ध रीति-रिवाजों से जुड़े होते हैं जिन्हें रूढ़िवादिता शब्द से संबोधित किया जाता है। नैतिक संहिता का एक सीमित अर्थ व्यक्ति विशेष के उन नियमों से जुड़ा होता है जो व्यक्ति के व्यवहार को उचित या अनुचित बताते हैं। एक व्यक्ति अपने व्यवहार से दूसरे व्यक्ति या समुदाय के नैतिक संहिता का उल्लंघन कर सकता है, परन्तु वह व्यक्ति स्वयं अपने समुदाय तथा समूह के नैतिक विधान से जुड़कर ऐसा करता है। इसलिए यह कहा जाता है कि एक डॉक्टर बीमार का इलाज करने के लिए चीर-फाड़ कर सकता है जो उस व्यक्ति के नैतिक अनुबंध के खिलाफ हो। परन्तु उस बीमार स्त्री व पुरुष को बचाने के लिए उस डॉक्टर का एक अपना नैतिक धर्म होता है जिसके मर्यादा के अनुरूप वह चीर-फाड़ का काम करता है। इस प्रकार नैतिक संहिता एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से भिन्न हो सकता है। यह जानना महत्वपूर्ण है कि व्यक्ति किस प्रकार की स्थिति में मानसिक रूप से तथा व्यवहारिक स्तर पर नैतिक संहिता का पालन करता है।

वैधानिक संहिता-अंत में हम वैधानिक संहिता के नियम की बात करते हैं जिसे एक निर्णायक नियम कहा जा सकता है। इस निर्णायक नियम को मनवाने में न्याय-पालिका का एक महत्वपूर्ण योगदान होता है। न्याय-पालिका के द्वारा शारीरिक शक्ति के प्रदर्शन से नियमों के उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को दंडित किया जाता है। यह नियम स्टेट या राज्य के द्वारा क्रियान्वित किए जाते हैं, अर्थात् इन नियमों का निर्धारण स्टेट करता है, इसलिए यह नियम विशेष रूप से व्यक्ति के व्यवहार को औपचारिक रूप से नियंत्रित करने का एक प्रमुख अंग बन जाता है। कई अन्य देशों में यह नियम स्टेट या प्रशासन के द्वारा मान्य होते हैं इसलिए इन नियमों के पालन में स्टेट या प्रशासन के द्वारा मान्य होते हैं इसलिए इन नियमों के पालन में स्टेट या प्रशासन को एक महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। अधिकारी तंत्र नियमों का पालन करते हुए जहाँ कहीं समस्या आ जाती है उसका निपटारा कानून की मदद लेकर करती है। इस प्रकार वैधानिक संहिता के द्वारा औपचारिक तरीके से नियंत्रण किया जाता है। वर्तमान युग में इसका प्रचलन काफी बढ़ा है। कम्प्यूटर पर आधारित औद्योगिक समाज में इस प्रकार के नियमों के द्वारा मनुष्य के व्यवहार को काफी हद तक नियंत्रित करने का काम किया है।

वैधानिक संहिता तथा अवैधानिक संहिता, दोनों के स्वरूप में कुछ विभिन्नता भी है और कुछ समानता भी है। इनके असमान स्वरूप का वर्णन अनौपचारिक नियमों की व्याख्या से ही स्पष्ट है। अनौपचारिक नियमों का स्वरूप अस्पष्ट होता है जबकि औपचारिक नियमों का स्वरूप स्पष्ट होता है। चूंकि अनौपचारिक समूह के नियम अस्पष्ट होते हैं। इसलिए इसके प्रभाव सीमित होते हैं। परन्तु इसके विपरीत जो औपचारिक नियंत्रण के स्वरूप होते हैं, वह ज्यादा स्पष्ट तथा लिखित रूप से मौजूद होते हैं, इसलिए यह अस्पष्ट नहीं होते और अधिकांश परिस्थितियों में यह ज्यादा प्रभावी होते हैं।

नियंत्रण के औपचारिक स्वरूप स्पष्ट होने के साथ-साथ मानवीय संवेगों पर आधारित नहीं होते, इसलिए यहाँ पर संवेदना या व्यक्तिगत जान-पहचान का महत्व नहीं होता। जबकि, इसके विपरीत जो अनौपचारिक हिस्सा-किताब होते हैं, उनके कारण एक व्यक्ति, दूसरे व्यक्ति के संपर्क में आता है और अनौपचारिक नियमों की मर्यादा को समझकर अपने व्यवहार को नियंत्रित करने का प्रयास करता है। उसके व्यवहार में संवेदनात्मक तत्वों का समावेश होता है जिसके कारण सामान्य व्यक्ति ही अपने व्यवहार को इन परिस्थितियों में प्रयोग में लाते हैं।

अध्याय-4

सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक गतिशीलता एवं सामाजिक परिवर्तन

समाजशास्त्र में सामाजिक स्तरीकरण का अध्ययन एक महत्वपूर्ण विषय है। समाज के विभिन्न स्वरूपों का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि समाज में जिस प्रकार व्यक्ति एक दूसरे से जुड़े होते हैं, उसमें प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक अलग स्थान होता है। डॉक्टर, शिक्षक, व्यापारी, मेकेनिक, इंजिनियर, मजदूर, पुलिस, नर्स, पायलट, ड्राइवर। ये सभी किसी पेशे से जुड़े ऐसे व्यक्ति हैं जिनके पेशे अलग-अलग हैं और उन पेशों के कारण उनकी सामाजिक स्थिति भी भिन्न है। इसलिए यह दायर जाता है कि सामाजिक स्तर पर भिन्नता किसी भी समाज की एक विशिष्ट पहचान है। प्रत्येक समाज में यह विभिन्नता पायी जाती है और समाज शास्त्रियों ने इस विभिन्न सामाजिक कार्यों से जुड़े व्यक्तियों का अध्ययन अपने विशिष्ट अवधारणाओं की मदद से किया है। किसी व्यक्ति का ऊँचा व नीचा माना जाना उस समाज के प्रचलित नियमों के आधार पर होता है। सभी समाज के नियम यों तो अलग-अलग होते हैं परंतु उसके बावजूद भी समाज में व्यक्ति को ऊँचा व नीचा स्थान प्रदान करने के कुछ सैद्धान्तिक आधार हैं जिन सैद्धान्तिक आधार को ध्यान में रखकर समाजशास्त्र में सामाजिक स्वरूप का अध्ययन किया जाता है।

जहाँ तक सामाजिक स्तरीकरण का प्रश्न है इसे परिभाषित करते हुए बर्जर तथा बर्जर का मानना था कि सामाजिक स्तरीकरण से समाज में व्यक्ति को एक दूसरे से भिन्न पहचान होती है जो सामाजिक वर्गीकरण के सिद्धान्त पर उस समाज में टिका होता है। प्रत्येक व्यक्ति को उसके नाम के आधार पर एक श्रेणी में रखा जाता है और इस प्रकार व्यक्तियों को श्रेणीबद्ध कर अध्ययन करने की प्रक्रिया ही सामाजिक स्तरीकरण का अध्ययन करना है। इस प्रकार सामाजिक स्तरीकरण लोगों को श्रेणीबद्ध करने की प्रक्रिया है। जो व्यक्ति विभिन्न श्रेणी में बँटे होते हैं उन्हें स्तर कहते हैं। किंगस्ले डेविस ने कहा है कि जब हम जाति, वर्ग तथा सामाजिक स्तरीकरण की बात सोचते हैं तो हमारे मस्तिष्क में उन समूहों का ध्यान आता है जिसके सदस्य समाज में अपना एक स्थान रखते हैं। उसके आधार पर उन्हें कुछ प्रतिष्ठा मिली होती है। इसके आधार पर एक समूह की स्थिति दूसरे समूह से वैधानिक दृष्टि से अलग मानी जाती है वह सामाजिक स्तरीकरण का आधार बन जाती है। जब हम वर्ग पर आधारित समाज की बात करते हैं तो यह कहा जा सकता है कि वर्ग-विहिन समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है। यह कहा जाता है कि जनजातिय समाज में कोई वर्ग नहीं होता। उनका सामाजिक संगठन उम्र, लिंग तथा नातेदारी पर आधारित होता है परंतु वह समाज भी जब जटिल हो जाता है और कुछ लोग संपत्ति अधिक कमाकर अपना स्थान ऊँचा बना लेते हैं तो उस समाज में भी स्तरीकरण की प्रणाली दृष्टिगोचर होने लगती है। इसलिए टाम बाटमोर का कहना था समाज में वर्ग तथा श्रेणी का बँटवारा सत्ता और प्रतिष्ठा के आधार पर क्रमबद्ध स्वरूप किसी भी समाज की सार्वभौमिक कारण है जिसने सभी सामाजिक वैज्ञानिकों को प्रभावित किया है।

पेंगुयिन शब्दकोष में निकोलस अबरक्रांबी के सामाजिक स्तरीकरण की परिभाषा देते हुए कहा है कि जब लोगों को असमानता के कुछ पहलुओं को ध्यान में रखकर श्रेणीबद्ध किया जाता है तो इस प्रकार की सामाजिक विभिन्नता को सामाजिक स्तरीकरण कहा जाता है। रीचर्ड टी मौरिम का कहना था कि हम सभी समाज में पैदा होते हैं, जहाँ पर लोगों को ऊपर व नीचे की श्रेणी में उनके ऊँचे वा निम्न स्थान पर रखा जाता है। इसे समाज के सभी लोग ऊँचा व नीचा मानते हैं तथा स्तरीकरण की प्रणाली पनपती है। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि जन्म से ही श्वेत वर्ण के लोगों को ऊँचा माना जाता है अपेक्षाकृत उनके जो अश्वेत होते हैं। इस प्रकार कुछ समाज में वर्ण वा रंग के आधार पर एक व्यक्ति को एक खास स्थान मिला जाता है। जब उस स्थान को सामाजिक मान्यता के द्वारा स्थायी मापदंड मानकर ऊँचा तथा निम्न स्थान दिया जाए तो स्तरीकरण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया कोई अमूर्त अवधारणा नहीं है वरन् यह एक वास्तविक सामाजिक स्थिति है जिसके कुछ ऐसे लक्षण हैं जो एक व्यक्ति, समूह, समाज, संस्कृति व लोगों को दूसरे व्यक्ति, समूह, समाज तथा संस्कृति से अलग कर उन्हें एक ऊँची तथा निम्न श्रेणी सोपान के अंतर्गत सामाजिक स्थान देते हैं।

स्तरीकरण के मापदंड व आधार: सामाजिक स्तरीकरण के मापदंड व आधार सभी समाज में अलग-अलग होते हैं परंतु फिर भी यहाँ कुछ मापदंडों के आधार पर स्तरीकरण की प्रक्रिया को एक सार्वभौमिक अवधारणा के रूप में समझने की कोशिश की गयी है। स्तरीकरण के संदर्भ में निम्न उपागम की चर्चा की जाती है।

(क) प्रतिष्ठात्मक उपागम (Reputational Approach)

(ख) आत्मनिष्ठ उपागम (Subjective Approach)

(ग) वस्तुनिष्ठ उपागम (Objective Approach)

ब्रूम तथा सेल्जनिक् ने उपर्युक्त लिखे तीनों उपागम के द्वारा स्तरीकरण को समझाया है। उनका यह मानना था कि स्तरीकरण का अध्ययन इन तीनों उपागम को एक विधि मानकर किया जा सकता है। प्रतिष्ठात्मक उपागम में स्तरीकरण का अध्ययन करते हुए यह पूछा जा सकता है कि लोग अपने आप को कैसे वर्गीकृत करते हैं? क्या मापदंड प्रयोग में लाते हैं? अपनी स्थिति का आकलन करने के लिए, उन श्रेणी को वो कैसे देखते हैं और उन मापदंड को कैसे क्रमबद्ध करते हैं?

आत्मनिष्ठ उपागम में भी लोगों से यह पूछा जाता है कि वो अपने आपको दूसरे व्यक्ति या समूह की तुलना में स्वयं को या जिस समूह के हिस्से हैं उसे दूसरे के मुकाबले कैसे आकलन करते हैं। समाजशास्त्र में यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि आप किस वर्ग से संबंधित हैं। और प्रश्न के जवाब के आधार पर शोधकर्ता उस जवाब का आत्मनिष्ठ तरीके से विश्लेषण कर यह जानने की कोशिश कर सकता है कि समाज में वह व्यक्ति, समूह अपने आप को कौन सा स्थान देते हैं।

वस्तुनिष्ठ उपागम में शोधकर्ता निरीक्षण के द्वारा वस्तुनिष्ठ तरीके से यह तय करने कि कोशिश करता है कि उस व्यक्ति का क्या स्थान है। कार्ल मार्क्स ने इस वस्तुनिष्ठ तरीके का इस्तेमाल कर यह आकलन करने की कोशिश की, कि उत्पादन की प्रक्रिया में जिस व्यक्ति की जो भूमिका होती है उसके आधार पर उसके वर्ग स्थान का आकलन किया जा सकता है। मार्क्स के अलावा जर्मनी के समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने भी तीन मापदंडों को महत्वपूर्ण मानते हुए उसे एक प्रमुख आधार मानकर समाज का स्तरीकरण किया-

(क) आर्थिक संपत्ति तथा आर्थिक लाभ के अवसर पर नियंत्रण

(ख) राजनीतिक सत्ता के उपर नियंत्रण

(ग) सामाजिक स्थान व प्रतिष्ठा के उपर नियंत्रण

मैक्स वेबर का यह मानना था कि उपर्युक्त तीनों आधार को एक दूसरे से अलग करके देखना शायद संभव न हो इसलिए इन तीनों के सम्मिलित स्वरूप को मिलाकर देखना चाहिए ताकि व्यक्ति के स्थान का सही आकलन किया जा सके। निस्संदेह इन तीनों आधारों का अपना विशिष्ट स्थान है और ये सभी अलग-अलग तरीके से व्यक्ति के व्यवहार तथा स्थान में निर्धारक तत्व के रूप में देखे जा सकते हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्रियों में इस बात को लेकर मतभेद हो सकता है कि स्तरीकरण का अध्ययन कैसे किया जाए? परंतु सामाजिक स्तरीकरण एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है, इस बात को सभी स्वीकार करते हैं और इसे सभी मानते हैं कि प्रत्येक समाज में एक व्यक्ति या समूह को ऊँचा व नीचा स्थान देकर उसकी स्थिति का मुल्यांकन अवश्य किया जाता है। सभी समाज स्तरीकृत समाज हैं। परंतु ये सभी स्तरीकृत समाज एक दूसरे से काफी अलग हो सकते हैं क्योंकि उन सभी में स्तरीकरण का मापदंड अलग हो सकता है।

सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था की विभिन्न विशेषताओं का वर्णन किया जा सकता है परंतु प्रत्येक समाज में ये विशेषताएं विभिन्न प्रकार से कार्य करते हैं और इसके कारण उनकी क्रियात्मक क्षमताओं का अध्ययन भी उन समाजों की विशिष्ट परिस्थिति के संदर्भ में ही करना उचित होगा। उनकी विशेषताओं में सामाजिक वर्ग, प्रजाति, जेंडर, जन्म तथा उम्र को आधार बनाकर अध्ययन किया गया है। ये सभी तत्व अपना खास महत्व उस समाज में रखते हैं। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज में जन्म से ही जाति को कुछ विशिष्ट स्थान मिल जाते हैं। अगर एक व्यक्ति का जन्म ब्राह्मण परिवार में होता है तो उसका सामाजिक स्थान ऊँचा हो जाता है। उसी प्रकार अगर उसका जन्म निम्न जाति के हरिजन परिवार में होता है तो उसका स्थान नीचा माना जाता है। इसी प्रकार स्त्री का स्थान पुरुषों के अपेक्षाकृत निम्न स्तर का माना जाता है। जबकि जनजातिय समाज में उम्र के अनुसार लोगों को उच्च स्थान मिले होते हैं और वहाँ स्त्री का निम्न स्थान नहीं होता है। इसलिए एक तत्व अगर किसी समाज में स्तरीकरण के मुख्य आधार बन जाते हैं तो वही तत्व दूसरे समाज में ज्यादा महत्व नहीं रखते। परंतु इन सब के बावजूद भी सामाजिक स्तरीकरण के कुछ ऐसे आधारभूत तत्व हैं जिन्हें संरचनात्मक आधार कहा

जा सकता है। ये तत्व समाज के सार्वभौमिक तथा विशिष्ट तत्व माने जाते हैं। इन आधारभूत तत्वों के बारे में समाजशास्त्रियों में एक आम सहमती भी पायी जाती है। इसलिए सभी समाजशास्त्रियों ने स्तरीकरण के इन स्वरूपों तथा आधार का विशेष रूप से उल्लेख भी किया है। ये मुख्य आधारभूत तत्व हैं-

1. वर्ग पर आधारित स्तरीकरण (Class as the Basis of Stratification)
 2. जाति पर आधारित स्तरीकरण (Caste as the Basis of Stratification)
 3. शक्ति पर आधारित स्तरीकरण (Power as the Basis of Stratification)
1. वर्ग-समाजशास्त्रियों ने वर्ग को सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रमुख आधार माना है। इसके साथ जुड़े सैद्धांतिक दृष्टिकोण के प्रतिपादकों में यद्यपि जर्मनी के समाजशास्त्री कार्ल मार्क्स का नाम विशेष रूप से लिया जाता है परंतु उनके साथ ही मैक्स वेबर का नाम भी उल्लेखनीय है, क्योंकि उन्होंने भी वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका का वर्णन किया है। इन दोनों समाजशास्त्रियों के सैद्धांतिक दृष्टिकोण एक दूसरे से काफी अलग हैं। अगर कोई समानता इनके अध्ययन में है तो सिर्फ यह कि इन दोनों ने पूंजीवादी समाज के संदर्भ में औद्योगिक समाज के स्वरूपों का अध्ययन किया है।

मार्क्स ने वर्ग की व्याख्या आर्थिक संदर्भ में की है। वे मानते हैं कि आज तक मानव सभ्यता का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है। अपनी छोटी सी पुस्तक *कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो* में उन्होंने दो वर्गों की महत्वपूर्ण भूमिका का वर्णन किया है। ये भी दो वर्ग हैं: (क) बुर्जुआ या पूंजीपति वर्ग (Bourgeoisie or Capitalist) (ख) प्रोलेटारिएट या मजदूर वर्ग (Proletariat or Worker) उन्होंने वर्ग का वर्णन उत्पादन के साधनों पर उनके अधिकार के संदर्भ में किया है। उनकी यह मान्यता थी कि उत्पादन के साधनों में परिवर्तन के साथ-साथ दो वर्ग सदैव बने रहते हैं-एक वर्ग तो वह होता है जिसे उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण होता है और दूसरा वह जो इसके स्वामित्व से वंचित रहता है। औद्योगिक विकास की प्रक्रिया में औद्योगिक समाज में दो वर्ग स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं एक वर्ग पूंजीपति वर्ग कहलाता है तो दूसरा मजदूर वर्ग। आर्थिक परिस्थितियाँ एक दूसरे के प्रतिकूल होती हैं। जहाँ पूंजीपति वर्ग उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार जमा लेने की वजह से शोषक वर्ग की भूमिका निभाता है तो वहीं दूसरी ओर मजदूर वर्ग होता है जो उत्पादन के साधनों से वंचित रहता है तथा उसका शोषण पूंजीपति वर्ग द्वारा होता है। इन दोनों की स्थिति परस्पर एक दूसरे के विपरीत होती है और इन दोनों के परस्पर विरोधी आर्थिक स्वार्थ के कारण इन दोनों में निरंतर संघर्ष की स्थिति बनी होती है। वास्तव में पूंजीवादी व्यवस्था में इन दोनों वर्गों के बीच आर्थिक स्वार्थ के भिन्न होते हैं। वर्ग चेतना पर आधारित वर्ग संघर्ष की अवधारणा के द्वारा कार्ल मार्क्स ने सामाजिक क्रांति की बात की है। स्तरीकरण के नजरिये से देखा जाये तो पूंजीपति वर्ग तथा मजदूर वर्ग दोनों के सामाजिक स्तर परस्पर अलग-अलग हैं। पूंजीपति वर्ग अपने आप को ऊँचा मानकर सदैव अपनी स्थिति मजबूत करता है वहीं दूसरी ओर मजदूर वर्ग अपने स्थिति को ऊँचा उठाने के लिए हमेशा पूंजीपति वर्ग के उत्पादन की प्रणाली में अंतर्द्वन्द देखता है और अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने के लिए पूंजीपति द्वारा कमाये गये मुनाफे में अपना हिस्सा माँगता है।

वेबर ने भी समाज में वर्ग के आधार पर आर्थिक स्तर पर मतभेद देखा। वेबर का कहना था कि वर्गों के उन्नति के अंतर परस्पर अलग-अलग होते हैं। जहाँ मार्क्स ने मुख्य रूप से दो वर्गों की बात की है वहीं वेबर ने निम्न चार वर्गों की बात की है-

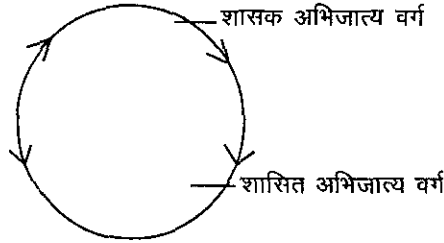
- (क) धनी वर्ग
- (ख) बुद्धिजीवी, प्रशासकीय तथा प्रबंधन वर्ग
- (ग) परंपरागत व्यापारी वर्ग
- (घ) मजदूर वर्ग

वेबर ने सामाजिक स्तरीकरण के संदर्भ में वर्ग के साथ-साथ एक और विशेषता को प्रमुख बताया, जो था सामाजिक सम्मान या सामाजिक स्थिति। इसलिए वेबर ने वर्ग के स्थान पर स्थिति समूह (Status group) शब्द का प्रयोग किया है। वर्ग एक बंद समूह न होकर ज्यादा खुला समूह है। वेबर के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्ग को पूर्णतया एक आर्थिक इकाई न मानकर उसे औद्योगिक समाज से जोड़कर देखा जाना चाहिए। वर्ग तथा स्थिति समूह का अंतर स्पष्ट करते हुए समाजशास्त्रियों ने यह माना है कि वर्ग में स्तरीकरण उत्पादन के साधनों का इस्तेमाल कर मुनाफा कमाना है जबकि स्थिति समूह स्तरीकृत होते हैं अपने उपभोग की क्षमता पर, जो उनके जीवन की शैली बन जाता है। टी. एच.

मार्शल ने भी स्थिति समूह कि व्याख्या व्यक्तिगत तथा स्थिति के आधार पर किया है। व्यवसाय की भिन्नता को ध्यान में रखकर भी स्थिति समूह का विवेचन किया जाता है। कुछ समाजशास्त्रियों ने समाजिक गतिशीलता का अध्ययन उनके व्यवसायिक स्थिति को ध्यान में रखकर किया है।

सामाजिक स्तरीकरण के संदर्भ में वि० पैरेटो ने सिद्धान्त को ध्यान में रखकर भी वर्ग की सामाजिक स्थिति का वर्णन किया है। उनके सिद्धान्तों के अनुसार अभिजात्य वर्ग (Elite group) की दो श्रेणियों का वर्णन किया जा सकता है जो निम्न हैं-

- (क) शासक अभिजात्य वर्ग (Governing Elite)
 (ख) शासित अभिजात्य वर्ग (Non-governing Elite)



शासक अभिजात्य वर्ग की सामाजिक स्थिति गैर अभिजात्य वर्ग के सामाजिक स्थिति से बिल्कुल भिन्न होता है। एक का सामाजिक स्तरीकरण में स्थान ऊँचा होता है जबकि दूसरे का नीचा। परंतु पैरेटो का मानना था कि दोनों की स्थिति में सदैव बदलाव आता रहता है। उन्होंने चक्रिय सिद्धान्त के रूप में इसका वर्णन किया है। आज जो शासक अभिजात्य वर्ग हैं उनकी स्थिति मजबूत है पर सदैव उसकी स्थिति मजबूत नहीं रहेगी क्योंकि जो वर्ग सत्ता में नहीं आ पाते हैं वे सत्ता में बने रहने वालों के उपर पूरी निगरानी रखते हैं और उनके कमजोर होते ही उनपर हावी हो जाते हैं। उनके सिद्धान्त की अभिजात्य वर्ग का चक्रिय (Circulation of Elite) सिद्धान्त कहा जाता है।

2. जाति पर आधारित स्तरीकरण-जाति पर आधारित स्तरीकरण को सामाजिक स्थिति को समझने का ही एक तत्व माना जाता है। जब स्थिति पूर्णतः पूर्व निर्धारित हो जाती है जिससे व्यक्ति जहाँ जन्म लेता है उससे उसकी सामाजिक स्थिति में परिवर्तन लाना सर्वथा असंभव हो तो ऐसी स्थिति में वर्ग जाति का रूप ले लेता है। मेकाईवर तथा पेज के इस कथन का समर्थन करते हुए किंगस्ले डेविस का यह मानना था कि जाति के आधार पर जब स्तरीकरण के स्वरूप की बात की जाती है तो दो प्रकार के स्थिति का सहज रूप से स्मरण हो आता है और ये दोनों स्थितियाँ हैं- प्रदत्त स्थिति तथा अर्जित स्थिति (Ascribed and Achieved status) स्तरीकरण के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि जाति शब्द के द्वारा जो स्थिति बनती है उसे प्रदत्त स्थिति कहा जाता है क्योंकि इसके आधार पर गतिशीलता नहीं होती है और इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता जबकि इसके विपरित वर्ग से जो स्थिति व्यक्ति को मिलती है उसे बदला जा सकता है और इसलिए वर्ग में ज्यादा लचीलापन होता है। इसलिए जाति की व्याख्या करते हुए समाजशास्त्री इसे बंद समूह की संज्ञा देते हैं जहाँ व्यक्ति की स्थिति स्थायी रूप से निश्चित होती है। किंगस्ले डेविस ने जाति की व्याख्या करते हुए यह माना है कि जाति के द्वारा कुछ गुण हमें विरासत में मिलता है-अर्थात् इसके कारण असमानता विरासत के रूप में मिलता है। इस प्रकार उनका मानना था कि दो प्रकार के सामाजिक व्यवस्था की बात की जा सकती है-एक वह असमानता जो उत्तराधिकार में जाति के द्वारा मिलती है और दूसरा वह जो समानता के आधार पर समान अवसर से जुड़ा होता है। ये दोनों स्तरीकरण को दर्शाते हैं एक में एक व्यक्ति की वही स्थिति होती है जो उसके पिता की होती है और दूसरे में व्यक्ति वह स्थिति प्राप्त करता है जो उसके पिता का हो भी सकता है या नहीं भी। व्यक्ति मेहनत कर अपने पिता की स्थिति से अपने आप को और भी उपर उठाने की संभावना पैदा करता है। यह कहा जा सकता है कि भारतीय जाति व्यवस्था पहली स्थिति का उदाहरण है जबकि दूसरी स्थिति अमेरिकी वर्ग पर आधारित समाज है जहाँ मेहनत व परिश्रम से एक व्यक्ति अपने पिता से उँचा स्थान प्राप्त करता है। जाति पर आधारित समाज की निम्न विशेषताओं का उल्लेख करना यहाँ उचित है-

- जाति में सदस्यता वंशानुक्रम पर निर्भर करता है। बचपन से ही जन्म के बाद उसे वह स्थान मिल जाता है।
- इस प्रकार के विरासत में मिली सदस्यता निर्धारित तथा स्थायी होती है क्योंकि व्यक्ति चाहकर भी इसे छोड़ नहीं सकता है।

- iii. यहाँ विवाह के लिए उसके पास अंतर्विवाही (Endogamy) विकल्प के अलावा और कोई दूसरा विकल्प नहीं होता।
- iv. खाने-पीने में उसकी पसंद सीमित होती है अर्थात् किसी और के हाथ का बना खाना, वह खा नहीं सकता।
- v. जाति द्वारा उसे जो पहचान व नाम मिलता है उसे वह चाहकर भी नहीं बदल सकता।
- vi. जाति के लोग परंपरागत पेशे से बँधे होते हैं।
- vii. प्रत्येक जाति की अपनी प्रतिष्ठा व सम्मान होती है जो उस जाति से स्थापित होती है।
- viii. जाति के आधार पर न केवल भोजन, बल्कि स्थान भी पवित्र तथा अपवित्र जैसी धारणा से जुड़े होते हैं।
- ix. जाति के लोग भी उप जाति के आधार पर बँटे होते हैं (अर्थात् जाति के अन्दर ही एक स्तरीकृत उप जाति होती है) जिसकी स्थिति एक दूसरी से भिन्न होते हैं। ब्राह्मण जाति में भी कई उप जाति होती हैं जिनकी सामाजिक स्थिति एक जैसी नहीं होती और उनके बीच विवाह भी सर्वथा वर्जित होता है।

जहाँ तक वर्ग और जाति पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण का प्रश्न है- ऐसी मान्यता है कि जाति तथा वर्ग को लेकर जो पहले संकीर्ण दृष्टिकोण था उसमें काफी बदलाव आया है। भारतीय समाजशास्त्री यह मानते हैं कि जाति की संरचना में काफी बदलाव आया है और आज जाति जो स्वरूप हमें देखने को मिलता है उसमें काफी बदलाव आया है। डॉ. एम. एन. शर्मा का कहना है कि वर्ग पर आधारित अंतर, जाति में प्रचूर मात्रा में पाया जाता है। गाँव में रहने वाले लोग कभी-कभी भारतीय वर्ग संरचना का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए उनका मत था कि जाति और वर्ग को एक दूसरे का विरोधी स्वरूप नहीं समझना चाहिए। ये दोनों भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अविभाज्य पहलू हैं और इन दोनों के बीच गहरा संबंध है जिसके निरंतरता और परिवर्तित स्वरूप का अध्ययन किया जाना आवश्यक है। जाति और वर्ग के बीच के संबंध की व्याख्या करते हुए योगेन्द्र सिंह ने कहा है कि जाति तथा वर्ग भारतीय समाज के संरचनात्मक तत्व का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। वर्ग, जाति के ढांचे के अंतर्गत ही कार्य करते हैं। एम. एन. श्रीनिवास ने भी इस बात पर ज्यादा बल दिया है कि जाति तथा वर्ग के बीच के संबंध को केवल ग्रामीण तथा शहरी समाज और शिक्षा से जुड़े सुविधाओं को प्राप्त करने तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए। इसमें भूमिका को नौकरशाही, मजदूर युनियन, राजनीतिक दलों, शहरीकरण तथा आर्थिक विकास के क्षेत्र में भी देखा जाना चाहिए तभी इसके परिवर्तित स्वरूप तथा निरंतरता को समझा जा सकता है। आज आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में जाति का आधुनिक स्वरूप एक समिति के रूप में उभरने लगा है और जाति अपने आप को परंपरागत संरचनाओं तथा सांस्कृतिक तत्वों तक ही सीमित रहने के बजाय आधुनिक युग के नये उभरते समूह तथा समितियों का भी अभिन्न अंग बनता जा रहा है और इस प्रकार नये संबंध विकसित हो रहे हैं और जाति तथा वर्ग के आपसी संबंध काफी गहरे हो गये हैं इसलिए इनके इस सम्मिलित स्वरूप की पहचान को नये तरीके से अध्ययन करने की जरूरत है।

सामाजिक गतिशीलता और इसके प्रकार

सामाजिक गतिशीलता से अभिप्राय व्यक्ति का एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने से होता है। जब एक स्थान से व्यक्ति दूसरे स्थान को जाता है तो उसे हम साधारणतया आम बोल चाल की भाषा में गतिशील होने की क्रिया मानते हैं। परंतु इस प्रकार की गतिशीलता का कोई महत्व समाजशास्त्रिय अध्ययन में नहीं है। समाजशास्त्रिय अध्ययन में गतिशीलता से तात्पर्य एक सामाजिक व्यवस्था में एक स्थिति से दूसरे स्थिति को पा लेने से है जिसके फलस्वरूप इस स्तरीकृत सामाजिक व्यवस्था में गतिशील व्यक्ति का स्थान उँचा उठता है व नीचे चला जाता है। एक स्थान से उपर उठकर दूसरे स्थान को प्राप्त कर लेना जो उससे उँचा है निस्संदेह गतिशीलता है। सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र में सामाजिक गतिशीलता का अभिप्राय है किसी व्यक्ति, समूह या श्रेणी की प्रतिष्ठा में परिवर्तन।

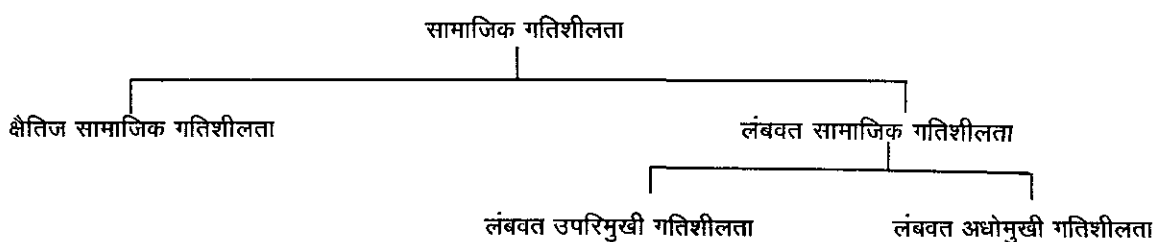
पेंगुयिन शब्दकोष में एब्रक्रोम्बी आदि ने सामाजिक गतिशीलता को व्यक्ति के एक सामाजिक स्तर में विभिन्न स्तरों पर गतिशील होने की प्रक्रिया से जोड़कर देखा है। प्रायः इस प्रकार की गतिशीलता का उल्लेख मोटे तौर पर व्यवसायिक क्षेत्र तथा सामाजिक वर्ग में परिवर्तन से होता है। अक्सर सामाजिक गतिशीलता को इस समाज में मुक्त या पिछड़ेपन का दयोतक माना जाता है। सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन में गतिशीलता की दरें, व व्यक्ति की नियुक्ति भी शामिल की जाती है। इस संदर्भ में एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी के सामाजिक संदर्भ के तहत परिवार के सदस्य का आदान-प्रदान या उँचा उठना व नीचे गिरना शामिल

है। एस एम लिपसेट तथा आर बेंडिक्स का मानना था कि औद्योगिक समाज के स्वामित्व के लिए सामाजिक गतिशीलता आवश्यक है। जे एच गोल्ड थोर्प ने इंग्लैंड में सामाजिक गतिशीलता की चर्चा करते हुए इसके तीन महत्वपूर्ण विशेषताओं की बात की है-

- (क) पिछले 50 साल में गतिशीलता के दर में ज्यादा वृद्धि हुई है।
- (ख) मजदूर वर्ग की स्थिति में मध्यम तथा उच्च स्थिति में काफी परिवर्तन आया है।
- (ग) उच्च स्थान तथा मध्यम स्तर पर गतिशीलता में ज्यादा लचीलापन देखने में आया है।

सामाजिक गतिशीलता के प्रकार-सामाजिक गतिशीलता के निम्न दो प्रकार का उल्लेख पी० सोरोकिन ने किया है-

- (क) क्षैतिज सामाजिक गतिशीलता (Horizontal Social Mobility)
- (ख) लंबवत सामाजिक गतिशीलता (Vertical Social Mobility)



1. क्षैतिज सामाजिक गतिशीलता-जब एक व्यक्ति का स्थानान्तरण एक ही स्तर पर एक समूह से दूसरे समूह में होता है तो उसे क्षैतिज सामाजिक गतिशीलता कहते हैं। इस प्रकार की गतिशीलता में व्यक्ति का पद वही रहता है केवल स्थान में परिवर्तन आता है। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि सरकारी दफ्तरों में कई बार रूटिन तबादले होते हैं जिसमें एक शिक्षक जो एक शहर में पढ़ा रहे थे उन्हें उस शहर से तबादला कर दूसरे शहर में भेज दिया जाता है। इसी प्रकार मिलेटरी सेना में काम कर रहे जवान का भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जाना बिना किसी पदोन्नति के एक रूटिन तबादला है।
2. लंबवत सामाजिक गतिशीलता-जब व्यक्ति एक पद से उपर व नीचे की स्थिति पर काम करने के लिए कहा जाता है तो वह लंबवत सामाजिक गतिशीलता कहलाती है। उदाहरण के लिए एक शिक्षक को पदोन्नति कर उसे प्रिंसिपल बना देना तथा एक सूबेदार को सेना में तरक्की देकर उसे कैप्टेन का पद देना लंबवत सामाजिक गतिशीलता के उदाहरण हैं। लंबवत सामाजिक गतिशीलता में अगर पद में उन्नति हो सकती है तो पद में गिरावट भी देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए कैप्टेन के पद से हटाकर वापस एक जवान को सूबेदार बना देना भी संभव है जो लंबवत सामाजिक गतिशीलता के उदाहरण माने जा सकते हैं। लंबवत सामाजिक गतिशीलता के दो उप प्रकार हैं-
 - (क) लंबवत उपरिमुखी गतिशीलता-इस प्रकार की गतिशीलता लंबवत सामाजिक गतिशीलता का ही उप प्रकार है जहाँ एक ही दिशा में अर्थात् पदोन्नती या तरक्की की स्थिति होती है। पदोन्नती के बाद एक स्कूल शिक्षक का प्रिंसिपल बनाया जाना तथा एक सेना के जवान का सूबेदार के पद से कैप्टेन बनाया जाना लंबवत उपरिमुखी गतिशीलता के उदाहरण हैं।
 - (ख) लंबवत अधोमुखी गतिशीलता-यह भी एक लंबवत सामाजिक गतिशीलता का उप प्रकार है परंतु इसमें पदोन्नति के बजाय पद में गिरावट आती है। अगर एक प्रिंसिपल को शिक्षक पद पर काम करने के लिए कहा जाय और इसी प्रकार एक सेना के जवान को कैप्टेन से हटाकर हवलदार बना दिया जाये तो ये उदाहरण हैं लंबवत अधोमुखी गतिशीलता के।

इस प्रकार सामाजिक गतिशीलता ने मुख्य रूप से इन दो प्रकारों की चर्चा की गयी है। ब्रुम तथा सेल्जनीक ने प्रतिष्ठात्मक उपागम (Reputational approach) के द्वारा दोनों वस्तुनिष्ठ तथा आत्मनिष्ठ उपागम के विभिन्न पहलुओं पर सामाजिक स्थिति में परिवर्तन का अध्ययन किये जाने पर बल दिया है। उनका कहना था कि बहुत से समाजशास्त्रिय अध्ययनों में भी इसका वर्णन किया गया है। एक परिवार में भी पिता और पुत्र के बीच के व्यवसाय से संबंधित दोनों के पदों में अंतर पाये जाते हैं। अगर पुत्र का व्यवसायिक पद अपने पिता के अपेक्षाकृत ऊँचा हो जाता है और कालांतर में उस पुत्र के पुत्र का भी व्यवसायिक

पद अपने पिता से ऊँचा हो जाये तो इस प्रकार के पदोन्नति को वंशानुगत गतिशीलता (Generational Mobility) कहा जा सकता है। इस प्रकार व्यवसायिक क्षेत्र में जो पदों में तरक्की आती है उसका अध्ययन कर उसके जीवन-वृत्ति में गतिशीलता (Career Mobility) का समाज शास्त्रीय अध्ययन प्रतिष्ठात्मक उपागम के आधार पर किया जा सकता है। यह बताना भी आसान हो जाता है कि एक परिवार की जीवनवृत्ति में गतिशीलता की दरें तथा उसकी दिशा किस तरफ रही है।

किंग्सले डेविस ने सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन में जाति तथा वर्ग से संबंधित पदों में परिवर्तन का अध्ययन किया है। उनका मानना था कि जाति और वर्ग सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन के दो महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। जहाँ एक में अर्थात् जाति में गतिशीलता नहीं होती है वहीं दूसरी ओर वर्ग में गतिशीलता पायी जाती है। सामाजिक स्तरीकरण के संदर्भ में इसका विस्तार से अध्ययन इस अध्याय में पहले ही किया जा चुका है।

भारतीय संदर्भ में एम एन श्रीनिवास ने जाति में गतिशीलता का सांस्कृतिकरण (Sanskritisation) की अवधारणा के द्वारा विस्तार से अध्ययन किया है। उनका यह मानना था कि जाति में सामाजिक स्थिति यों तो सभी की जन्म से निर्धारित होती है जो स्थायी होती है परंतु प्रतिष्ठात्मक उपागम के आधार पर कई निम्न जाति के लोग अपनी स्थिति को उपर उठाने के लिए कई तरीकों का इस्तेमाल करते हैं ताकि वे उच्च जाति के लोगों के समकक्ष आ सकें। इस प्रकार अपनी स्थिति को उपर उठाने की कोशिश अक्सर निम्न स्तरीय जाति के लोगों में पायी जाती है। उन्होंने यह पाया कि निम्न जाति के लोग अक्सर ऊँची जाति के लोगों के व्यवहार से तथा प्रचलित सांस्कृतिक नियमों के अनुसरण को अपनाकर अपनी स्थिति को उपर उठाना चाहते हैं। जिन जातियों में पहले उपनयन (sacred thread ceremony) संस्कार का प्रचलन नहीं था वे इस संस्कार के द्वारा अपनी स्थिति को ऊँचा उठाना चाहते हैं। निम्न जाति के लोगों ने यह भी पाया कि ऊँची जाति के लोग कई धार्मिक अनुष्ठान के साथ-साथ निरामिष भोजन भी नहीं करते। निम्न जाति के लोगों ने अपने आप को ऊँची जाति के करीब लाने के लिए निरामिष भोजन को लाकर धार्मिक अनुष्ठानों को भी मानना शुरू कर दिया और इस प्रकार के कल्पित रूप से कर्मकांडों में बदलाव लाकर अपने आप को उँच जाति के समीप लाने का प्रयास शुरू किया। इस प्रक्रिया को एम एन श्रीनिवास ने सांस्कृतिकरण (Sanskritisation) कहा है।

परंतु कई अन्य समाजशास्त्रियों ने यह माना है कि सांस्कृतिकरण के माध्यम से जाति के स्थान में कोई लंबवत गतिशीलता नहीं आती है बल्कि निम्न जाति को ऐसा लगता है कि उनकी प्रतिष्ठा में बदलाव आया है और संभवतः इसलिए अपनी प्रतिष्ठा में बदलाव लाने के विचार से अधिकांश निम्न जाति के लोग ही अपने व्यवहार में इस प्रकार का परिवर्तन लाने की कोशिश में लगे रहते हैं। निस्संदेह यह कहा जा सकता है कि सामाजिक गतिशीलता की धारणा से जाति में जो परिवर्तन आये हैं उसमें शिक्षा, आय तथा पेशे में बदलाव का होना एक महत्वपूर्ण कारण है और इनका समाजशास्त्रिय अध्ययन कर सही स्थिति की पहचान करने में इस अवधारणा का योगदान काफी महत्वपूर्ण है।

सामाजिक परिवर्तन: अर्थ एवं प्रकार

समाजशास्त्र में सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा कोई नयी अवधारणा या तथ्य नहीं है। समाजशास्त्र के जनक, अगस्त कान्ट से लेकर इकीसवीं सदी के समाजशास्त्रियों ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट किये हैं इसलिए सामाजिक परिवर्तन का सामान्य अर्थ जो लिया जाता है उसे समाजशास्त्रीय विश्लेषण में ज्यादा महत्व नहीं दिया जाता है। समाजशास्त्र में सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा का मुल्यांकन सामाजिक व्यवस्था के दो पहलुओं को ध्यान में रखकर किया जाता है, ये दो प्रक्रियाएँ वो हैं (क) निरंतरता (Continuity), (ख) गतिशीलता (Changed or Mobility) जो सामाजिक व्यवस्था में उसकी संरचना को यथावत बनाये रखते हैं और दूसरी प्रक्रिया वह है जो उस व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए सदैव प्रयत्नशील होते हैं। इसलिए मैकाइवर तथा पेज ने कहा है कि सामाजिक संरचना का अध्ययन हमें ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को ध्यान में रखकर करना आवश्यक है जिसमें यह जानने की कोशिश की जाती है कि कैसे निरंतरता बनी रहती है और साथ ही उन संरचनात्मक तत्वों में परिवर्तन कैसे आते हैं। इस प्रकार परिवर्तन की प्रक्रिया में परिवर्तन की दिशा का अध्ययन किया जाना आवश्यक है।

परिवर्तन को बर्जर तथा बर्जर ने मानव जीवन का मौलिक अनुभव माना है। उनका मत था कि सामाजिक वातावरण जिसमें मनुष्य रहता है उसमें निरंतर बदलाव आता रहता है। हमारे सामाजिक परिवेश में भी निरंतर परिवर्तन आते रहते हैं। तकनीकी के परिवर्तन से अब हमारे सामाजिक परिवेश में परिवर्तन की दरें काफी तेज हुयी हैं। जहाँ प्राचीन काल में सामाजिक परिवर्तन को महसूस करने में एक दशक से उपर लग जाता था आज तकनीकी में परिवर्तन के कारण कुछ ही वर्ष में परिवर्तन दिखने

लगता है। इस परिवर्तन की दिशा तथा रफ्तार में बदलाव काफी तेजी से आया है। किंग्सले डेविस ने सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा देते हुए कहा है कि सामाजिक परिवर्तन सामाजिक संगठन में परिवर्तन लाता है-उसकी बनावट और कार्यों में परिवर्तन लाता है। हैरी एम जानसन ने भी सामाजिक परिवर्तन की संक्षिप्त परिभाषा देते हुए कहा है, "सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन से है। रोबर्ट विस्टेड का कहना था कि जिस समाज का हम अध्ययन करते हैं, हम उसके बदलती अवस्था का अध्ययन करते हैं। इसलिए काम्ट ने सामाजिक परिवर्तन से संबंधित दो पहलुओं का अध्ययन करने पर जोर दिया था। समाजशास्त्र का लक्ष्य समाज की स्थायी व्यवस्था तथा उसके गतिशील पहलु का अध्ययन करना है। उनका कहना था कि सामाजिक वैज्ञानिकों की कुछ सीमाएं हैं जिसके कारण वे भविष्य में घटने वाले क्रियाओं के बारे में निश्चित रूप से कुछ कह नहीं सकते, परंतु सामाजिक वैज्ञानिक इतना अवश्य कर सकते हैं कि समाज को अब तक जिन तत्वों ने प्रभावित किया है उसकी पहचान कर सकें। इस प्रकार किन कारक तत्वों ने इसकी संरचना तथा इसके संस्कृति को प्रभावित किया है उसका पता चला सकें ताकि उन कारक तत्वों की पहचान की जा सके जिसके कारण सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। इस प्रकार उनका अप्रत्यक्ष रूप से यह कहना था कि सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन इस प्रक्रिया को प्रभावित करने वाली तत्वों के संदर्भ में किया जाना आवश्यक है। उपर्युक्त विवेचना के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन के प्रकृति तथा उसकी विशेषताओं को समझ लेना आवश्यक है, जो निम्न हैं-

1. सामाजिक परिवर्तन समाज के गुणात्मक मूल्यों में परिवर्तन लाता है: जानसन ने सामाजिक परिवर्तन के बदलते स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि जब समाज के गुणात्मक मूल्यों में परिवर्तन आता है तो उसे हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। भारतीय संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि आजादी से पहले हमारी सामाजिक संस्थाओं का स्वरूप संकीर्ण था जो अब आजादी के बाद संवैधानिक प्रावधानों के कारण ज्यादा सार्वभौमिक हो गया है। आजादी से पहले शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार कुछ खास लोगों तक सीमित था परंतु आज वह ज्यादा व्यापक हो गया है। राजनीतिक भागीदारी भी कुछ सीमित थी परंतु आज उसका आधार ज्यादा विस्तृत हुआ है। संचार माध्यम भी कुछ लोगों तक ही सीमित थी परंतु आज संचार माध्यम में हुए परिवर्तन के कारण वह सब तक पहुँचा है।
2. संस्थात्मक परिवर्तन : कुछ संस्थात्मक परिवर्तन भी आये हैं। सामाजिक संस्थाओं तथा उसके संगठन, उसकी भूमिका और उन तत्वों में भी बदलाव आये हैं। विवाह के स्वरूप में भी बदलाव आया है। बहुपति विवाह या बहुपत्नी विवाह के जगह पर एकल विवाह की परंपरा इस परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। भारतीय समाज के संदर्भ में यह परिवर्तन परिवार जैसे संगठन उसके स्वरूप में परिवर्तन आने पर देखे जा सकते हैं। परिवार का ढांचा अब संयुक्त न रहकर एकाकी होता जा रहा है। परिवार के इस इकाकी स्वरूप के साथ-साथ महिला-पुरुष के नौकरी करने का अनुपात भी बढ़ा है। पहले जहां परिवार का कर्ता ही नौकरी करता था परंतु आज अधिकांश परिवार जो शहर तथा महानगर में रहता है उन परिवारों में माता-पिता दोनों नौकरी करते हैं। महिलाओं की स्थिति में बदलाव काफी तेजी से आया है। आर्थिक संस्थाओं तथा व्यापार की तरीकों में भी कंप्यूटर तथा संचार के तकनीकी में बदलाव आने से क्रांतिकारी संस्थात्मक परिवर्तन आया है। आज जिस किसी दफ्तर में हम जाते हैं वहां हमें कंप्यूटर के द्वारा वह सेवाएं मिल रही हैं। इस प्रकार तकनीकी बदलाव ने पूरे समाज के संस्थात्मक स्वरूप में परिवर्तन ला दिया है। आने वाले 21वीं सदी में तकनीकी के प्रभाव से जो परिवर्तन आने वाले हैं उसकी कल्पना शायद जार्ज आरवेल (George Orwell) ने अपनी पुस्तक 'एनिमल फ्रार्म या एल्डुअस हक्सले' (Alduous Hwxley) ने अपनी पुस्तक 'ब्रेव न्यु वर्ल्ड' (Brave New World) में भी नहीं सोची होगी।
3. संपत्ति की अवधारणा के परिवर्तन : बिना संपत्ति के संस्थात्मक ढांचे में परिवर्तन आते ही संपत्ति के अधिकार तथा उसके वितरण में परिवर्तन लाकर यह परिवर्तन देखा जा सकता है। आज बहुराष्ट्रीय कंपनी का एकाधिकार इतना फैलता जा रहा है कि व्यापार से जुड़ी बहुत सी आर्थिक कंपनियों को उन बहुराष्ट्रीय कंपनी के साथ समझौता कर वस्तुओं के निर्माण करने से ही जो बाजार मिलता है उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती और इस प्रकार के बदलाव भी देखे जा सकते हैं। इन आर्थिक संस्थाओं में काम करने वाले व्यक्ति न केवल अपनी तनखाह पाते हैं बल्कि उस कंपनी के द्वारा उन्हें जो नाम, प्रतिष्ठा, शोहरत मिलती है वह भी अपने आप में एक नयी चीज है जो व्यक्ति को उपहार (rewards) के तौर पर उपलब्ध हो जाती है।
4. कार्यकर्ता में बदलाव : आर्थिक क्षेत्र के संस्थात्मक ढांचे में परिवर्तन के साथ-साथ तकनीकी कर्मियों में भी परिवर्तन आया है। नियुक्ति की प्राप्ति तथा तकनीकी ढांचे में परिवर्तन आ जाने से कार्यकर्ताओं के तकनीकी हुनर अब पहले जैसे नहीं चाहिए। इसलिए तकनीकी रूप से कुशल कार्यकर्ताओं के चयन की पद्धति विकसित की गयी है। इन सब का कितना

प्रभाव संस्थाओं की क्षमता तथा कार्यकुशलता पर पड़ेगा उसका अनुमान लगा पाना संभव नहीं है परंतु फिर भी यह कहा जा सकता है कि तकनीकी रूप से कुशल कार्यकर्ता के बिना तकनीकी बदलाव लाना संभव नहीं है।

यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि आज भी कई देश ऐसे हैं जहां तकनीकी क्षेत्र में कुशल कारीगर हैं जा राजगार तथा अच्छे वेतनमान प्राप्त करने के लिए दूसरे देशों में जाना पसंद करते हैं और वहीं की नागरिकता लेकर भी बस जाते हैं। यह स्थिति मजदूरों के गतिशीलता होने का भी कारण है। आज खेतीहर मजदूर भी एक स्थान से दूसरे स्थान जाकर काम करने के लिए तैयार है और इसके कारण रोजगार में लगे अनेकों प्रकार की सेवा देने वालों की मांग में भी बढ़ाव आया है।

5. सामाजिक बनाम सांस्कृतिक परिवर्तन : किंगस्ले डेविस का कहना था कि सामाजिक परिवर्तन में जो वृहत् स्तर पर बदलाव आते हैं उसमें सांस्कृतिक परिवर्तन महत्वपूर्ण है। जब समाज के ढांचे तथा उसके कार्यों में बदलाव आता है तो उसकी संस्कृति इससे अलग नहीं रह सकती। यह सांस्कृतिक बदलाव कला, विज्ञान, तकनीकी तथा दर्शन आदि में परिलिखित होती है। अर्थात् जब समाज के सरंचनात्मक पहलुओं में बदलाव आता है तो यह उस समाज के सांस्कृतिक परिवेश को भी अनिवार्य रूप से प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए पश्चिमी देशों के मजदूरों का पूंजीपति समाज में संगठित होना एक ऐसी ही प्रक्रिया है जिससे न केवल उत्पादन प्रभावित होता है बल्कि पूरी सांस्कृतिक परिस्थिति में भी बदलाव देखा जा सकता है।
6. परिवर्तन बनाम अंतःसंबंध : समाज में लोगों के बीच परस्पर अंतःसंबंध की क्रिया अनवरत चलती रहती है और उन अंतःसंबंधों से सामाजिक परिवर्तन भी होता है। अंतःसंबंध की प्रक्रिया में स्थायित्व और भावुकता तथा एकता विद्यमान होती है जिसके कारण एक खास प्रकार का बदलाव आ सकता है। मजदूरों के बीच जो अंतःसंबंध की क्रिया के कारण सोच विकसित होती है उसका मजदूर एकता के संदर्भ तथा यूनियन संगठन और उसके कार्य करने की शैली में काफी बदलाव आ जाता है। इसलिए किंगस्ले डेविस यह मानते हैं कि सामाजिक अंतःसंबंध तथा सामाजिक परिवर्तन में गहरा संबंध है।
7. लघु स्तर तथा वृहत् स्तर के परिवर्तन : सामाजिक परिवर्तन का दायरा छोटा व बड़ा हो सकता है। इसके दायरे का बड़ा होना इस बात पर निर्भर करता है कि समय की क्या सीमा तय की गयी है तथा सामाजिक संगठन की प्रकृति क्या है? इतिहासकारों ने जब कभी सांस्कृतिक प्रदृश्य के संदर्भ में बदलाव की बात की है तो जिस समय की कल्पना उनका दिमाग में होती है वह काफी वृहत् होता है। सरंचनात्मक बदलाव में भी काफी समय लगता है परंतु इसके अतिरिक्त सरकार कुछ अधिनियम के द्वारा निषेधात्मक आदेश लगाकर भी बदलाव ला सकते हैं जो प्रभावी भी होता है और काल समय में ही दिखने लगता है। उदाहरण के लिए शिक्षा के अभियान के द्वारा परिवर्तन लाना एक वृहत् स्तर का परिवर्तन है। कारखानों को शहर से दूर भगाने का आदेश देकर शहर को प्रदूषण रहित बनाना लघु स्तर का परंतु प्रभावी परिवर्तन है।

सामाजिक परिवर्तन के प्रकार

सामाजिक परिवर्तन के कई प्रकार हो सकते हैं परंतु जब सामाजिक परिवर्तन की दिशा की बात करते हैं तो इसके दो महत्वपूर्ण 'उद्विकास' और 'क्रांति' का उल्लेख करना आवश्यक है।

उद्विकास और क्रांति

जहां तक उद्विकासीय क्रम में परिवर्तन का अभिप्राय है-इससे संबंधित अवधारणों में काफी भिन्नता है और इस आधार पर कई सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। इस अध्याय में हम विधार्थियों को उन समाजशास्त्रियों के विचारों से अवगत करवा जिन्होंने उन्होंने समाजशास्त्र के उपागम के अध्ययन में पढ़ रखा है और सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में विस्तार से ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। प्रायः दो प्रकार के उद्विकासीय सिद्धान्त की चर्चा की जाती है:-

- (i) वे सिद्धान्त जो एकपक्षीय, व्यवस्थित तथा सामाजिक परिवर्तन के प्रगतिशील पहलु को महत्व देते हैं।
- (ii) वे सिद्धान्त जो डार्विन के जैवीकीय अनुरूपता (Biological Analogy) के कारण वनस्पति जगत तथा प्राणी जगत के संदर्भ पर आधारित हैं।

उद्विकासीय दृष्टिकोण 19वीं सदी के समाज के अध्ययन में काफी प्रचलित सिद्धान्त माना गया। उस समय के अधिकांश समाजशास्त्रियों ने इसे अपने सिद्धान्त का हिस्सा बनाया। यहां तक कि सेंट साइमन जो फ्रांस के सामाजिक विचारक तथा

कोम्ट के गुरु थे उन्होंने भी 18वीं सदी के अंत तथा 19वीं सदी के शुरुआत में सामाजिक विकास में उदविकासीय सिद्धान्त को अपनाते हुए अपना व्याख्यान प्रस्तुत किया। ज्ञान के विकास में उदविकासीय सिद्धान्त के महत्व को कोम्ट ने आगे बढ़ाया। कोम्ट ने उदविकासीय क्रम में मानवीय सोच तथा संस्कृति में बदलाव का अध्ययन किया। उनके अनुसार समाज तीन अवस्थाओं धार्मिक, तात्विक, स्तर से गुजरते हुए प्रत्यक्ष स्तर पर पहुंचा है। सभी समाज इन तीन अवस्थाओं से गुजरे हैं और इनके विकास के क्रम में एकपक्षीय दिशा तथा प्रगति देखा जा सकता है। उन्होंने विकास के क्रम में सरंचना का प्रकार्यात्मक विशेषीकरण और सामाजिक तत्वों का समग्र के साथ अनुकूलन पाया।

इंग्लैंड के समाजशास्त्री हर्बर्ट स्पेंसर ने भी उदविकासीय स्तरी में एकपक्षीय अवधारणा का प्रतिपादन किया है। एक समाज में जटिलता के आधार पर उन्होंने प्रगति को मापने का आधार माना। उनका कहना था कि समाज में जो प्रचलित रुझान है वह है सरल तथा अविभाजित समग्र का जटिल तथा विषम होना जिसके फलस्वरूप एक समग्र के अंग व हिस्सों में विशेष कार्य संपादित करने की क्षमता पैदा होती है परंतु इस विशेष विशिष्ट भूमिका के कारण समाज के एकीकृत स्वभाव पर कोई प्रतिकूल असर नहीं पड़ता। उन्होंने भी जैविकीय अनुरूपता का प्रयोग किया परंतु समाज को जैविकीय प्राणी नहीं माना क्योंकि उनका मानना था कि विकास तथा परिवर्तन और जैविकीय विचार संस्कृति में भी देखे जा सकते हैं।

मैकाइबर तथा पेज ने उदविकासीय सिद्धान्त का विस्तार से वर्णन करते हुए कहा है कि यह परिवर्तन के विभिन्न पहलुओं को दर्शाता है। जो परिवर्तन उदविकासीय ताकतों के कारण आते हैं उसकी क्षमता उस समाज में ही निहित होती है। इसलिए उदविकासीय सिद्धान्त को पृथ्वी के विकास, ब्रह्मांड के विकास में भी इस्तेमाल किया जाता है। उन्होंने उदविकासीय सिद्धान्त के कुछ महत्वपूर्ण लक्षणों की चर्चा की है जो निम्न है:-

क. विभिन्नता का सिद्धान्त : समाज के विकास के क्रम में सावयवी उदविकासीय (Organic Evolution) पहलू की बात करते हुए समाजशास्त्रियों ने यह माना है कि विभिन्नता का सिद्धान्त यहां भी देखा जा सकता है। सावयवी उदविकासीय क्रम में न केवल समाज जटिल होता है बल्कि समाज में वैविधता आती है। उस समाज के ढांचे में वैविधता आने का मतलब है उस समाज के प्रकार्यात्मक लक्षणों में वैविधता का आना। हर्बर्ट स्पेंसर ने यह बताया था कि कैसे समाज समाजातीय स्वरूप जटिल होने के साथ-साथ विजातीय गुण विकसित कर लेता है। समाज की विभिन्न इकाइयों में भिन्नता आती है। विभिन्नता निम्न परिस्थितियों में देखा जा सकता है:-

- (i) सामाजिक जीवन विभिन्न श्रेणी में बंट जाता है।
- (ii) एक इकाई के स्वरूप में बदलकर और उसके कई उप-इकाई बनाते हैं।
- (iii) जहां तक मानवीय समुदाय का प्रश्न है वहां बच्चा बड़ा और वयस्क होकर जटिल कार्य करने की क्षमता प्राप्त करता है।
- (iv) विकास के क्रम में ये तत्व एक अवस्था को बदलकर दूसरी अवस्था में आते हैं और इनके कार्य और भी विशिष्ट क्रियाओं को करने की क्षमता पैदा कर लेते हैं।

ख. एकीकृत स्वरूप : उदविकासीय क्रम में विभिन्नता के साथ-साथ समाज में ज्यादा एकरूपता पायी जाती है। निम्न तरीकों से एकरूपता आती है:-

- (i) श्रमविभाजन के कारण विशिष्ट क्रियाओं को करने में ज्यादा एकीकरण होता है।
- (ii) क्रियात्मक समिति का गठन तथा उनकी संस्थाओं के लक्षण में भी बदलाव तो आते हैं परंतु उनके कार्यों में ज्यादा एकता आती है और वे ज्यादा संगठित होते हैं।
- (iii) सामाजिक संचार में विविधता के साथ-साथ उसके रूपांतरित प्रकृति में इसके बावजूद भी एकता देखी जा सकती है।

इ. दुर्खिम ने इस विविध स्वरूप तथा श्रम विभाजन के कारण कैसे समाज में विशेषीकरण से सावयवी एकता मजबूत होती है इसका विस्तार से वर्णन किया है। बीसवीं सदी तथा इसके उत्तरार्ध में समाजशास्त्रियों ने यद्यपि ज्यादा ध्यान उदविकासीय सिद्धान्त पर नहीं दिया है परंतु फिर भी अप्रत्यक्ष रूप से उदविकासीय सिद्धान्त ने अपना स्थान प्रकार्यात्मक विश्लेषकों की सोच में बना लिया है इसलिए जो भी समाजशास्त्री प्रकार्यात्मक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं वे सभी उदविकासीय सिद्धान्त के कुछ तत्वों को मानते हैं। यहाँ तक कि कार्ल मार्क्स के द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त में भी उदविकासीय सिद्धान्त के तत्व देखे जा सकते हैं। जब वे उत्पादन के साधन में विकास के साथ-साथ सामाजिक सरंचना तथा वर्ग के बदलते स्वरूप का वर्णन करते हैं।

क्रांति

सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन के संदर्भ में सामाजिक क्रांति को आधार मानकर अध्ययन करने की परंपरा यद्यपि 20वीं सदी के बाद बल्कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ही शुरू हुई। सामाजिक क्रांति को सामाजिक परिवर्तन का मुख्य आधार मानकर सैद्धान्तिक स्तर पर कार्ल मार्क्स ने इसका अध्ययन तो किया परंतु समाजशास्त्रीय अध्ययन में क्रांति का अध्ययन समाजशास्त्रीय विषय के विकसित होने के लगभग 100 वर्ष के बाद ही शुरू हो पाया। साधारण बोल-चाल की भाषा में क्रांति का अर्थसरचना में मौलिक परिवर्तन से है। सामाजिक क्रांति से तात्पर्य पूरे सामाजिक संरचना में बदलाव से है और सरकार में राजनीतिक बदलाव उसका एक प्रकट रूप हो सकता है। क्रांति का स्वरूप राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व सामाजिक हो सकता है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि क्रांति की बात हम किसी भी क्षेत्र में क्यों न करें क्रांति का अर्थ संपूर्ण ढांचे में परिवर्तन होता है।

हैरी एम जानसन ने कहा है कि क्रांति में हमें सबसे तीव्र संघर्ष पाया जाता है। क्रांति के प्रमुख कारणों का वर्णन करते हुए उनका मत था कि सामाजिक व्यवस्था के साथ व्यापक स्तर पर लोगों का अभाव महसूस करना क्रांति का प्रमुख कारण बन जाता है। गोट्सचाक के विचारों का उल्लेख करते हुए जानसन ने कहा है कि अमेरिकी क्रांति (1776) फ्रांस की क्रांति (1789) तथा रूस की क्रांति (1817) में जमीन की कमी, असाधारण रूप से कर की वसूली, सेना के लिए अधिक कीमत, प्रतिष्ठा व सम्मान से उनका अलग किया जाना, कुशासन, खराब सड़क, व्यापार पर प्रतिबंध, भ्रष्टाचार, कूटनीतिक हार, सूखा, अधिकांश कीमत, कम मजदूरी तथा बरोजगारी जैसे सामान्य कारक तत्वों को आसानी से इन तीनों क्रांति का कारण कहा जा सकता है। क्रांति के लिए जहां उपर्युक्त कारण हो सकते हैं परंतु अगर ऐसी बात होती तो ये कारण तो हमेशा रहते हैं परंतु फिर भी उस समाज में लोग विद्रोह या क्रांति में हिस्सा नहीं लेते। इसलिए क्रांति की सफलता के लिए जनमत और नेतृत्व की अपना एक अलग भूमिका होती है। अलगाववाद से क्षुब्ध व्यक्ति उस क्रांतिकारी समूह से जुड़ जाता है जो परिवर्तन चाहता है। इसलिए क्रांति की सफलता के लिए विचारधारा का होना आवश्यक है। जिस राष्ट्र व अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के खिलाफ क्रांति चलाने जा रही है वह कितना मजबूत या कमजोर है। उस पर भी क्रांति की सफलता निर्भर करती है।

ब्रूम तथा सेल्जनीक ने कहा है कि सामाजिक क्रांति वृहत तथा संकीर्ण दोनों स्तर पर प्रभावी होते हैं। वृहत स्तर पर सामाजिक क्रांति पूरे सामाजिक संरचना पर अपना प्रभाव डालता है अर्थात् पूरे ढांचे को बदलने की क्षमता रखता है या इसके कुछ पहलूओं को ही प्रभावित करता है। जब हम औद्योगिक क्रांति की बात करते हैं तो वृहत स्तर पर हुए परिवर्तन की बात करते हैं क्योंकि इस क्रांति से समाज के कई पहलूओं पर परिवर्तन देखे जा सकते हैं और छोटे स्तर पर इसका प्रभाव कारखानों में काम करने वाले प्रबंधक वर्ग की नियुक्ति में देखा जा सकता है और इसी स्तर पर प्रबंधन की नीति में भी कुछ बदलाव देखे जा सकते हैं। मैकाईवर तथा पेज ने क्रांतिकारी परिवर्तन की बात औद्योगिक क्रांति के संदर्भ में ही की है उनका कहना था कि 19वीं सदी में इसे प्रतिपादित किया गया। इसके द्वारा किस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में बदलाव आते हैं उसका विशेष रूप से वर्णन किया गया है मैकाईवर तथा पेज ने मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त को तकनीकी तथा आर्थिक दृष्टि से हुए परिवर्तन का समझने का सैद्धान्तिक आधार माना है।

समाजशास्त्र में क्रांति का अध्ययन व्यापक रूप से 1950 के बाद शुरू हुआ। 20वीं सदी के औद्योगिक समाज में तकनीकी विकास के कारण जो तेजी से परिवर्तन आये उसे समाजशास्त्री ने भी अध्ययन किया है।

परंतु इस प्रकार के प्रयास में दो कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पहली कठिनाई यह थी कि अपने अध्ययन में परमाणु हथियार के इस्तेमाल से जो विनाशकारी प्रभाव समाज पर होगा उसकी आंशका समाजशास्त्रियों तथा सामाजिक वैज्ञानिकों को भी सोचा नहीं था। दो राष्ट्रों में हुए युद्ध के समय के विनाशकारी हथियारों को लेकर कोई अनुबंध नहीं सोचे गए। युद्ध का लेव विचारधारा पर आधारित हिंसक वारदातों का सिलसिला इतना संवेदनशील रहा कि सामाजिक वैज्ञानिकों ने अपने अध्ययन के द्वारा इस प्रक्रिया को समझकर इस पर रोक लगाने में सफल हो पाते- ऐसा कुछ भी नहीं हो सका। अर्थात् क्रांति स जुड़ लोगों कि राजनीतिक रुझान तथा नैतिक सोच इतनी तेज थे कि समाजशास्त्रियों का इस पर अध्ययन कर पाना मुश्किल था। दूसरी कठिनाई जो समाजशास्त्रियों के सामने थी वह थी सैद्धान्तिक आधार पर इन क्रांतियों का अध्ययन। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक क्रांति का सिद्धान्त मुख्य रूप से सामंतवादी से पश्चिमी पूंजीवादी व्यवस्था में कैसे हुआ है-इस पर केंद्रित था। क्रांतिकारी मजदूरों के सोच का अध्ययन पश्चिमी समाज के पूंजीवादी व्यवस्था में कैसे हुआ है इस ओर ही केंद्रित रहा। 20

सदी में जो क्रांतिकारी परिवर्तन आये वो ज्यादातर कृषक समाज में हुए। पूंजीवादी समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन जिसे मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष की संज्ञा दी थी इस प्रकार के क्रांति नहीं हुए। आधुनिक समय में मार्क्स के क्रांति से जुड़े सिद्धान्तों के आधार पर मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों ने इन प्रक्रियाओं को कैसे अध्ययन किया जाए पर विचार नहीं किया। क्रांतिकारी परिवर्तन जो, कृषक समाज में हुए हैं उन सभी के कई कृषक विद्रोह के अध्ययन में मार्क्सवादी सोच का इस्तेमाल किया। परंतु मार्क्स के सिद्धान्त की एक विकल्प के रूप में क्रांतिकारी परिवर्तन करने का सिद्धान्त नहीं बन पाया है।

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग संघर्ष का सैद्धान्तिक आधार पर अध्ययन करने का प्रयास हर्बर्ट मार्कुजे, आंद्र गुंडे फ्रैंक, एलेन तुरेन, डेहरेन डाफ, हेबर मास आदि के विचारों में 1960 के बाद से दिखता तो है परंतु ये विश्लेषण मार्क्स के मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन व विश्लेषण नहीं करते हैं। इस प्रकार के अध्ययन में उल्लेखीय अध्ययन बैरिंगटन मुर का है जिन्होंने अपनी पुस्तक सोसल आरिजिन्स ऑफ डिकटेटरशीप एंड डेमोक्रेसी में किया है। आधुनिकीकरण की तरफ जो प्रवृत्ति क्रांतिकारी परिवर्तनों के द्वारा हुए हैं उनके तीन स्वरूपों का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है कि फ्रांस, इंग्लैंड तथा अमेरिका में इसे बुर्जुआ क्रांति कहा जा सकता है। जर्मनी तथा जापान में इस प्रकार के क्रांति ऊपर से थोप दिये गये जिसके कारण क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं। रूस तथा चीन में साम्यवादी क्रांति के कारण इस प्रकार के परिवर्तन आये हैं। इन सभी क्रांतिकारी बदलाव लाने में निम्न विधि का प्रयोग किया गया जिसे क्रांतिकारी सिद्धान्तों का आधारभूत तत्व कहा जा सकता है क्योंकि ये सभी क्रांति में सामूहिक स्तर पर लोगों को एक संयुक्त कार्य करने के लिए नेताओं के द्वारा संगठित करने का प्रयास शुरू किया गया था।

- (i) सरकार को बदलने की बात इन क्रांतिकारी प्रयासों में दिखती है।
- (ii) जनता का लोकप्रिय समर्थन पाने के लिए नेताओं का संगठित प्रयास होता है ताकि उन लोगों को संयुक्त कार्य करने के लिए प्रेरित कर सकें।
- (iii) मांगे सामान्य स्तर की होती है जिसका सीधा संबंध राजनीतिक तथा सामाजिक ढांचे में परिवर्तन लाने का होता है।
- (iv) क्रांति की स्थिति कुछ परिपक्व हो जाती है जब संयुक्त कार्य करने के लिये जनता के इरादे दृढ़ हों और हौंसला बुलंद हो।
- (v) सामाजिक क्रांति सफल हो सकती है जब शासक वर्ग स्वयं विभाजित हों या कमजोर पड़ जाये।
- (vi) सामाजिक क्रांति की सफलता शासक वर्ग में शासन करने वाले लोगों से भी जुड़ी होती है। अगर शासक वर्ग के कुछ लोग भ्रष्ट हों और जनता की मांग उन भ्रष्ट लोगों को ही बाहर करने तक सीमित हो तो इस प्रकार के क्रांति जल्द सफल हो जाते हैं।

आजादी के बाद भारत में इस प्रकार के क्रांतिकारी परिवर्तन 1974-76 के दौरान ही देखा गया जब विरोधी दलों के सभी नेताओं ने जनता पार्टी का गठन कर जनता को संगठित किया। निरंकुश सरकार को बदलने का लक्ष्य बनाया। जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में इस प्रकार का राष्ट्रव्यापी आंदोलन शुरू हुआ। 1977 के चुनाव में जनता ने सत्तारूढ़ सरकार के विपक्ष में अपना मत डालकर सरकार बदलने का इरादा साफ कर दिया। इस प्रकार आजादी के बाद शायद पहली बार इस प्रकार के संगठित प्रयास से क्रांतिकारी परिवर्तन लाये गये। जिस विचारधारा के तहत इस प्रकार का संगठित प्रयास किया गया उसे संपूर्ण क्रांति कहा गया। भारत जनजातीय समाज में इस प्रकार के क्रांति द्वारा परिवर्तन लाने का प्रयास कई बार 19वीं तथा 20वीं सदी में किया गया जिसका अध्ययन सामाजिक मानवशास्त्रियों ने किया है। मुख्य बात यह है कि जिस प्रकार के क्रांतिकारी परिवर्तन की बात कार्ल मार्क्स ने वर्ग संघर्ष पर आधारित क्रांति के रूप में सोचा था व न तो भारतीय समाज के संदर्भ में दिखता है और न कहीं दूसरे पश्चिमी देश में दिखता है। परंतु फिर भी प्रजातांत्रिक क्रांति की प्रक्रिया में विश्व के स्तर पर राष्ट्र मुक्ति आंदोलन की प्रक्रिया में बदलाव लाने का यह एक महत्वपूर्ण साधन रहा है।

प्रगति और विकास

समाजशास्त्र में 'परिवर्तन', 'विकास', 'प्रगति', 'उदविकास' आदि का प्रयोग सामान्य रूप से एक दूसरे के पर्याय के रूप में किया जाता है जो सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने में कई भ्रम पैदा करते हैं। इसलिए इन अवधारणाओं का विशेष अर्थ समझना आवश्यक हो जाता है। मैकाइवर तथा पेज ने प्रगति शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रगति शब्द से अभिप्राय न केवल परिवर्तन के दिशा से होता है बल्कि परिवर्तन के उस दिशा के लक्ष्य प्राप्ति से जुड़ा होता है। परिवर्तन की उस निर्धारित लक्ष्य प्राप्ति की दिशा का आदर्श स्वरूप हमारे दिमाग में होता है जिसके अनुरूप उस मुकाम तक पहुँचने के लिए हम सभी

प्रयत्नशील रहते हैं। इसलिए प्रगति में व्यक्ति का आदर्श रूप से उस लक्ष्य को प्राप्त करना संभव है। उदविकासीय परिवर्तन में यह उद्देश्य लक्षित नहीं होता है। जबकि विकास में यह लक्ष्य निर्धारित होता है जिसे प्रत्यक्ष रूप से समझा जा सकता है। उन्नीसवीं सदी में प्रगति की अवधारणा का मूल्यांकन करते हुए जे.बी. बरी ने चार प्रमुख विचारकों के विचार का वर्णन किया है। सेंट पिअरे, कंडोरसेट, कोन्ट तथा स्पेंसर का नाम विशेष रूप से लिया गया है। हर्बर्ट स्पेंसर ने चार्ल्स डार्विन के विचार को समाजशास्त्रीय उदविकासीय, प्रगति की अवधारणा से जोड़कर इसका वर्णन किया है। समाज को उदविकासीय क्रम में प्रगति करते देखा गया। संभवतः इसी कारण बीसवीं सदी के आरंभिक दशकों में शांति, उन्नति और प्रगति को महत्व दिया गया। परन्तु प्रथम विश्व युद्ध तथा आगे चलकर द्वितीय विश्व युद्ध के कारण प्रगति की सोच रखने वाले उदविकासीय सिद्धान्त के समर्थकों को चिंता हुई। आगे चलकर परमाणु हथियारों तथा नाभकीय शस्त्रों के प्रयोग के भय से लोगों का विश्वास प्रगति पर से उठने लगा। इसलिए प्रगति को एक नैतिक अवधारणा के रूप में देखा जाने लगा। इसे वैज्ञानिक अवधारणा मानकर इसका अध्ययन करने की बात सोचने वालों ने महसूस किया कि प्रगति समाज के बदलते स्वरूप का एक आदर्श सत्य है - कि वास्तविक।

अगर प्रगति को वांछित दिशा में विकास समझा जाये तो संभव है अन्य लोग इसे ऐसा न मानें। रोबर्ट ब्रिस्टेड ने इसका उदाहरण देकर यह कहा है कि अगर कोई यह कहता है कि 1970 में बनायी गयी मोटरकार 1940 में बनाये गये मोटरकार से बेहतर थी जहाँ तक इसके कार्यक्षमता का प्रश्न था? इसके बाद भी यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या ऐसा करना अच्छा था? विकास तथा प्रगति की अमेरिकी अवधारणा को दूसरे समाज में लोग ज्यादा महत्व नहीं देते। उनके लिए प्रगति और विकास अर्थहीन हैं अगर वे अमेरिकी विचारधाराओं से जुड़े हैं। प्रगति किसी के लिए अच्छा हो सकता है तो किसी और के लिए संभवतः अच्छा नहीं हो सकता। इसलिए यह कहना कि प्रगति का एक सार्वभौमिक स्वरूप है - गलत होगा। प्रगति का एक नैतिक आधार है जो प्रत्येक समाज में अलग-अलग हो सकता है। प्रगति उस समाज के मूल्यों के संदर्भ से जुड़ा है। इसका सांख्यिक सूचक भ्रामक हो सकता है।

तकनीकी तरक्की के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भौतिक क्षेत्र में काफी परिवर्तन आया है। स्वास्थ्य तथा जीवन की आयु में काफी वृद्धि आयी है। साक्षरता तथा शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रगति सराहनीय रही है। इसीलिए जो भी भौतिक क्षेत्र में बदलाव आये हैं उन सभी ने समाजशास्त्र के प्रचलित अवधारणाओं को प्रभावित किया है। परन्तु फिर भी जब हम प्रगति की बात करते हैं तो जो परंपरागत सोच व सिद्धान्त समाज को लेकर वे निम्न प्रश्नों का उत्तर पाने में सफल हो सकते हैं:

क. कौन से समूह समाज की प्रगति से लाभान्वित हुए हैं?

ख. कौन यह तय करता है कि प्रगति का मापदंड क्या है?

ग. कौन यह निश्चय करता है कि उसका प्रगति के लिए उसका सामाजिक मूल्य कितना होना चाहिए?

सामाजिक विकास

समाजशास्त्र के सामाजिक विकास से अभिप्राय ऐतिहासिक परिवर्तन की प्रक्रिया से है। एल.टी. हाबहाऊस ने हर्बर्ट स्पेंसर के उदविकासीय सिद्धान्त की आलोचना की है परन्तु फिर भी वे ऐतिहासिक बदलाव तथा विकास को लगभग एक दूसरे के पर्याय समझते हैं। उन्होंने अपने पुस्तक *सामाजिक विकास* में विकास की निम्न विशेषताओं का वर्णन किया है:

क. विकास की दर में वृद्धि के माप के आधार पर

ख. विकास की दर में निपुणता के आधार पर

ग. विकास के संदर्भ में ऐतिहासिक बदलाव तथा विकास के पारस्परिक संबंधों के आधार पर

घ. विकास के संदर्भ में ऐतिहासिक बदलाव तथा विकास के संदर्भ में आजादी के आधार पर

कुछ अन्य समाजशास्त्रियों ने भी विकास की वृद्धि के माप का केन्द्र बिन्दु बनाकर अध्ययन किया है। दुर्खिम तथा हर्बर्ट स्पेंसर दोनों ने विकास के क्रम में उदविकासीय सिद्धान्त का प्रयोग किया है। हर्बर्ट स्पेंसर ने सामाजिक विकास की प्रक्रिया को सामाजिक संगठन के समजातीय स्वरूप में विषमता तथा विजातीयता को दर्शाते हुए यह बताया है कि सामाजिक विकास की प्रक्रिया में समाज का स्वरूप सरल से जटिल हो जाता है। दुर्खिम की भी यह मान्यता थी कि श्रमविभाजन के कारण समाज में भिन्नता आती है और समाज का विकास होता है। समाज के विकास में सामाजिक संगठन में यांत्रिकी एकता का बजाय साव्यवी एकता आती है और इस प्रकार से नये प्रकार से समाज का एकीकृत स्वरूप उभर कर आता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विकास शब्द उद्विकास की तरह ही संक्षिप्त नहीं हैं। साधारण बोल-चाल की भाषा में विकास का अर्थ किसी चीज के विकसित होने है। टी.वी. बाटमोर का कहना था कि विकास शब्द का उचित इस्तेमाल दो संदर्भों में देखा जा सकता है: (क) ज्ञान के विकास व वृद्धि के संदर्भ में तथा (ख) मनुष्य का स्वाभाविक वातावरण पर नियंत्रण जो तकनीकी तथा आर्थिक कुशलता के कारण संभव हो जाता है। एक अन्य संदर्भ में भी विकास शब्द का प्रयोग होता है जिसमें एक तरफ तो औद्योगिक समाज को ध्यान में रखकर उसकी बात की जाती है और दूसरी तरफ उस समाज की बात की जाती है जो मुख्य रूप से ग्रामीण, कृषि पर आधारित और निर्धन समाज है। इस प्रकार दूसरे तरह के समाज में औद्योगिकरण तथा आधुनिककरण का वर्णन किया जाता है। वर्तमान समय में विकास के कई विशिष्ट रूप देखे जा सकते हैं:

क. विकास या उद्विकासीय स्तर पर विकास के क्रम में मनुष्य के पूरे ऐतिहासिक जीवन का उल्लेख किया जाता है जिसमें खास प्रकार के परिवर्तन को तीन अवस्थाओं में देखे जाते हैं:

1. परंपरागत स्थिति के संदर्भ में (Traditional Society)
2. परिवर्तित समाज के संदर्भ में (Transitional Society)
3. आधुनिक समाज (Modern Society)

ख. विकास का अध्ययन आर्थिक विकास के संदर्भ में आर्थिक क्षेत्र में उन्नति से जोड़कर भी देखा जाता है। आर्थिक विकास की प्रक्रिया में उत्पादन की क्षमता में वृद्धि होना अपने आप में काफी महत्व रखता है। उत्पादन की क्षमता में परिवर्तन आना समाज में परिवर्तन लाने का एक महत्वपूर्ण शर्त बन जाता है जिसे ध्यान में रखकर ही कार्ल मार्क्स ने बताया था कि कैसे उत्पादन की क्षमता में क्रमशः वृद्धि होने से पूँजीपति समाज में दो वर्ग अर्थात् पूँजीपति और मजदूरों में स्वार्थ की टकराहट से वर्ग संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

ग. जब हम परंपरागत समाज का औद्योगिक समाज में विकास होते देखते हैं तो पाते हैं कि कैसे औद्योगिक समाज विकास की उस स्थिति पर पहुँच जाता है जिसे हम विकास का लक्ष्य मानते हैं। इस प्रकार की स्थिति के दो परिणाम होते हैं:

1. औद्योगिक समाज में होने वाले परिवर्तन के उपर ज्यादा ध्यान नहीं दिया जाता और उन परिवर्तन को नजरअंदाज किया जाता है।
2. जो अंतर पूँजीवादी तथा सम्यवादी समाज में विकास के क्रम में होता है उसे भी या तो नजरअंदाज किया जाता है या उसे समझने की कोशिश नहीं की जाती। समाजवादी समाज के विकास की बात एक वैकल्पिक समाज के रूप में भी की जा सकती है परन्तु इस प्रकार की सोच रखने वालों के सैद्धान्तिक विचारों की चर्चा ही नहीं की सकती है।

घ. विकास की अवधारणा को एक मात्र परिवर्तन के कारक तत्व के अंतर्गत विज्ञान और तकनीकी में हुए परिवर्तन से जोड़कर उसका विश्लेषण करना भी एक सामान्य बात है। मैक्स वेबर ने इस प्रकार के अध्ययन के लिए आदर्श स्वरूप (Ideal Type) की अवधारणा का विस्तार से वर्णन किया है। उनका कहना था कि पूँजीवादी व्यवस्था को समझने के लिए पूँजीवादी समाज के आदर्श स्वरूप का अध्ययन किया जाना आवश्यक है। उन्होंने अपने अध्ययन के दौरान विकास की प्रक्रिया को धर्म से किस प्रकार का समर्थन मिलता है इसका विस्तार से अध्ययन किया है। उनकी इस सोच का खंडन करते हुए यह कहा जाता है कि औद्योगिक समाज तथा आधुनिक समाज को कहाँ तक पूँजीवादी विकास से जोड़ना सही है? यह एक सवाल है जिसके बारे में निर्णायक रूप से कुछ कह पाना संभव नहीं। हां! इतना जरूर कहा जा सकता है कि धर्म विकास के मार्ग में हमेशा बाधक नहीं होते।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रगति तथा विकास की अवधारणा समाजशास्त्रिय अध्ययन के महत्वपूर्ण विषय रहे हैं। उन्नीसवीं सदी के समाजशास्त्रियों ने प्रगति को आधार बनाकर सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण किया है। इस प्रकार के अध्ययन सैद्धान्तिक अवधारणाओं के प्रयोग द्वारा कुछ अन्य समाजशास्त्रियों ने भी किया। प्रगति में एक नैतिक अवधारणा के संकेत मिलते हैं। दूसरी ओर विकास एक सामान्य प्रक्रिया है जो उद्विकासीय सिद्धान्त की अवधारणा से जुड़ी है। संभवतः यही कारण है कि सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन में प्रगति शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत कम होता है और विकास का प्रयोग ज्यादा किया जाता है।

सामाजिक परिवर्तन के कारक तत्व

सामाजिक परिवर्तन की विभिन्न अवधारणाओं पर विचार करने के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि उन कारक तत्वों की विवेचना की जाये जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक परिवर्तन होता है। रोबर्ट बिस्टेड ने सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण पाँच समस्या के रूप में किया है और इसी से सहमती प्रकट करते हुए टी.वी. बाटमोर ने यह प्रश्न उठाया है कि सामाजिक परिवर्तन क्यों होता है? इस प्रश्न के जवाब के लिए हमें सामाजिक परिवर्तन के कारक तत्वों पर विचार करना आवश्यक है। मैकाइजर तथा पेज ने सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करने वाले कारक तत्वों में निम्न कारक तत्वों की भूमिका को महत्वपूर्ण माना है:

क. जैविक तत्व (Biological Factor)

ख. तकनीकी तत्व (Technological Factor)

ग. सांस्कृतिक तत्व (Cultural Factor)

क. जैविक तत्व: जैविक क्रियाओं के द्वारा यह जानने का प्रयास किया जाता है कि सामाजिक परिवर्तन को यह कैसे प्रभावित करता है। किसी भी समाज में वहाँ की जनसंख्या की महत्वपूर्ण भूमिका होता है। जनसंख्या की क्षमता, क्रियाओं तथा सोचने के तरीके से सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में तेजी आ सकती है या फिर कमी आ सकती है। वास्तव में जनसंख्या का आकार निर्धारित होता है। यह कहा जा सकता है कि समाज से जैविक शक्ति का घनिष्ठ संबंध रहा है। जनसंख्या के गुणात्मक पहलू, इसकी संख्या, संयोजन, चयन तथा वंशागत गुण ये सभी जैविक तत्व सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करते हैं। ये सामाजिक रुझान, लैंगिक संबंध, विवाह, परिवार के आकार आदि को प्रभावित करते हैं जिनका सीधा संबंध सामाजिक व्यवस्था से होता है। सामाजिक व्यवस्थाएँ जिनमें अंतर्विवाह के संबंध, रीतिरिवाज, विवाह के उम्र आदि जैविक तत्व, जिससे जनसंख्या का सीधा संबंध है उनका अध्ययन सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने में हमारी मदद करता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जैविक तत्व के महत्व को समझने के लिए जनसंख्या के आकार को समझना आवश्यक है।

जनसंख्या का आकार सभी समुदायों में बढ़ता व घटता रहता है। 19वीं सदी में यूरोप के कई देशों में जनसंख्या का रफ्तार काफी तेजी से बढ़ने लगा परन्तु 1871-1875 में तथा फिर 1933 में जनसंख्या के दर में 25 से 38% तक की गिरावट आयी। इसी समय मृत्यु दर में भी 18 से 28% प्रतिशत तक की गिरावट आयी। इसी प्रकार भारत में 1871-1921 तक के जनसंख्या के आंकड़े यह बताते हैं कि इस दौरान भारतीय जनसंख्या का प्रतिशत वृद्धि दर 1901 में 11.0 था 1911 में बढ़कर 5-7 हो गया और पुनः 1921 में - 0.3 हो गया और उसके बाद 1931 में यह बढ़कर 11.0 हो गया और 1931 के बाद के दशकों में जनसंख्या बढ़ती ही चली गयी। इसलिए 1921 वर्ष को जनसंख्या के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण वर्ष माना जाता है। भारत की जनसंख्या पर जब हम नजर डालते हैं तो पता चलता है कि आजादी से पहले अर्थात् 1872 में जब पहली जनगणना कि गयी तब से 1951 तक आबादी 361.1 मिलियन थी जो आगे आने वाले तीन दशक अर्थात् 1981 में बढ़कर 683.8 मिलियन हो गया।

निश्चय ही किसी भी देश के सामाजिक व्यवस्था को इस प्रकार की अप्रत्याशित वृद्धि से कई समस्याओं का सामना करना पड़ सकता है। जनसंख्या की जानकारी रखने वाले विशेषज्ञों का यह मानना है कि 1921 तक के जनसंख्या के दर में कमी का महत्वपूर्ण कारण जनसंख्या की दरों में वृद्धि प्रवसन (Migration) को माना है। जहाँ जनसंख्या में अप्रत्याशित रूप से कमी आयी है उसका भी कारण मृत्यु दर का बढ़ना है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पिछले 90 वर्षों के अंतराल में जनसंख्या में जो अचानक बदलाव आया वह जन्म दर तथा मृत्यु दर में तेजी आने से देखी गयी। साथ ही जनसंख्या का एक स्थान से दूसरे स्थान में प्रवसन भी बहुत बड़ा कारण रहा है।

1921 के बाद जिस प्रकार भारत के जनसंख्या दर में वृद्धि हुई है उसने सामाजिक व्यवस्था को काफी प्रभावित किया है। 2001 की जनगणना के आंकड़ों से लिंग अनुपात की दर में वृद्धि तो दिखती है परन्तु अगर हम उत्तरी भारत के कुछ विकसित राज्यों के आंकड़ों से देखते हैं तो काफी हैरानी होती है, 1991 से 2001 में भारत का लिंग अनुपात 927 से बढ़कर 933 दर्ज हुआ परन्तु पंजाब में यह 882 से घटकर 874 हो गया, हरियाणा में 865 से घटकर 861, दिल्ली में 827 से घटकर 821 हो गया।

लिंग अनुपात का तुलनात्मक विवरण 1991-2001

	कुल जनसंख्या		विशेष उम्र 0-6	
	1991	2001	1991	2001
भारत	927	933	945	927
हिमाचल प्रदेश	976	970	951	897
पंजाब	882	874	875	793
चंडीगढ़	790	773	899	845
उत्तरांचल	936	964	948	906
हरियाणा	865	861	879	820
दिल्ली	827	821	915	865
राजस्थान	910	922	916	909
उत्तर प्रदेश	876	898	927	916

भारत की जनगणना 2001, जनसंख्या के अनन्त्रिम आंकड़े, 2001 का पेपर-2

स्रोत : उत्तरी भारत के राज्यों में शहरीकरण की प्रक्रिया 1961-2001						जनसंख्या घनत्व 1991-2001	
राज्य/वर्ष	1961	1971	1981	1991	2001		
भारत	17.97	19.91	23.34	25.71	27.78	267	324
पंजाब	23.06	23.73	27.68	29.55	33.95	372	477
हरियाणा	17.23	17.67	21.88	24.63	21.00	403	482
हिमाचल प्रदेश	6.34	6.99	7.61	8.69	9.79	93	109
जम्मू व कश्मीर	16.66	18.59	21.05	23.83	24.88	77	99
चंडीगढ़	82.80	90.55	93.63	89.69	89.78	5632	7,903
दिल्ली	-	-	-	-	-	6352	9294

लिंग अनुपात के गिरते आंकड़े इस बात को दर्शाते हैं कि भारत में पुरुष बच्चे की चाहत एक ऐसी चाहत है जिसने जनसंख्या के संतुलन को प्रभावित किया है। जनसंख्या का संतुलन जिस प्रकार उत्तर भारत में दिखता है उससे यह स्पष्ट है कि इन सबका प्रभाव सामाजिक व्यवस्था पर पड़ेगा। 0-6 उम्र के बच्चों में यह अनुपात और भी गंभीर है। देश के सबसे उन्नत प्रांत पंजाब तथा हरियाणा में यह क्रमशः 1991 से 2001 में 875 से घटकर 793 तथा 879 से घटकर 820 हो गया है और राष्ट्रीय औसत भी इसी प्रकार 945 से घटकर 927 हो गया है। इन आंकड़ों से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस प्रकार के बदलाव किसी स्वाभाविक प्रक्रिया के कारण नहीं बल्कि मनुष्य के अपने सौंच का परिणाम है। जनसंख्या विशेषज्ञ अशीष बोस ने उत्तर भारत में लिंग अनुपात के इस घटते दर को देखकर गहरी चिंता व्यक्त करते हुए कहा था कि इन प्रांतों में भ्रूण हत्या के कारण महिला बच्चों की संख्या में इतनी कमी आयी है।

शहरीकरण की प्रक्रिया भी इस बात को दर्शाता है कि अगर एक प्रांत के लोग दूसरे प्रांत में प्रवास करते हैं तो उससे भी जनसंख्या का घनत्व घट व बढ़ जाता है। भारत के उत्तरी राज्यों में विशेषकर बड़े-बड़े शहरों में जैसे दिल्ली तथा चंडीगढ़ में देश के विभिन्न राज्यों से लोगों के प्रवासन के कारण जनसंख्या घनत्व में इतनी तेजी आयी है जबकि प्रांतीय स्तर पर जनसंख्या घनत्व शहरीकरण की प्रक्रिया की रफ्तार के बारे में कोई ज्यादा संकेत नहीं देता।

शादी की उम्र में उत्तरोत्तर वृद्धि ने भी जनसंख्या संयोजन में काफी बदलाव आया है। जहाँ 1901-1911 में पुरुषों में विवाह की औसत उम्र को 20.3 दर्ज किया वही महिला में यह दर 13.2 का था जो शिक्षा तथा वैधानिक बदलाव के कारण अब लगभग पुरुषों में 23 तथा महिलाओं में 18 तक आ गया है। परन्तु राज्यों के स्तर पर आज भी यह अंतर राष्ट्रीय औसत के आंकड़ों से मेल नहीं खाता। जहाँ केरल, आसाम, पंजाब और तमिलनाडु में महिलाओं तथा पुरुषों में विवाह का उम्र राष्ट्रीय औसत के उपर पाया गया वहीं दूसरी ओर कुछ ऐसे प्रांत हैं, जैसे कि बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश जहाँ राष्ट्रीय औसत से काफी कम है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैविक तत्व सामाजिक परिवर्तन को काफी हद तक प्रभावित करते हैं। जैविक तत्वों में ज्यादातर तत्व वे हैं जो जनसंख्या से संबंधित हैं जैसे - जन्म दर, उच्च मृत्यु दर, बच्चों की अत्यधिक जनसंख्या, दुर्गम लोगों की अत्यधिक जनसंख्या, विधवाओं की अत्यधिक संख्या, प्रतिकूल लिंग अनुपात, अपंग व्यक्तियों की बढ़ती संख्या, शहरीकरण, अत्यधिक मृत्यु दर, इत्यादि ऐसे तत्व हैं जो सामाजिक परिवर्तन को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं।

मैकार्दवर तथा पेज ने इस संबंध में प्राकृतिक चयन को भी एक महत्वपूर्ण कारक तत्व माना है। डार्विन ने अपने उदविकासीय सिद्धान्त के प्रतिपादन में स्वाभाविक चयन के महत्व का वर्णन किया था। प्राकृतिक चयन के सिद्धान्त का वर्णन करते हुए उन्होंने यह कहा है कि प्राकृतिक चयन में भी काफी लचीलापन होता है। कभी-कभी उसमें अंतर आ जाता है जो उदविकासीय सिद्धान्त के अनुरूप ही हो जाता है।

प्राकृतिक चयन के साथ ही साथ लैंगिक चयन होता है जो पुरुष व स्त्री के जन्म दर में तथा मृत्यु दर में परिवर्तन का कारण होता है। भारतीय जनगणना लिंग अनुपात से संबंधित आंकड़े कुछ इस तरह ही इशारा करते हैं। जिसके कारण लिंग अनुपात की दरें कुछ राज्यों में प्रतिकूल हो गयी हैं।

प्राकृतिक चयन और सामाजिक चयन के परिणाम भले ही एक हों परन्तु इन दोनों का प्रभाव अलग-अलग तरीके से होता है। जहाँ प्राकृतिक चयन मृत्यु दर को प्रभावित करता है वहीं सामाजिक चयन में जन्मदर को प्रधानता दी जाती है अर्थात् यह जन्म दर को ज्यादा प्रभावित करता है। जहाँ प्राकृतिक चयन में जन्मदर प्रकृति के नियम द्वारा होता है वहीं सामाजिक चयन में यह निर्णय व्यक्ति द्वारा किया जाता है कि किसे जन्म लेने का अधिकार दिया जाये और किसे जीवित रखा जाना है। ये सामाजिक चयन उस समाज के संस्कृति से उसके रीति-रिवाजों से प्रभावित होते हैं। प्राकृतिक चयन में स्वाभाविक रूप से परिस्थितियों के अनुरूप ढालने की बात होती है जबकि सामाजिक चयन समाज के बनाये गये नियम, रीतिरिवाज एक खास समय और स्थान पर अपने तरीके से अपना प्रभाव बनाकर रखता है।

प्रजनन और निरंतरता के लिए सामाजिक चयन की भूमिका अहम होती है। महिलाओं को किसी प्रकार की भूमिका दी जानी है और बच्चों को किस प्रकार से समाजीकरण की प्रक्रिया में किया सिखाया जाना है यह सब बातें सामाजिक चयन के साथ जुड़ जाते हैं। यहाँ तक की स्वास्थ्य के बारे में जो फैसले किये जाने हैं उसे भी सामाजिक चयन द्वारा ही तय किया जाता है। समाज ही विवाह के बंधनों, तरीकों को भी संचालित करता है और इसलिए इस समाज के अपने नियम व काम करने के तरीके बिल्कुल अलग होते हैं। परिवार नियोजन के उपायों के बारे में भी सामाजिक चयन के तरीके देखे जा सकते हैं जो इस समाज के द्वारा संचालित होते हैं जिसमें वह रहता है सामाजिक चयन प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष दोनों तरीकों से होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि जैविक तत्व अपने अलग तरीके से सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करते हैं।

- ख. तकनीकी कारक तत्व: आज हम अपने सामाजिक जीवन में जो परिवर्तन देखते हैं उसका श्रेय तकनीकी विकास को ही जाता है। नयी जानकारी, उत्पादन के नये साधन, जीवन शैली में गुणात्मक बदलाव- इन सभी के पीछे तकनीकी का महत्वपूर्ण योगदान है। तकनीकी आज के युग का एक अनोखा परन्तु असाधारण तत्व है। मशीनीकरण ने हमारे पूरे सामाजिक परिवेश को प्रभावित किया है। लेविस ममफोर्ड तथा कार्ल मैनहाइम दोनों का यह मत था कि तकनीकी की दुनिया ने हमें तथा हमारे समाज को पूर्ण रूप से बदल दिया है।

समाजशास्त्रिय दृष्टिकोण से तकनीकी ने सभी उत्पादन के साधनों को बदला है। जिस प्रकार उत्पादन के साधनों का इस्तेमाल होता है और उत्पादन से जुड़े लोगों को उत्पादन के लिए संगठित किया जाता है उसके कारण श्रम विभाजन की प्रक्रिया को भी तकनीकी ने ही प्रभावित किया है। उत्पादन के कार्यों को व्यवस्थित तरीके से संगठित कर सामाजिक व्यवस्था को पुनर्स्थापित करना भी तकनीकी के द्वारा ही संभव हो पाया है। इसलिए तकनीकी का विश्लेषण करते हुए यह कहा जाता है कि तकनीकी में परिवर्तन भी सामाजिक प्रक्रिया के कारणों से ही होती है। यह कोई एकतरफा सिलसिला नहीं है। अगर तकनीकी सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करता है। तकनीकी को भी प्रभावित करने का सामाजिक प्रक्रिया का महत्वपूर्ण योगदान होता है। यहाँ हम तकनीकी के प्रभाव का वर्णन करना चाहेंगे:

1. *मशीनीकरण तथा सामाजिक परिवर्तन:* अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि औद्योगिकरण ने गृह उद्योग को तबाह कर दिया। यह भी कहा जाता है कि बाहरी तत्व के रूप में तकनीकी ने हमारे सामाजिक जीवन को छिन्न-भिन्न कर दिया। परन्तु अगर गंभीरता से विचार किया जाये तो हम पायेंगे कि तकनीकी ने महिलाओं को कारखाने में काम करने के लिए स्थान दिया। उनकी गतिशीलता बढ़ी। रोजगार के नये अवसर प्राप्त हुए। एक नये वातावरण का निर्माण हुआ। महिलाओं की कारखाने में काम करने का मौका मिला। पूरे काम करने वाले मजदूर के संगठनात्मक प्रक्रिया पर इसका प्रभाव पड़ा। इस प्रकार तकनीकी के प्रभाव से नये वातावरण में हमें उसके अनुरूप बदलने का अवसर प्राप्त हुआ। विशेष कार्य करने की क्षमता मजदूरों में आयी। प्रतिस्पर्धा तथा रोजगार के अनेकों अवसर प्राप्त हुए। इसने पुराने परिवार के ढांचे तथा सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाले सामाजिक व्यवस्था के प्रतिमानों तथा मूल्यों में भी परिवर्तन ला दिया।
2. *मशीनीकरण तथा मूल्यों में बदलाव:* लोगों के विचार, सोच, कार्य करने की प्रणाली में बदलाव आया। कार्य के अनुसार लोगों को पैसे मिले। समाज में उनका स्थान बढ़ाया। उनकी प्रतिष्ठा बढ़ी और उनके सोचने के तरीके में भी बदलाव आया। सफलता को मापने का तरीका बदला। उच्च पद, स्थान, उम्र, धर्म के साथ-साथ संपत्ति अधिक कमाने वाले व्यक्ति को समाज में एक नया स्थान मिला। संकीर्ण विचारधाराओं के जगह नयी प्रजातांत्रिक सोच ने लिया। इस प्रकार सामाजिक संबंधों में भी बदलाव आये। नये लोगों के साथ संबंध बने। मनुष्य की सोच में ज्यादा व्यवहारिकता झलकने लगी।
3. *प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रभाव:* तकनीकी के प्रभाव से उसके अनुरूप ही परिवर्तन आ जाये ऐसा संभव नहीं होता। इसलिए संस्कृति तथा परंपरा पर आधारित सोच में कुछ हद तक तो बदलाव आता है और बाद में यह बदलाव लाकर तकनीकी भी उस समाज की संस्कृति से जुड़कर समाज के व्यवस्था, रहन-सहन और खाने-पीने के ढंग को प्रभावित करता है। मनुष्य संभव है तकनीकी का गुलाम हो और तकनीकी को नियंत्रित कर अपने इच्छाओं की पूर्ति करने की भी क्षमता रखना हो परन्तु सच तो यह है कि अगर तकनीकी प्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति के जीवन को बदल सकता है तो सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्था भी तकनीकी को अपने अनुरूप बदलने की क्षमता रखते हैं।

तकनीकी में परिवर्तन से समाज में परिवर्तन आती है। यह समाज के सामने नई शर्त पैदाकर जीने का नया आयाम सामने प्रस्तुत करती है।

नयी कृषि तकनीकी तथा सामाजिक परिवर्तन: कृषि तकनीकी में परिवर्तन आने से सामाजिक जीवन में भी बदलाव देखा जा सकता है। कृषि से जुड़े लोग कृषि तकनीकी में बदलाव आ जाने से शहर से भी जुड़ जाते हैं। उत्पादित चीजों को बेचने के लिए शहर में बाजार से सीधा संपर्क बनाना उनके लिए आवश्यक हो जाता है।

भारत में तकनीकी के बदलाव से हरित क्रांति की स्थिति उत्पन्न हुयी। हरित क्रांति का लाभ सभी वर्गों के किसान तथा मजदूर को हुआ। मजदूरों को अधिक मजदूरी तथा किसान को फसल के पैदावार में वृद्धि होने से अधिक मुनाफा हुआ।

संचार के क्षेत्र में प्रगति से सामाजिक परिवर्तन: संचार के साधनों में प्रगति होने से भी सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। आज किसानों को संचार साधन में बदलाव आने के कारण मौसम की अग्रिम जानकारी मिल जाती है। मंडी में विभिन्न बाजारों में फसल की कीमत को पता लगाकर वे उस मंडी में अपना अनाज बेचकर अधिक मुनाफा कमाने की ताक में रहते हैं जहाँ उन्हें अपने उत्पादित चीजों की वाजिब कीमत मिल सके। इस प्रकार से तकनीकी में परिवर्तन आने से सभी किसान व मजदूर की सामाजिक स्थिति में बदलाव आयेगा। तकनीकी में प्रगति आने से सामाजिक व्यवस्था वे उपर निम्न प्रभाव देखे जा सकते हैं:

- i. *विशेषीकरण:* तकनीकी से कार्यकुशलता तथा उत्पादन की क्षमता बढ़ती है। कुछ खास तकनीकी विकसित होती हैं जो विशेष काम करने में सामाजिक व्यवस्था में अत्यधिक कार्यकुशलता लाकर समाज के कल्याणकारी कार्यों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। अर्थव्यवस्था को इसका विशेष लाभ मिलता है।
- ii. *तकनीकी का आधुनिक संदर्भ में महत्व:* आज गंभीर से गंभीर समस्या का समाधान आधुनिक तकनीकी के परिवर्तन से देखा जा सकता है। तकनीकी के आधुनिक संदर्भ में दो प्रकार के परिवर्तन देखे जा सकते हैं:

क. आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन तथा तकनीकी की भूमिका: आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन करने में वृद्धांक तकनीकी का महत्वपूर्ण हाथ है। इसे सिद्धान्तिक आधार पर कार्य मार्क्स ने प्रतिपादित किया है।

ख. तकनीकी के कारण इन पर आधारित सामाजिक परिवर्तन: इस संदर्भ में वेबलेन द्वारा अभ्यास वर्ग का विश्लेषण काफी महत्वपूर्ण है। अमेरिका के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री ने अपने पुस्तक *लेजर क्लास* में बताया है कि तकनीकी के विकास के कारण कुछ संपन्न लोगों के पास इतनी संपत्ति है कि उन्हें कुछ काम करने की जरूरत नहीं होती और साथ ही वे मनोरंजन के सभी साधनों का उपयोग करना चाहते हैं जो तकनीकी के कारण उपलब्ध हो गये हैं।

जर्मनी के दार्शनिक तथा समाजशास्त्री कार्ल मार्क्स ने भी तकनीकी के कारण औद्योगिक समाज में जो परिवर्तन आये हैं उनका विस्तार से वर्णन करते हुए वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त में दो तत्वों के द्वारा सामाजिक जीवन का वर्णन किया गया है जो निम्न हैं:

क. तकनीकी का विकास जिसे वे उत्पादन के साधन में निरंतर विकास से जोड़कर इसकी व्याख्या करते हैं:

ख. सामाजिक वर्गों में तकनीकी विकास के कारण परिवर्तित संबंध और उनके बीच बढ़ता संघर्ष।

चूँकि मार्क्स के विचारों का पहले भी वर्णन किया जा चुका है इसलिए यहाँ पर मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के विभिन्न लक्ष्यों का उल्लेख कर यह बताया जाना काफी होगा कि मार्क्स ने किस प्रकार तकनीकी के महत्व को समाज परिवर्तन का एक कारण माना है।

क. अर्थव्यवस्था को प्रमुख कारण माना है।

ख. द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद के अवधारणा में इसकी व्याख्या की गयी है।

ग. उत्पादन के साधन में परिवर्तन और पूंजीवादी समाज का विकास

घ. वर्ग पर आधारित समाज की व्याख्या।

ङ. तकनीकी के विकास से मजदूरों का शोषण।

च. मनुष्य तथा तकनीकी के बीच अंतर्विरोधी संबंध की अलगाववाद के सिद्धान्त द्वारा उसकी व्याख्या।

छ. अन्तर्द्वन्द के कारण सामाजिक परिवर्तन।

आज तकनीकी के विकास ने सामाजिक संरचना को बदल दिया है। उत्तर औद्योगिक समाज की बात करते हुए अमेरिका के समाजशास्त्री डैनियम बेल का कहना था कि तकनीकी के बदलाव ने समाज में संचार के माध्यम से विश्व के पूरे विश्व को नियंत्रित करने की बात सोचने लगे हैं। संचार के क्षेत्र में हुए परिवर्तन ने ऐसे परिवर्तन आये हैं जिसकी हम पहले कभी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। उत्तर औद्योगिक समाज की व्याख्या करते हुए कई समाजशास्त्रियों ने इसकी विशेषताओं का विश्लेषण से वर्णन किया है। कुछ समाजशास्त्रियों ने तकनीकी पर आधारित समाज में इसके बुरे प्रभाव का भी वर्णन किया है। दुर्भाग्यवश ने तीन कुप्रभावों का वर्णन करते हुए उसे सामाजिक परिवर्तन का असाधारण कारण माना है जो निम्न हैं:

क. अलगाववाद

ख. मनशून्यता

ग. सामाजिक विघटन

हर्बर्ट मार्कुजे ने भी तकनीकी के कुप्रभाव का वर्णन करते हुए यह बताया था कि तकनीकी से एक पूर्ण मनुष्य की कल्पना ही लुप्त होती जा रही है और एक ऐसे मनुष्य का विकास हो रहा है जो तकनीकी का गुलाम होकर अपने व्यक्तित्व के बजाय एक पटन का ही विकास कर पाता है जिसे उन्होंने अपने बहुचर्चित पुस्तक *वन डायमेंशनल मैन (One Dimensional Man)* की चर्चा का विषय बताया है निःसंदेह यह कहा जा सकता है कि तकनीकी से जो सामाजिक परिवर्तन आये हैं वे सभी साकारात्मक नहीं हैं कुछ नकारात्मक प्रवृत्तियाँ भी पनपी हैं और आज तकनीकी के विकास में ऐसे जैविकीय हथियार तैयार कर लिये गये हैं कि अगर युद्ध में उनका इस्तेमाल कर लिया गया तो परमाणु बम के विस्फोट से जो नुकसान हिरोशिमा शहर को पहुँचा था इससे कम से कम 50 गुणा विनाशकारी प्रभाव पड़ सकता है। संभवतः इसलिए अंतर्राष्ट्रीय समुदाय ने तकनीकी के कारण युद्ध से संबंधित हथियारों पर नियंत्रण लगाने की बात पर अमल करना शुरू कर दिया है।

(ग) सांस्कृतिक कारक तत्व: सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करने में सांस्कृतिक कारक तत्वों की चर्चा अक्सर विलियम ए.के. आगबर्न के (1886-1959) सांस्कृतिक पीछड़ेपन (Cultural lag) के सिद्धान्त के द्वारा की जाती है। उन्होंने अपने पुस्तक सामाजिक बदलाव में इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति की चर्चा की थी। उनका कहना था कि जब भौतिक संस्कृति में परिवर्तन होते हैं तो यह वांछित होता है कि अभौतिक संस्कृति उसे अपनाकर आत्मसात कर ले। भौतिक तत्वों में वे सभी चीजें आती हैं जिन्हें हम देख सकते हैं छू सकते हैं और उनकी जांच-परख की जा सकती है अर्थात् उनका मूर्त स्वरूप होता है जिसे कोई और अन्य व्यक्ति भी देख सकता है। जबकि संस्कृति की अभौतिक चीजें वे हैं जिनको देखा नहीं जा सकता, उनकी जांच-परख जैसे भौतिक चीजों की जाती है वैसे नहीं की जा सकती। उनका मूर्त स्वरूप हमें उसकी अभास तो दिलाता है जो हमारी कल्पना तथा मस्तिष्क के सोच का हिस्सा बन जाता है। भौतिक चीजों में कलम, किताब, टी.वी., रेडियो, कम्प्यूटर, फ्रिज, मोटर कार, स्कूटर, भवन, सड़क, मिट्टी, आदि आते हैं। इन्हें हम अपने हाथों से छू सकते हैं, देख सकते हैं और इसके आकार को मापा जा सकता है क्योंकि इन सभी चीजों का मूर्त स्वरूप होता है परंतु इसके विपरित अभौतिक तत्वों को न तो हम देख सकते हैं और न ही छू सकते हैं जैसे- आदतें, विश्वास, धर्म, कला, प्रतिमा, विचार, कल्पना ये सभी ऐसी चीजें हैं जिसे हम महसूस कर सकते हैं क्योंकि इन सभी का स्वरूप अमूर्त होता है।

आगबार्न का मानना था कि भौतिक संस्कृति में पहले परिवर्तन आता है और अभौतिक संस्कृति को उन तकनीकी के द्वारा भौतिक संस्कृति में जो परिवर्तन आते हैं उसे स्वीकार कर अपनाने में समय लगता है। इस समय के कारण भौतिक संस्कृति में जो बदलाव आते हैं वे हमेशा अभौतिक संस्कृति से पहले आते हैं। जैसे यह कहा जा सकता है कि पोशाक हमेशा पहले तैयार होता है और बाद में वह पोशाक फैशन का हिस्सा बन सकता है। फैशन आने से पहले पोशाक का बनना आवश्यक शर्त है आगबार्न ने यह माना कि आटोमोबाइल जो भौतिक संस्कृति का एक तत्व है सबसे पहले उसकी खोज हुई और आटोमोबाइल के बाद ही उससे संबंधित पक्के सड़क तथा ट्रेफिक के नियम, संकेत के बारे में सोचा जा सका। अभौतिक संस्कृति के तत्वों को देर से अपनाने की प्रक्रिया को ही आगबार्न ने संस्कृति पिछड़ेपन के अवधारणा से समझाया है। भौतिक संस्कृति में परिवर्तन पहले आ भी जाये तो आसानी से हम उसे नहीं इस्तेमाल में आते जब तक कि हमारी मान्यताएं व संस्कृति उसे स्वीकार करने के लिए तैयार न हों। अर्थात् संस्कृति व मनोवैज्ञानिक स्तर पर मनुष्य को उसे स्वीकार करने के लिए तैयार रहना आवश्यक होता है। अक्सर यह देखा जाता है कि अनुकूलन संस्कृति में भौतिक संस्कृति के बदलते स्वरूप को अपनाने की एक क्रिया है। कारखानों में किसी भी अप्रकाशित घटना से मजदूरों को बचाने के लिए कई हिदायतें तथा बचाव के तरीके और तकनीकी भी दिये जाते हैं परन्तु उसे नहीं मानकर कई बार मजदूर अपना ज्यादा नुकसान कर बैठते हैं।

भारत में भी परिवार नियोजन के क्षेत्र में हम देखें तो परिवार को नियोजित करने के लिए तकनीकी के द्वारा गर्भ धारण करने से बचा जा सकता है। परन्तु उसके बाद ही उस तकनीकी को सहज रूप स्वीकार नहीं किया जाता है और इसके कारण परिवार नियोजन को जितनी सफलता मिलनी चाहिए वह नहीं मिल पाती है। साक्षरता की कमी को इसका महत्वपूर्ण कारण माना जाता है।

मेकाइवर तथा पेज ने एक नये संदर्भ में इस पीछड़ेपन की अवधारणा को समझाया है। उनका कहना था कि पिछड़ेपन की अवधारणा केवल अभौतिक संस्कृति में ही नहीं वरन भौतिक संस्कृति के क्षेत्र में भी पायी जाती है। मनुष्य आज मानसिक रूप से तैयार है कि प्रदूषण रहित गाड़ियों का इस्तेमाल कर अपने पर्यावरण का नुकसान कम से कम कर सके और ऐसे खाद का प्रयोग किया जाये जो कि जमीन की स्वाभाविक उर्वरक शक्ति को बनाये रखे परन्तु आज भी उस प्रकार के उन्नत तकनीकी नहीं बन पाये हैं जिससे हम कह सकें कि इस फ्यूल के इस्तेमाल से प्रदूषण नहीं होगा। उसी प्रकार ऐसे तकनीकी का भी खोज हो सका है जिसके इस्तेमाल से गर्भ निरोधक दवाइयां से महिलाओं को कई शरीर का नुकसान किये बिना जनसंख्या नियोजन का उद्देश्य पूरा किया जा सकता है। इस प्रकार की तकनीकी का नहीं बन पाना, खोज किया जाना, इस बात का द्योतक है कि तकनीकी पीछड़ेपन की स्थिति भी हो सकती है। मेकाइवर तथा पेज ने इसलिए तकनीकी पिछड़ेपन की अवधारणा को 'संस्कृति पिछड़ेपन' का पर्याय बताया है।

वर्गीकरण के द्वारा मेकाइवर तथा पेज ने संस्कृति से संबंधित करक तत्वों के महत्व को दर्शाया है।

क. तकनीकी पिछड़ेपन (Technological Lag): जैसाकि पहले बताया जा चुका है तकनीकी पिछड़ेपन के द्वारा समाज में जो कमी महसूस की जाती है उसके अभाव को पूरा करने में तकनीकी स्तर पर जो विलंब होता है उसे कुछ अवधारणा के द्वारा मेकाइवर तथा पेज ने समझाया है। इसका उदाहरण उन्होंने औद्योगिकी क्षेत्र में औद्योगिक मार्ग विरोध (Industrial bottleneck) बताया है जिसके कारण प्रबंधन की कमी इसके लिए जिम्मेवार मानी जा सकती है। आगबर्न ने इसका उदाहरण देते हुए बताया था कि जिस जगह की संपदा का प्रयोग हम करते हैं उस जगह के संरक्षण का काम भी नहीं कर पाते हैं।

ख. तकनीकी विरोध (Technological Restraint): जब किसी नीहित स्वार्थ के कारण तकनीकी का इस्तेमाल उस समाज की कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए नहीं होता तो उसे तकनीकी विरोध की संज्ञा दी जाती है। इसे कई उदाहरणों के माध्यम से मेकाइवर तथा पेज ने समझाया है:

- अधिकारी तंत्र के नीहित स्वार्थ ने कई देशों में परंपरागत सोच, जड़ता नीहित स्वार्थ तथा मानसिक संकीर्णता के कारण उन्नत तकनीकी के इस्तेमाल पर रुकावट या गतिरोध पैदा करते हैं। इस विलंब के कारण कई परियोजनाएं शुरू नहीं हो पाती और अगर शुरू भी होते हैं तो वक्त इतना लग जाता है कि परियोजना पर अनुमानित लागत से ज्यादा खर्च करना पड़ता है।
- आर्थिक स्वार्थ के कारण गतिरोध: कुछ आर्थिक स्वार्थ के कारण भी नये तकनीकी का जो सक्षम या कुशल प्रयोग हो जाते हैं उसका इस्तेमाल नहीं हो पाता। इस प्रकार नयी विधि का इस्तेमाल भी देर से हो पाता है।
- सांस्कृतिक स्वार्थ के कारण गतिरोध: जहाँ पुराने तकनीकी से काम करते हुए लोग उससे अभ्यस्त हो जाते हैं वे नये तकनीकी का इस्तेमाल इसलिए नहीं चाहते कि उसके अनुरूप नयी चीजें सीखनी पड़ेगी जिसके लिए वे मानसिक रूप से तैयार नहीं होते। इस मानसिकता के कारण नये तकनीकी को अपनाने में स्वाभाविक रूप से गतिरोध पाया जाता है।

ग. तकनीकी आरोपित कर दिये जाने से भी उसका उल्टा प्रभाव सामाजिक व्यवस्था पर पड़ता है। भारत के संदर्भ में भी कहा जाता है कि अधिकारी तंत्र (Bureaucracy) यहाँ पर उपर से थोप दी गयी जिसके कारण यहाँ के लोग इसका विरोध करते हैं। आज भी जनजातीय समाज में अदालती कारवाई तथा कचहरी के द्वारा किये गये फैसलों की अहमिका पंचायत के किये गये फैसले से कम आंकी जाती है।

घ. पश्चिमी संस्कृति चूंकि उन देशों में विकसित हुई है इसलिए वहाँ के लोगों ने तो उसे स्वीकार कर लिया परन्तु हमारा देश में उसे स्वीकार करने में दिक्कत या कठिनाई का सामना कर पड़ रहा है। कुछ खास क्षेत्रों में ही और कुछ खास लोग ही उस तकनीकी का इस्तेमाल कर पाते हैं अधिकांश लोग इससे वंचित रहते हैं।

ङ. संस्कृति टकराव (Cultural Clash): संस्कृति के आधार पर सदैव बाहरी संस्कृति के द्वारा आयात किये गये चीजों का विदेशी समझकर उसका विरोध किया जाता है। समाजवादी तकनीकी का विरोध शुरू में इसलिए किया गया था कि वृहत् उतपादन के बाद संभव है कीमतों में इतनी गिरावट आ जाये कि बाजार में उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़े और लोग विदेशी चीजें खरीदना न पसंद करे। इस प्रकार कई बार संस्कृतिक टकराव का यह स्वरूप भी तकनीकी के स्वीकार नहीं किये जाने का एक प्रमुख कारण बन जाता है।

संस्कृति की अपनी गति होती है जिसे ज्यादा दिनों तक रोका नहीं जा सकता। तकनीकी जीवन तथा आर्थिक जीवन का प्रभावित करने में भी उस प्रकार के तकनीकी का इस्तेमाल सहज रूप से नहीं हो पाता है परन्तु यह अवस्था स्थायी नहीं है। अगर ऐसा नहीं होता तो आज सांस्कृतिक जीवन इतना बदला हुआ नहीं होता। तकनीकी ने हमारी जीवन शैली को बदल दिया है। विदेशी मुल्क के तकनीकी, मोटरगाड़ी, फ्रिज, एयर कंडीशनर तथा पकवान ने यहाँ के लोगों का सांस्कृतिक परिवेश बदल दिया है। तकनीकी के कारण जो कार्य कुशलता आयी है उसने सभी को प्रभावित किया है। अपने यहाँ भी जन्मकुडली बनाने में कम्प्युटर का इस्तेमाल वृहत् स्तर पर होने लगा है।

जर्मनी के समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने संस्कृति को सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्वपूर्ण माना है। उनका कहना था कि धर्म के द्वारा जो हमारे सोच में बदलाव आता है उससे भी आर्थिक विकास वृहत् स्तर पर हो सकता है। उन्होंने यह माना कि ईसाई धर्म के मानने वाले लोगों में खासकर प्रोटेस्टेंट धर्म के समर्थकों में आर्थिक स्तर पर काफी बदलाव देखे गये परन्तु वहीं इसके विपरीत कैथोलिक में इसका सर्वथा अभाव देखा गया। आर्थिक क्षेत्र में जितनी सफलता प्रोटेस्टेंट धर्म के मानने वालों में पायी गयी उतनी कैथोलिक में नहीं पायी गयी। इस प्रकार धार्मिक आस्था में परिवर्तन भी व्यक्ति के पूंजीवादी रुझान को बढ़ाने व घटाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अन्य कारक तत्वों की तरह संस्कृति भी एक महत्वपूर्ण कारक तत्व है जिसके प्रभाव से सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक परिवर्तन आता है। इसके कारण जो समाज में बदलाव आते हैं उसकी गुणवत्ता, तीव्रता भी समाज के स्तर पर भिन्न होती है। इसलिए इसका प्रभाव भी एक जैसा नहीं होता। परन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि संस्कृति के कारण सामाजिक परिवर्तन प्रभावित होती है।

अध्याय-5

सामाजिक संस्थाएं एवं समाज के प्रकार

सामाजिक संस्थाएँ

परिवार, नातेदारी और विवाह

जब परिवार, नातेदारी और विवाह जैसी सामाजिक संस्थाओं की बात की जाती है तो समाज में उन सभी संस्थाओं के संस्थात्मक स्वरूप की कल्पना दिमाग में होती है। ऐसी संस्थाओं के द्वारा समाज को निरंतरता मिलती है। इसकी प्रकार्यात्मक भूमिका को सभी समाज में एक सम्मानजनक स्थान दिया गया है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि समाजशास्त्रियों तथा सामाजिक मानवशास्त्रियों दोनों ने इन संस्थाओं की भूमिका, कार्य तथा बदलते स्वरूप के साथ-साथ इनकी विशेषताओं की चर्चा विस्तार से की है।

परिवार

परिवार शब्द को सामाजिक जीवन का एक मुख्य आधार माना जाता है जिसके बिना हम समाज की कल्पना नहीं कर सकते। लगभग सभी समाज में परिवार का एक ढांचा या बनावट पायी जाती है जिसे प्राथमिक समूह के रूप में परिवार के सदस्य स्वीकार करते हैं। परिवार की परिभाषा देते हुए समाजशास्त्रियों ने इसे दो या दो से अधिक लोगों का समूह माना है जिसके सदस्य रक्त, या विवाह से जुड़े होते हैं और एक छत के नीचे रहते हैं। सरचना के दृष्टिकोण से परिवार को एक इकाई के रूप में देखा जाता है। यह इकाई जब दूसरी इकाई से मिलकर कार्य करती है तो इसका स्वरूप काफी जटिल हो जाता है। निकटाभिगमन निषेध (Incest taboo) के नियम के अनुसार परिवार के रक्त संबंधी सदस्य तथा उनसे जुड़े लोगों के बीच वैवाहिक व शारीरिक संबंध सर्वथा वर्जित होता है। इस निषेध के नियम के कारण जो सदस्य विवाह के सूत्र से जुड़ते हैं वो मूल रूप से दो परिवार के सदस्य होते हैं। वह परिवार जिससे वे सदैव जुड़े होते हैं उसे जनक परिवार (Family of Orientation) कहा जाता है जिसका वह स्वयं एक सदस्य होता है और दूसरी ओर एक और परिवार होता है जिसका वह स्वयं माता व पिता बनता है जिसे उस व्यक्ति/महिला के नाम से जाना जाता है जिसे जनन परिवार (Family of Procreation) कहा जाता है। ये दोनों शब्द व. लॉयड वार्नर द्वारा दिये गये थे जो अब व्यापक रूप से प्रचलन में आ गये हैं। दोनों परिवारों की बनावट में ज्यादा अंतर नहीं पाया जाता है परंतु उस पुरुष/स्त्री के लिए इसका एक खास महत्व होता है। क्योंकि एक का वह स्वयं सदस्य हाता है जबकि दूसरे में पति/पत्नी दोनों की संभावना बनी होती है।

आवास के नियम के अनुसार भी मिश्रित परिवार (Composite) का गठन होता है। आवास के नियम के कारण ही परिवार को विस्तृत परिवार की भी संज्ञा दी जाती है, केवल नये आवास पर स्थापित परिवार को नवस्थानीय (Neolocal) परिवार कहा जाता है जिसमें पति विवाह के बाद अपने माता-पिता से अलग इस परिवार में रहता है। मातृ स्थानीय परिवार को मातृ स्थानीय मिश्रित परिवार कहा जाता है। वस्तुतः विवाह के स्वरूप ही यह निर्धारित करते हैं कि मिश्रित परिवार बनने की संभावना रहती है या नहीं।

परिवार को एक प्राकृतिक समूह माना गया है जिसे परिभाषित करते हुए मेकाइबर तथा पेज ने कहा है कि परिवार पर्याप्त निश्चित यौन संबंध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चों को पैदा करने तथा उनके लालन-पालन की व्यवस्था करता है।

इसके सर्वव्यापी स्तित्व की व्याख्या करते हुए आर०एच० लोवी ने यह कहा है कि एक सच जो परिवार के साथ सदैव जुड़ा है वह है पति, पत्नी तथा बच्चों का एक इकाई के रूप में पूरे समुदाय के बीच मौजूद होना। इसकी सार्वभौमिकता की व्याख्या करते हुए इसकी कुछ अनिवार्य क्रियाओं की व्याख्या करते हुए यह भी स्वीकार किया जाता है कि परिवार जैसी इकाई का कोई भी दूसरा संस्थात्मक विकल्प हमारे समाज में नहीं है जो परिवार का विकल्प हो सके।

परिवार के कुछ ऐसे प्रमुख कार्य हैं जिसे परिवार जैसे संगठन के द्वारा ही पूरा किया जा सकता है और इन क्रियाओं को निष्पादित करने में आज भी किसी संरचनात्मक विकल्प की बात नहीं सोची जा सकती है। किंगरले डेविस ने परिवार के निम्न सामाजिक कार्यों की व्याख्या की है:-

1. **संतानोत्पत्ति (Reproduction):** परिवार ही एक ऐसा सार्वभौमिक समूह है जहाँ विवाह के संरचनात्मक संबंधों द्वारा यौन इच्छा की पूर्ति के साथ-साथ संतानोत्पत्ति का वैधानिक प्रावधान है। कोई भी ऐसी मर्यादित संस्था नहीं है जहाँ परिवार के दायरे के बाहर संतानोत्पत्ति की क्रिया को सामाजिक तौर से वैध करार कर सके। इस रूप में परिवार की भूमिका अद्वितीय है। इसका मुकाबला या विकल्प संभव नहीं।
2. **भरण-पोषण (Maintenance):** परिवार का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य बच्चों का भरण-पोषण, उनकी देख-भाल से है। परिवार में न केवल बच्चों का जन्म होता है वरन् वह परिवार में ही बड़ा होता है। और बड़े होने से पहले उसका बचपन परिवार में स्थायी रूप से गुजरता है। जहाँ परिवार के सदस्य उसके माता-पिता की पूरी जिम्मेवारी अर्थात् उसके परवरिश की जिम्मेवारी उन्हीं पर होती है। परिवार में ही रहकर बोलना सीखता है, चलना-फिरना सीखता है। परिवार के सदस्यों के बीच ही रहकर वह परिवार के नियमों को भी सीखता है। अतः शारीरिक क्रियाओं के साथ-साथ नातेदारी के पूरे संबंध मर्यादा की पहचान परिवार में ही रहकर होती है।
3. **स्थापन (Placement):** परिवार अपने सदस्यों को विशेष स्थिति भी प्रदान करता है। समाज में परिवार की एक निश्चित स्थिति होती है जिसे परिवार के सदस्य उस समाज में जुड़े होने के कारण मेहनत और लगन से काम करते हुए परिवार के लिए बनाते हैं। परिवार की अंर्जित की हुई यह प्रख्याति समाज में वह स्थान, परिवार के सदस्यों की एक खास पहचान बन जाती है इस प्रकार परिवार में न सिर्फ बच्चों की परवरिश व सुरक्षा होती है बल्कि उन्हें उस परिवार की जो सांस्कृतिक धरोहर है वह भी सहज रूप से मिल जाता है जिसके कारण वह परिवार की प्रतिष्ठा तथा उसके गौरव, परंपरा और कुल की मर्यादा का निर्वाह करता है।
4. **समाजीकरण (Socialization):** परिवार को समाज की पाठशाला व स्कूल कहा जाता है। एक प्राथमिक स्कूल के रूप में भी परिवार के सदस्यों को जन्म से ही समाज के प्रतिमानों को सीखने का सुनहरा अवसर मिल जाता है। परिवार में अन्य सदस्यों की भांति वह परिवार के संस्कारों को आत्मसात करते हुए परिवार के साथ-साथ समाज के रीति-रिवाजों को भी परिवार में ही रहकर सीख पाता है। इस प्रकार परिवार को एक पूरे संगठन के रूप में देखा जाता है जिसके संरचनात्मक भूमिका तथा निर्धारित नियम परिवार के सदस्यों के लिए एक शिक्षा का केंद्र बन जाते हैं।

उपर्युक्त कार्यों के विश्लेषण के यह स्पष्ट हो जाता है कि परिवार का योगदान उसके यौन संबंधी इच्छाओं की पूर्ति, मनोवैज्ञानिक सुरक्षा, सामाजिक प्रेम आदि है। सबसे प्रमुख बात जो परिवार जैसे संगठन के साथ जुड़ी है वह है व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास और व्यक्तित्व के विकास के साथ ही उसके सामाजिक कार्य। इस रूप से यह कहा जा सकता है कि एक समाज से दूसरे समाज में यद्यपि परिवार के इन कार्यों को करने में विविधता देखी जा सकती है परंतु उन विविधाताओं के बावजूद भी परिवार जैसे संगठन का एक सार्वभौमिक स्वरूप परिभाषित होता है।

परिवार की बनावट तथा इसके कार्यों को ध्यान में रखकर परिवार के विभिन्न प्रकारों की चर्चा की जाती है। जिन आधारों पर परिवार के प्रकार की चर्चा की गयी है उसे समझना आवश्यक है:-

आधार	प्रकार	उदाहरण
A. सत्ता	1. पितृ सत्तात्मकता	उत्तर भारत, पश्चिम, पूरब तथा दक्षिण भारत
	2. मातृ सत्तात्मकता	नायर तथा खासी
B. विवाह	1. एक विवाही परिवार	
	2. बहुविवाही परिवार	
	(बहुपतिविवाह, बहुपत्नी विवाह)	
C. संख्या	1. नाभकीय या एकल परिवार	
	2. संयुक्त परिवार	

3. मिश्रित परिवार

D. निवास स्थान

1. मातृ स्थानीय
2. पितृ स्थानीय
3. नव स्थानीय

सत्ता के आधार पर

सत्ता के आधार पर निम्न प्रकार के परिवारों का जिक्र किया जाता है:-

पितृ सत्तात्मक

पितृ सत्तात्मक परिवार में परिवार का कर्ता परिवार का पिता होता है जिसके हाथ में निर्णय लेने का अधिकार होता है। चूंकि सत्ता का केन्द्र पिता होता है इसलिए इसे पितृ सत्तात्मक परिवार कहा जाता है। यह सबसे प्रचलित परिवार का स्वरूप है।

मातृ सत्तात्मक

मातृ सत्तात्मक परिवार में परिवार के मुखिया के रूप में माँ की प्रधान भूमिका होती है और निर्णय लेने का अधिकार माता के हाथों में होता है। यह ज्यादा प्रचलित परिवार का स्वरूप नहीं है। इस प्रकार के परिवार नायर तथा खासी समूह के जनजातीय समाज में ज्यादा प्रचलित है।

विवाह के आधार पर

विवाह को आधार मानकर भी परिवार के विभिन्न प्रकार की चर्चा की जाती है। इस प्रकार के परिवार निम्न हैं :

एक विवाही परिवार

एक विवाही परिवार आधुनिक युग के परिवार का एक प्रचलित उदाहरण है जहाँ एक व्यक्ति विवाह कर अपनी पत्नी तथा बच्चों के साथ रहता है।

बहु विवाही परिवार

इस परिवार में एक पति या पत्नी दो या दो से अधिक पत्नी या पति तथा बच्चों के साथ रहते हैं। जब एक पति दो या दो से अधिक पत्नी के साथ रहते हैं तो उस परिवार को बहु पत्नी विवाह कहा जाता है और एक पत्नी, दो या दो से अधिक पति के साथ रहती है तो उसे बहु पति विवाह कहा जाता है।

संख्या के आधार पर

संख्या के आधार पर भी परिवार के तीन प्रकारों का वर्णन किया जाता है।

एकल परिवार

एकल परिवार में एक पुरुष, और महिला अपने बच्चों के साथ पति और पत्नी के रूप में एक छत के नीचे रहते हैं।

संयुक्त परिवार

संयुक्त परिवार में तीन पीढ़ी एक छत के नीचे अपने-अपने एकल परिवार के इकाईयों के साथ रहते हैं। उनके रसोई व खाने का स्थान एक होता है और मुखिया परिवार का सबसे वृद्ध पुरुष होता है जिसका निर्णय सर्वमान्य होता है।

निवास स्थान के आधार पर**मातृ स्थानीय**

जब विवाह के पश्चात लड़का अपनी पत्नी के साथ उसके परिवार में जाकर बस जाता है तो उसे मातृ स्थानीय परिवार कहा जाता है।

पितृ स्थानीय

जब विवाह के पश्चात लड़का अपनी पत्नी के साथ अपने परिवार में जाकर बस जाता है तो इसे पितृ स्थानीय परिवार कहा जाता है। यह भारत जैसे देश में ज्यादा प्रचलित व्यवस्था है।

- (b) परिवार सामाजिक सुरक्षा का एकमात्र सरंचनात्मक आधार
 (c) परिवार अभी भी इच्छित गुणों के बनाये रखने का एकमात्र स्रोत।

आज जब हम आजादी के पाँच दशक के ऊपर होने के बाद संयुक्त परिवार के ढांचे, क्रियाओं और स्वरूप के बारे में विचार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि संयुक्त परिवार का वर्तमान स्वरूप पहले के अपेक्षा काफी दबाव में आया है और उस परिवार का स्वरूप ज्यादा व्यवहारिक तथा लोकप्रिय है वह है एकल परिवार। भारत तथा अन्य देशों में भी इस एकल परिवार के ऊपर जो निरंतर दबाव की स्थिति बनी हुई है उसकी चर्चा विस्तार से की जाती है। अब हम परिवार के संकट व विघटन की बात करते हैं। इसी आधुनिक परिवार के तीन प्रमुख समस्याओं की तरफ किंगस्ले डेविस ने इशारा किया था। जब उन्होंने कहा था कि परिवार के ऊपर संकट आज मनुष्य के भ्रष्ट सोच के कारण नहीं है वरन् वह परिवार के नये प्रकार के संगठनात्मक ढांचे के परिवर्तित मूल्यों के कारण है और उन्होंने इस संदर्भ में निम्न तीन समस्याओं की तरफ इशारा और ध्यान आकर्षित किया है:-

- (a) तलाक : द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमेरिका जैसे देश में प्रत्येक तीसरे विवाह पर तीन तलाक को अर्थात् 30 प्रतिशत को अगर ज्यादा नहीं कहा जाये तो कम भी नहीं कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोण से किंगस्ले डेविस का मत है कि इजिप्ट में कहीं अधिक पाया जाता है। परिवार के संस्थात्मक भूमिका के कारण अभी भी तलाक की वारदातें सिर्फ नवविवाहित दंपतियों में ही ज्यादातर पायी जाती है। उनके अनुसार दो तिहाई से अधिक तलाक की वारदातों में नवविवाहित युग्म आते हैं जिन्हें बच्चे नहीं हुए और शेष तलाक की वारदातों के उन युग्मों में पाया जाता है जिनको सिर्फ एक ही बच्चा है। तलाक का कारण अब महिलाओं में अधिक शिक्षा का प्रचार और महिला सशक्तिकरण भी है जिसका वैधानिक आधार दिया गया है।
- (b) गिरता जनन क्षमता (Declining Birth Rate): जनन क्षमता में कमी के कारण छोटे परिवार, दबावमुक्त होने की इच्छा है। भारत जैसे देश में जनन क्षमता में ह्रास की कमी पुरुष बच्चों की इच्छा है। इससे पुरुष बच्चों की चाहत का प्रतिकूल प्रभाव लिंग अनुपात पर पड़ा है जो 1991 में 945 से घटकर 2001 में 927 हो गया है और उत्तर भारत के प्रगतिशील कहे जाने वाले प्रांत हरियाणा में यह अनुपात 1991 के मुकाबले 865 से घटकर 861 हो जाना निश्चय ही चिंता का विषय है। पंजाब में यह 1991 में 875 से घटकर 793 हो गया। ये सभी आंकड़े 0-6 उम्र के हैं।
- (c) पीढ़ी संघर्ष : आधुनिक युग में परिवार के नई पीढ़ी की सोच पुराने पीढ़ी के साथ बिल्कुल ही मेल नहीं खाती। इन दो पीढ़ियों के सोच-समझ में जो अंतर है वह पारिवारिक नियमों के अवमानना में देखा जा सकता है। परिवार के जो परंपरागत नियम हैं उसे आज के युवा वर्ग एक बोझ मानते हैं और इसलिए उनके व्यवहार में स्वाभाविक रूप से विचलन की स्थिति पायी जाती है।

नातेदारी

परिवार जैसे सामाजिक समूह का विस्तार से वर्णन करते हुए यह उल्लेख किया जा चुका है कि एक व्यक्ति परिवार की दो इकाइयों का एक साथ ही सदस्य होता है। जिस प्रकार परिवार की उसे प्राथमिक सदस्यता प्राप्त होती है उस प्रकार जनक परिवार (Family of Orientation) अर्थात् वह परिवार जहाँ वह जन्म लेता है जिसका वह स्वयं कर्ता बनता है उसे जनन परिवार (Family of Procreation) की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार दो परिवार से जुड़ने के कारण उसके संबंध अपने ही परिवार के सदस्यों के साथ तथा दूसरे परिवार से होते हैं। इसके अतिरिक्त विवाह के सूत्र में बंधन से उसके संबंध उनके पत्नी के परिवार के सदस्यों के साथ भी होते हैं जो स्वयं जनक परिवार को छोड़कर अपने पति के साथ उसके परिवार में स्थायी रूप से रहने आती है। इस प्रकार विवाह के बाद प्रत्येक पुरुष/स्त्री के संबंध इस परिवार से बने होते हैं जिस परिवार से वे आते हैं और पुनः अपने इस परिवार के अन्य सदस्यों के साथ भी संबंध बने होते हैं। टी0वी0 बाटमोर ने सामाजिक मानवशास्त्रियों के नातेदारी किये गये शोध का महत्व बताते हुए कहा है कि अपने परिवार के बाहर एक व्यक्ति का 33 प्रकार के द्वितीयक संबंधी हो सकते हैं और 151 प्रकार के तृतीय स्तर के संबंधी हो सकते हैं। और इन संबंधियों की सूची और भी बढ़ सकती है।

नवस्थानीय परिवार

जब विवाह के पश्चात् पति पत्नी अपना अलग स्थान बनाकर रहने लगते हैं तो इसे नवस्थानीय परिवार कहा जाता है। शहरों में अब इस प्रकार के परिवार का प्रचलन बढ़ने लगा है।

आधुनिक परिवार की चुनौती

आधुनिक परिवार की चुनौती, भविष्य व समस्या के बारे में जब चर्चा होती है तो परिवार के भूमिका पर प्रश्न उठाया जाता है। आज हमारे आधुनिक जीवन तथा परिवार को प्रभावित करने वाले कई कारक तत्वों की विवेचना की जाती है:-

- औद्योगिकरण (Industrialization)
- शहरीकरण (Urbanisation)
- सामाजिक गतिशीलता (Social Mobility)
- महिला शिक्षा व चेतना (Women's education & Consciousness)
- वैधानिक बदलाव (Legislative change)

उपर्युक्त लिखे गये कारक तत्वों के कारण आज परिवार का स्वरूप बदल रहा है। पहले के अपेक्षा संगठन में जितना स्थायित्व बना था आज उतना स्थायित्व नहीं पाया जाता है। परिवार का स्वरूप भी आधुनिक परिवेश में बदलकर वैवाहिक परिवार (Conjugal family) तथा अविवाहित बच्चों तक सीमित हो गया है। पश्चिम देशों में परिवार की स्थिति एक संक्रमण के दौर से गुजर रही है। टूटते संबंधों के कारण न केवल परिवार के स्थायित्व स्वरूप को टेस पहुँची हैं वरन् संबंधों के अस्थायी आधार के कारण अब वैवाहिक संबंध बनाकर परिवार की निरंतरता बनाये रखने का प्रचलन भी कम हुआ है। आज विवाह योग्य कई पुरुष और महिला काम के तनाव के कारण परिवार जैसे संगठन से जुड़ना नहीं चाहते। उसके कारण तलाक की दर में वृद्धि हुई है और अविवाहित लोगों की संख्या भी बढ़ी है।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है प्रत्येक समाज में परिवार के नियम उस समाज के नियमों के अनुरूप बने होते हैं। भारतीय समाज में भी संयुक्त परिवार की परंपरा काफी पुरानी है। जब लोगों की संख्या कम थी, लोग अधिकांशतः कृषि से जुड़े थे सभी परिवार के सदस्य अपने काम के लिए परिवार के सदस्यों पर ही निर्भर करते थे-ऐसे में परिवार के स्थायी स्वरूप को बनाये रखना ज्यादा आसान था। अब आर्थिक स्थिति में काफी बदलाव आया है। जनसंख्या के वृद्धि, समुदाय की सोच तथा जमीन के बँटवारे के साथ संचार के फैलाव और शहरीकरण की प्रक्रिया ने सामाजिक गतिशीलता बढ़ा दी है। इन सब का सम्मिलित रूप से प्रभाव परिवार के ढाँचे, कार्य और नियमों पर पड़ा है। आजादी के बाद की 1951 की जनगणना के बाद पाया गया कि परिवार के सदस्य अब एक दूसरे से संयुक्त नहीं महसूस करते, परंपरागत रीति-रिवाज तथा संयुक्त परिवार से अलग होकर बसने की बात ज्यादा लोकप्रिय और व्यावहारिक होती जा रहा है।

यद्यपि संयुक्त परिवार के विघटनात्मक स्वरूप को लेकर 1950 तथा 1960 के दशक में समाज शास्त्रियों में एकमत इस बात पर था कि वे सभी मानते थे कि संयुक्त परिवार के स्वरूप में बेशक बदलाव आया हो परंतु भावनात्मक आधार पर उसके संयुक्त प्रवृत्ति में ज्यादा अंतर नहीं आया है। आईपीओ देसाई ने बोबे का उदाहरण देते हुए बताया कि अगर हाऊसहोल्ड को आधार बनाकर व्याख्या किया जाये तो 40 फीसदी लोग मध्यम परिवार (Medium household) में रहना पसंद करते हैं तथा 40 फीसदी ही बड़े घरों (Long household) में रहना चाहते हैं और छोटे घर Nuclear Household) में रहने वाले लोगों की संख्या 20 फीसदी बतायी थी। दूसरी महत्वपूर्ण बात इस संदर्भ में यह कही गयी कि जिन शहरी घरों को आज अलग बताया जा रहा है वास्तव में उनकी संख्या 20वीं फीसदी है। तीसरी महत्वपूर्ण बात जिसकी तरफ इशारा किया गया वह यह था कि बाहरी स्थितियों के कारण जो परिवर्तन आ रहे हैं उनमें एक साथ रहना, पूजा, खाना और संपत्ति के अब संयुक्त परिवार को जोड़ने के आधार नहीं रहे। इस प्रकार उन विद्वानों ने यह स्वीकार किया कि संयुक्त परिवार की स्थिति में अब बदलाव आ रहा है। केएम0 कपाडिया ने भी यह माना कि तीन प्रमुख आधार पर उनके उत्तरदाताओं का मानना था कि संयुक्त परिवार का अभी भी संयुक्त रूप बना हुआ है जो निम्न है:-

- आर्थिक जिम्मेवारी का सामूहिक निर्वाह

नातेदारी की परिभाषा देते हुए यह कहा गया है कि नातेदारी हमारे सामाजिक संबंधों के संग्रह का एक छोटा रूप है जिसे हम सामाजिक संबंध निम्न दो आधार पर बने होते हैं:-

1. रक्त संबंधी
2. वैवाहिक संघ

परिवार व समाज के जिन संबंधियों के साथ हमारा रक्त संबंध होता है उन्हें हम रक्त संबंधी कहते हैं और जो संबंध हमारे विवाह से बना होता है उसे वैवाहिक संबंधी कहते हैं। रक्त संबंधियों की तुलना में विवाह से जुड़े संबंधियों के साथ संबंध उतने घनिष्ठ नहीं होते हैं। कुछ समाज में ऐसा भी प्रावधान होता है कि जो हमारे रक्त संबंधी हैं उनसे पुनः विवाह के बाद संबंध स्थापित हो सकते हैं और ऐसे संबंधियों के साथ वैवाहिक संबंध के कारण ही शिक्षा और भी घनिष्ठ हो जाता है जितने प्रकार के संबंधी हैं वे सभी किसी न किसी रूप में वैवाहिक संबंध के कारण ही एक दूसरे से जुड़े होते हैं इसका अपवाद सिर्फ नायर जाति के लोगों में पाया जाता है। यह कहा जाता है कि नायर जाति के लोगों के टारवाड का निर्माण करते हैं जिसमें भाई और बहन रहते हैं। बहन अपने बच्चों के साथ तथा उसके बाद की पीढ़ियों के साथ रहते हैं। इस प्रकार सभी रक्त संबंधी एक परिवार में रह सकते हैं क्योंकि नायर पति और पत्नी तीन दिन से ज्यादा एक दूसरे के साथ नहीं रह सकते।

परंतु इसके अलावा बहुत से ऐसे रक्त संबंधी हैं जो एक छत के नीचे नहीं रहते हैं जिन्हें समररक्ती संबंधी (Consanguineous) कहा जाता है। इन सदस्यों का एक दूसरे के साथ रहना न रहना वंशानुक्रम (Descent) के नियमों के साथ जुड़ा होता है।

वंशानुक्रम के नियम

वंशानुक्रम के नियम की चर्चा करने से पहले यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जितने भी संबंधी हैं उन सभी का रक्त संबंधी तो होता है परंतु कुछ ऐसे सदस्य भी होते हैं जिनके साथ समररक्ती संबंधी सामाजिक कल्पना (Social Fiction) पर आधारित होता है। अगर संबंधियों के साथ जो संबंध विकसित होता है वह ज्यादा बड़ा हो जाये तो वे उनके रक्त संबंधी हो सकते हैं। एक कर्ता के 4 दादा, 8 पर-दादा और 16 पर-पर-दादा हो सकते हैं जिनके बच्चे एक साथ रह सकते हैं और उन बच्चों के विवाह के बाद एकसाथ कर्ता के यहाँ रह सकते हैं और ये सभी एक ही वंश से जुड़े माने जाते हैं। इस प्रकार के वंश समूह को ही गोत्र कहा जाता है। भारत में कई जगहों पर इस प्रकार के 'गोत्र' के नियम से जुड़े होने के कारण 'सगोत्र विवाह' पर प्रतिबंध लगाते हैं। चूंकि ये गोत्र एक ही गाँव में बसे होते हैं। इसलिए उस गाँव में भी शादी करना निषेध होता है। इस प्रकार के सिद्धान्तों जिसके द्वारा कर्ता के संबंध निर्धारित होते हैं उसे ही वंशानुक्रम के नियम (Rule of Descent) कहा जाता है।

तीन प्रकार के वंशानुक्रम के सिद्धान्त पाये जाते हैं जो निम्न हैं:

- (a) पितृवंशीय वंशानुक्रम : सभी लोग स्वयं ही एक वंश के रक्त संबंधी बन जाते हैं जिसका संबंध अपने पिता से होता है। परंतु यही संबंध माता के साथ जुड़े संबंधियों के साथ नहीं हो पाता है।
- (b) मातृवंशीय वंशानुक्रम : इस प्रकार के वंशानुक्रम में कर्ता का संबंध मूलतः अपनी माता के संबंधियों के साथ होता है और उसी प्रकार के संबंध पिता के संबंधियों के साथ नहीं हो पाते हैं।

इस प्रकार दोनों परिस्थितियों के कर्ता का संबंध सामाजिक स्तर से घनिष्ठ होता है परंतु उसके संबंध किसी एक दादा और पर-दादा से ज्यादा घनिष्ठ हो सकता है। अपेक्षाकृत दूसरे की यह बात किसी एकल वंशानुक्रम (Unilinear Descent) के साथ भी सच मानी जाती है।

- (c) द्वैध वंशानुक्रम (Bilateral Descent) : इस प्रकार के संबंध में कर्ता का संबंध अपने पिता के संबंधियों के साथ स्वाभाविक रूप से बनता है। और उसी प्रकार कुछ माता के संबंधियों के साथ स्वाभाविक रूप से बन जाता है। वास्तव में इन संबंधियों के साथ उसके दोनों माता-पिता के संबंधियों के साथ विरासत में मिला होता है।

कोई भी समाज पूर्ण रूप से द्वैध नहीं होता और न पूर्ण रूप से पितृवंशीय या मातृवंशीय वंशानुक्रम के नियम को मानने के लिए अपने सदस्यों को बाध्य करता है। इसलिए इन वंशानुक्रम के नियम काफी जटिल होते हैं। परंतु सभी समाज में वंशानुक्रम के नियम दो कारणों से महत्पूर्ण होते हैं।

- (1) इन नियमों के कारण स्वाभाविक रूप से सभी व्यक्ति संबंधियों से जुड़े जाते हैं जिनका अपना अधिकार और जिम्मेदारी होता है और नियमों के कारण ही उन सभी संबंधियों के साथ उनका वैवाहिक संबंध स्थापित होता है और इसी के कारण यौन संबंध भी निर्धारित होता है।
- (2) वंशानुक्रम के अनुसार ही संपत्ति का वैध उत्तराधिकार भी बनता है। वंशानुक्रम से जुड़े होने के कारण उस परिवार का नाम भी उस संबंधी को मिलता है। इस प्रकार संपत्ति के वारिस की भी पहचान वंशानुक्रम के नियमों के आधार पर ही निर्धारित होती है।

नातेदारी शब्दावली

नातेदारी से जुड़े लोगों की शब्दावली का अध्ययन विस्तार से अमेरिका के सामाजिक मानवशास्त्री हेनरी एच मार्गन ने किया। नातेदारी शब्दावली के द्वारा एक के रिश्तेदार की पहचान दूसरे रिश्तेदार से होती है। रिश्तेदारों की एक खास शब्द से संबंधित रहने से रिश्ते के प्रकृति व गहराई का भी पता चलता है। तकनीकी रूप से मार्गन ने रिश्तेदारी को दो वर्गों में बांटा है:

- (a) वर्गीकृत शब्द : वर्गीकृत शब्द वे शब्द हैं जिसके व्यवहार या प्रयोग से एक शब्द के द्वारा कई संबंधियों की पहचान होती है। अर्थात् एक शब्द के द्वारा कई रिश्तेदारों के सामूहिक रूप से उन रिश्तेदारों की पहचान होती है। जैसे इंग्लिश शब्द अंकल (Uncle) से माँ की तरफ से तथा पिता की तरफ से जुड़े रिश्तेदार का पता नहीं चल पाता है क्योंकि ये शब्द दोनों रक्त संबंधियों से जुड़े संबंधियों के साथ-साथ, विवाह से जुड़े संबंधियों के लिए भी प्रयोग किये जा सकते हैं। उसी प्रकार ग्रैंड फादर कहने से यह नहीं पता चलता है कि पिता के पिता व माता के पिता के लिए इस संबोधन का प्रयोग किया जा रहा है। इस प्रकार इन शब्दों के प्रयोग से बृहत् संबंधियों के साथ के संबंध का पता चलता है। पश्चिमी समाज में इसका ज्यादा प्रचलन है।
- (b) विवरणात्मक शब्द : विवरणात्मक (Descriptive) शब्द के द्वारा हमें संबंधियों के साथ किस प्रकार, किस डिग्री का संबंध है इसकी पहचान होती है। और ये शब्द एक प्रकार से जुड़े रिश्तेदारों के लिए ज्यादा प्रयुक्त होते हैं और इस रूप में ये विशिष्ट शब्द हैं जो विशेष रूप से एक तरफ के रिश्तेदारों को संबोधित करते हैं। हिन्दी में ये विवरणात्मक शब्द जैसे-मौसी, मौसा, मामी, मामा आदि शब्द विवाह से जुड़े संबंधियों के लिए ही प्रयुक्त होते हैं और इसके विपरीत चाचा, चाची, ताऊ, ताई आदि शब्द रक्त संबंधियों के साथ के संबंध का द्योतक है।

नातेदारी की रीतियाँ

नातेदारी व्यवस्था में व्यवहार को नियंत्रित करने के कुछ अपने तरीके हैं। इन तरीकों को एक खास तरीके से व्यवस्थित कर इसे एक संस्थात्मक आधार दिया गया है जिसके द्वारा रिश्तेदारों के व्यवहार को विशेष तरीके से नियंत्रित किया जा सके। इन विशेष तरीकों और व्यवहार को निम्न 6 नियमों से जोड़कर देखा जाता है:-

- (a) परिहार (Avoidance)
- (b) परिहास संबंध (Joking Relationship)
- (c) माध्यमिक संबोधन (Teknonymy)
- (d) मातुलेय (Arunculate)
- (e) पितृश्वस्त्रेय (Amitat)
- (f) सह-प्रसविता (Couvade)
- (a) परिहार : परिहार शब्द का उल्लेख हमने परिवार के अध्याय में निकटाभिगमन निषेध (Incest taboo) के रूप में किया है। इसलिए यहाँ सिर्फ यह बताना काफी है कि इस नियम के अनुसार रिश्तेदारों को वैवाहिक संबंध स्थापित करने से प्रतिबंध करने का प्रावधान है। जैसे-ससुर के सामने घुंघट करना, पति का नाम लेकर नहीं पुकारा जाना, जेठ का नाम भी नहीं लेना, आदि।

इस नियम के सैद्धान्तिक आधार का विश्लेषण करते हुए टायलर का मत है कि यह मातृ-सत्तात्मक परिवार-प्रथा के कारण हैं। फ्रेजर का कहना है कि उन निषेधों के द्वारा रिश्तेदारों के बीच के यौन-संबंधों को नियंत्रित करना है अर्थात्

निकटाभिगमन (Incest) को रोकना है। फायड (Freud) ने भी इसे यौन-संबंध पर प्रतिबंध लगाने का एक प्रभावी प्रावधान माना है। लोवी (Lowie) का कहना था कि पति के तथा पत्नी के परिवार के बीच नजदीकी संबंध न हो जाये और उन दूर रखने की मंशा के कारण ही इस नियम को बनाया गया है। रैडक्लिफ ब्राउन का कहना था कि सदस्यों के बीच परस्पर ईर्ष्या व द्वेष की भावना न पैदा हो जाये इसलिए इस नियम को बनाया गया।

- (b) परिहास संबंध : परिहास-संबंध परिहार का बिल्कुल उल्टा है क्योंकि पति और पत्नी के रिश्तेदारों के बीच एक दूर होती है और उस अपरिचित स्थिति को दूर कर समीप का संबंध स्थापित करने के लिए दोनों का परिवार के संबंधितों के बीच वे कुछ संबंधियों को यह छूट दी जाती है कि वे एक-दूसरे से बिना किसी झिझक व दूरी के खुलकर बात कर सकें, परिहास कर सकें ताकि दूरी को कम किया जा सके और नवविवाहिता स्त्री को भी अपने पति के परिवार के कुछ सदस्यों के साथ खुलकर बातचीत करने का मौका मिल सके। भारत में ही देवर-भाभी के बीच 'मधुर-संपर्क' के पीछे इसी बात को प्रधानता दी गयी है।
- (c) माध्यमिक संबोधन : इस रीति के अनुसार एक संबंधी को संबोधन के लिए तीसरे व्यक्ति को माध्यम बनाना पड़ता है क्योंकि उस संबंधी को उसके नाम से पुकारना वर्जित होता है। भारत के ग्रामीण समुदाय में प्रायः पति का नाम लगे वर्जित होता है जिसके कारण अगर पत्नी को अपने पति को बुलाना हो तो 'सोनू' व 'कन्नु' के पिता कहकर बुलाने का प्रचलन है। यहाँ पर सोनू व कन्नु माँ के बेटा व बेटी का कल्पित नाम है।

टायलर, फ्रेजर तथा लोवी ने बताया कि इस प्रकार का प्रचलन कई जनजातियों तथा दूसरे देशों में भी पाया जाता है।

- (d) मातुलेय : परिवार के ऊपर कई प्रकार के दबाव आ सकते हैं और ऐसी स्थिति में रिश्तेदारों की भूमिका की एक महत्वपूर्ण जिम्मेवारी भी सौंपी जाती है। मातृसत्तात्मक परिवार में मामा की भूमिका को एक 'कर्ता' के रूप में स्वीकार किया जाता है अगर परिवार पर किसी प्रकार का संकट आता है तो मामा की भूमिका या जिम्मेदारी काफी बढ़ जाती है। कई जनजाति समूह में यह रिवाज पाया जाता है।
- (e) पितृस्वस्त्रेय : मातुलेय रिवाज के विपरीत पिता की बहन बुआ का अधिक महत्व होता है। अगर कोई संकट की स्थिति आती है तो ऐसे में बुआ की भूमिका व जिम्मेदारी काफी बढ़ जाती है।
- इस प्रकार मातुलेय तथा पितृस्वस्त्रेय दोनों में यह प्रावधान है कि विवाह के पश्चात् अतः इस संबंध को ठोस आधार देने के लिए कुछ निर्धारित नियम होने आवश्यक हैं जिन्हें नातेदारी के इस रीति के द्वारा एक संस्थात्मक आधार दिया गया है।
- (f) सहप्रसविता : प्रसवकाल के दौरान स्त्री को जो कष्ट या तकलीफ होती है उसकी जिम्मेवारी का एहसास पति को भी हो इसलिए प्रतीकात्मक रूप में पति को भी प्रसवकाल में तथा उसके बाद तक वैसा सब-कुछ करना पड़ता है जो पत्नी करती है उसे भी उसी तरह जमीन में सोना, सादा खाना दिया जाता है और परिवार के अन्य सदस्य पति के साथ भी वैसा ही बर्ताव करते हैं जैसा पत्नी के साथ। प्रायः कई जनजातीय समाज में यह प्रथा प्रचलित है।

मैलिनोवस्की का कहना था कि इस प्रथा के द्वारा पति, अपनी पत्नी तथा बच्चों के प्रति प्रेम की भावना व्यक्त करता है।

इस प्रकार नातेदारी का एक खास महत्व है जिसकी चर्चा की गयी है परंतु इस उप-अध्याय का अन्य अवधारणा अर्थात् परिवार और विवाह की समस्याओं के साथ जोड़कर देखा जाए तभी इसे अच्छी तरह समझा जा सकता है। इसलिए अब हम यहाँ विवाह जैसे संस्था का वर्णन करेंगे।

विवाह

विवाह को एक सार्वभौमिक संस्था कहा जाता है जिसके द्वारा न केवल विवाहित लोगों को परिणय सूत्र से बांधकर संबंध को स्थायित्व प्रदान की जाती है बल्कि इसके द्वारा संबंधों को एक संस्थात्मक आधार भी मिला है। इस संबंध से न केवल पति-पत्नी का संबंध बनता है बल्कि उनके संतानोत्पत्ति से परिवार और संबंधियों का सिलसिला शुरू होता है जिससे समाज की निरंतरता तब बनी होती है। उनके बच्चों को एक नाम, एक पहचान मिलती है।

विवाह को परिभाषित करते हुए समाजशास्त्र के पेंग्युन शब्दकोष में कहा गया है कि विवाह एक सांस्कृतिक तथ्य है जो दो युगल (पति पत्नी) के बीच स्थायी संबंध स्थापित कर उनके बच्चों को वैध-करार करता है। लोवी ने भी विवाह की परिभाषा

देते हुए कहा है कि विवाह उचित युग्मों के बीच अपेक्षाकृत स्थायी संबंध का द्योतक है। लयुंडबर्ग का कहना था कि विवाह में कुछ नियमों का समावेश होता है जो पति और पत्नी के बीच के अधिकार, कर्तव्य और विशेषाधिकार को परिभाषित करते हैं। हैरी एम जानसन के अनुसार किसी भी वैवाहिक व्यवस्था को समूहों के बीच विनिमय की व्यवस्था कहा जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अविवाहित पुरुष अपने परिवार की लड़कियों को दूसरे परिवार को सौंपने के लिए तैयार रहते हैं और उसके बदले स्वयं के लिए लड़की स्वीकार करने की अपेक्षा रखते हैं। इस प्रकार के प्रावधान से समाज में विवाह के बंधनों के द्वारा दाम्पत्य संबंध एक सामाजिक क्षेत्र में बना होता है। विनिमय आदान-प्रदान के इस व्यवस्था के द्वारा दाम्पत्य संबंधों के कारण नातेदारी की व्यवस्था से जुड़े होते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर विवाह की निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है:

- यौन इच्छाओं की पूर्ति की वैधानिक संस्था
- दाम्पत्य संबंध के सूत्र से बंधे युग्मों को वैधानिक अधिकार
- संतानोत्पत्ति और बच्चों का लालन-पोषण
- अविवाहित पुरुष व महिला का एक परिवार से दूसरे परिवार के बीच आदान-प्रदान द्वारा संबंधों का निर्धारण
- आर्थिक आवश्यकताएँ

विवाह के ये सभी लक्षण अपने आप में इसकी विशेषताओं की व्याख्या पर्याप्त रूप से करते हैं इसलिए इसका विस्तार से उल्लेख नहीं किया गया है।

विवाह की उत्पत्ति

जहाँ तक विवाह की उत्पत्ति का प्रश्न है सामाजिक मानवशास्त्री यह मानते हैं कि विवाह किसी न किसी रूप में सदियों से एक संस्था के रूप में विद्यमान रहा है। हाँ! विवाह की उत्पत्ति की बात जब हम करते हैं तो उसके बदलते स्वरूप का अंदाज होता है। उदविकासील सिद्धान्त के आधार पर विवाह के इतिहास को देखने की कोशिश की जाती है और उसमें कोई एकमत नहीं देखने को नहीं मिलता। लेविस हेनरी मार्गन ने विवाह, परिवार और नातेदारी जैसी संस्थाओं का विस्तार से वर्णन किया है। उनका मानना था कि विवाह की कई अवस्थाएँ रही हैं। इसके उदभव को कामाचार अवस्था से जोड़कर देखा जाता है जब कोई भी संस्थात्मक आधार नहीं था। जानवरों की भाँति बिना वैवाहिक नियमों से संचालित हुए एक-दूसरे के साथ रहते थे। इस प्रकार की अवस्थाओं का उल्लेख करते हुए विवाह की उत्पत्ति की निम्न पाँच अवस्थाओं का वर्णन किया है:-

- समरक्त परिवार
- समूह परिवार
- सिण्डेशिमयन परिवार
- पितृसत्तात्मक परिवार
- एक विवाही परिवार

प्रसिद्ध मानवशास्त्री वेस्टरमार्क ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'मानवीय विवाह का इतिहास (1891)' में विवाह की उत्पत्ति का विस्तार से विश्लेषण किया है। मार्गन का यह मानना था कि आदिम मानव जीवन पूर्णतः लैंगिक रूप से कामचारी थे और उस समय अनियंत्रित कामचारी संबंध की एक अवस्था से हमारा समाज गुजरा है यह भ्रामक है। उनका मानना था कि यौन संबंधों की स्वतंत्रता वस्तुतः बहुपति विवाह तथा बहुपत्नी विवाह के तरह दो अस्थायी अवस्था रही हैं। ये सभी सामाजिक नियमों के अस्थायी अवस्थाएँ रही हैं विवाह का स्थायी रूप वास्तव में एक विवाही (Monogamy) रहा है। उनका कहना था, "एक विवाह ही विवाह का एकमात्र सच्चा रूप है, रहा है और रहेगा।" उन्होंने फ्रेंज बोउस के साथ मिलकर कई जगह क्षेत्र-कार्य किया। उनका मानना था कि विवाह की उत्पत्ति के सिद्धान्तों में जो भी एक विवाही के अतिरिक्त अन्य अवस्थाओं की बात करते हैं वे वास्तव में एकाकी विवाह के छुट-पुट उदाहरण हैं जो अस्थायी अवस्था के रूप में हमारे समाज में मौजूद थे।

राबर्ट ब्रिफाल्ट का मत है कि दाम्पत्य संबंध के आरंभिक अवस्था में माँ का महत्वपूर्ण स्थान था और इस प्रकार मार्गन तथा वेस्टरमार्क के विचारों का खंडन करते हुए उन्होंने लिखा है कि मार्गन का यह मानना कि विवाह की आरंभिक अवस्थाओं में

पितृसत्तात्मक मूल्य तथा एकल विवाह की अवस्था प्रधान रही है-गलत है। समाजशास्त्रियों ने विवाह के प्रकृति के अध्ययन पर ज्यादा जोड़ दिया है तथा विवाह के आरंभिक अवस्थाओं के अध्ययन में भी दिलचस्पी दिखायी है। सभ्य समाज में विवाह की क्या प्रकृति रही है और किस प्रकार के परिवर्तन समाज में आये हैं इसके वर्णन में ज्यादा अभिरुचि दिखलाई है। विवाह संस्था के महत्व को दर्शाता है।

जहाँ तक भारत में विवाह के समाजशास्त्री अध्ययन का प्रश्न है-इसका अध्ययन कपाड़िया, लीला दुबे, एम0एन0 श्रीनिवास आदि ने किया है। विवाह के अध्ययन में मुस्लिम विवाह ने पद्धति का उल्लेख इम्तियाज अहमद ने किया। कपाड़िया ने हिन्दू विवाह की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए इसे एक संस्कार बताया है। इस प्रकार धार्मिक तथ्य से जुड़े होने के कारण विवाह केवल यौन-संबंधों को नियंत्रित करने का एक साधन मात्र ही नहीं है बल्कि पूरे भारतीय समाज के जीवन का एक नैतिक और दार्शनिक आधार है जिसमें वैवाहिक संबंध धार्मिक तथ्य को प्राप्त करने की वह प्रक्रिया है जिससे वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है और संपूर्ण मानव का जीवन व्यतीत करते हुए भारतीय समाज का अभिन्न अंग बन जाता है। धार्मिक ग्रंथों में हिन्दू विवाह के 8 प्रमुख स्वरूपों की चर्चा की गयी है। इन सभी स्वरूपों में ब्रह्म स्वरूप को ही प्रधानता दी गयी है और आधुनिक युग में ब्रह्म विवाह ही ज्यादा प्रचलित विवाह है जिसमें लड़की के पिता को विवाह के लिए वर पक्ष को कुछ भी नहीं देना पड़ता है। समय के अनुसार वैवाहिक नियम तथा इसके प्रचलन में बदलाव आया है और आज 'दहेज' जैसी प्रथा ब्रह्म विवाह का एक आधार है। यहाँ पर विवाह के लिए वधुपक्ष को दहेज देकर विवाह करने का प्रचलन बढ़ा है। इस पर अंकुश लगाने के लिए 1961 में डाउरी प्राहिबिसन अधिनियम बनाया गया जिसमें 1984 में पुनः संशोधन किया गया परंतु इन सबके बावजूद भी शिक्षा के प्रचार व प्रसार के साथ-साथ दहेज का प्रचलन भी बढ़ा है। बढ़ते भौतिक मूल्य और नैतिक गिरावट के कारण महिला बच्चों को बोझ समझकर उनसे मुक्ति पाने के लिए तथा बांध्यित पुरुष बच्चे को प्राप्त करने की अभिलाषा ने भ्रूण हत्या जैसे अपराध को एक संख्यात्मक आधार दे दिया है इसके खिलाफ भी 1994 में विधेयक पास हुए हैं परंतु उससे बावजूद भी अभी तक इसके खिलाफ कोई कारगर अभियान इच्छा शक्ति के नहीं होने के कारण सफलतापूर्वक नहीं चलता जा सका है।

आधुनिक युग में वैधानिक नियमों के द्वारा इस संस्था के आरंभिक नैतिक मूल्यों को बचाने के लिए हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 को लागू करने के पश्चात् समय-समय पर इसमें बदलाव भी लाये गये हैं परंतु आधुनिकता तथा भौतिकवादी सोच के वर्चस्व ने विवाह संस्था के स्वरूप को सभी समुदाय, समूहों के लिए बदल दिया है और आज जरूरत है इसके पौराणिक मूल्यों को मर्यादित स्थान प्रदान कर इसे पुनः स्थापित करने की नहीं तो पश्चिमी देशों की भाँति ही हमारे समाज में तलाक, भ्रूण हत्या, गिरता लैंगिक अनुपात, महिलाओं के ऊपर बढ़ते अत्याचार और महिला बच्चों का यौन शोषण आदि सभी हमारे समाज के स्वरूप छवि को धूमिल कर सकते हैं। समाजशास्त्रियों ने विवाह के अध्ययन में बदलते परिवेश में विवाह, परिवार और नातेदारी के बदलते आयामों का अध्ययन कर यह बताने की कोशिश की है कि किस प्रकार औद्योगीकरण, शहरीकरण तथा आधुनिकता के दौर में इन संस्थाओं में क्रमशः गिरावट आयी और इसके कारण महिलाओं की स्थिति भी चिंताजनक हुई है।

धार्मिक संस्थाएँ

धार्मिक संस्था की चर्चा करने के पहले धर्म को समझना आवश्यक है। धर्म एक सार्वभौमिक, स्थायी और भावनात्मक स्तर पर पाया जाने वाली ऐसा विश्वास है जो सभी समाज में मानव जीवन को प्रभावित करता रहा है। धर्म एक विश्वास है जो सभी समाज में मानव जीवन को प्रभावित करता है। धर्म एक विश्वास एक आस्था और एक अमूर्त अवधारणा है जिसे विभिन्न परिस्थितियों के लोगों ने आधार बनाकर अपने जीवन दर्शन का आधार बताया है तो कुछ लोगों ने इसे तर्क, सोच और बौद्धिक स्तर पर इसकी विवेचना कर इसके मूर्त स्वरूप को भी पहचानने की कोशिश की है। समाजशास्त्रियों ने अपने अध्ययन में व्यवहार को नियंत्रित करने का एक नैतिक आधार माना है और इस रूप में धर्म कैसे समाज में मानव के बीच के संबंध को प्रभावित करता है उसकी व्याख्या की है। किंगस्ले डेविस ने यह माना है कि यह एक ऐसा सामाजिक तथ्य है जिसने कितनी भी वैज्ञानिक सोच व विश्लेषण का विरोध किया है। इसलिए धर्म से संबंधित विचार को लेकर इससे जुड़े दो भ्रामक सोच निम्न आधार पर बताये हैं।

1. भावनात्मक आधार
2. विवेक पर आधारित पूर्वाग्रह

भावनात्मक दृष्टि से धर्म का संबंध स्वाभाविक रूप से मूल्यों से जुड़ा है जो या तो अज्ञानता को जन्म देता है, विकास को अवरुद्ध करता है या फिर समाज के लिए परोपकारी और सर्वोत्तम है, जो लोग इसे विवेक पर आधारित मानते हैं उनका कहना है कि धर्म को भी लक्ष्य प्राप्ति का एक साधन देखा जाना चाहिए।

सैद्धान्तिक स्तर पर यहाँ धर्म के तीन सिद्धान्तों की चर्चा की जाती है-

- (i) उदभववादी सिद्धान्त
- (ii) सापेक्षवादी सिद्धान्त
- (iii) मनोविज्ञानवादी सिद्धान्त

उदभववादी सिद्धान्त में जीववाद (Naturalism) तथा प्राकृतिवाद (Naturism) का विशेष रूप से वर्णन किया जाता है। इन सिद्धान्तों के द्वारा धर्म की उत्पत्ति के स्रोत की चर्चा की जाती है। किस प्रकार धर्म का विकास हुआ है।

जीववाद

उदभववादी सिद्धान्त से जुड़े जीववाद की अवधारणा का वर्णन टायलर तथा हर्बर्ट स्पेंसर ने किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा व स्पीरीट का एक महत्वपूर्ण स्थान है। यह आत्मा शरीर से जुड़ा होते हुए भी स्वतंत्र इकाई के रूप में होता है। सभी व्यक्ति के दो स्तित्व को माना जाता है शरीर और आत्मा। आत्मा शरीर को छोड़कर बाहरी दुनिया में भ्रमण करता रहता है। यह मुँह या नाक के द्वारा भी हमारे शरीर को छोड़कर बाहर निकल जाता है। इस प्रकार इस आत्मा ने दैवी शक्ति को आदिम मानव ने स्वीकार कर इसकी पूजा व आराधना शुरू की। जो पहला धार्मिक उपासना देखने को मिला उसमें अंत्येष्टि संस्कार (Funeral Rites) को प्रधानता दी गयी। शरीर के बाहर भटकने वाले इस आत्मा की उपासना उसे भोजन देकर संपन्न किया गया। इस प्रकार आदिम मानव ने आत्मा के अस्तित्व को मानकर उसकी पूजा आराधना शुरू कर दी। आत्मा ने मनुष्य के जीवन को प्रभावित किया और बाहरी दुनिया को प्रभावित करने वाले अर्थात् ब्रह्माण्ड (Cosmos) को प्रभावित करने वाले इस स्पीरीट के कारण नदी, तारों, पेड़-पौधों को भी महत्व दिया गया। विशेषकर हर्बर्ट स्पेंसर ने आत्मा के महत्व को अस्वीकार करते हुए आत्मा के दूसरे रूप को अर्थात् उन तत्वों को जिसका मानवीय गुण था-उसके पूजा करने की बात को स्वीकार किया।

प्रकृतिवाद

मैक्समुलर ने मुख्यतः टायलर के आत्मा से जुड़े व्याख्यान को स्वीकार किया लेकिन उन्होंने इस पर आधारित उनकी सोच को न स्वीकार करते हुए मृत शरीर को आत्मा से निकालकर स्वतंत्र रूप से विचरन करने को ज्यादा महत्व दिया। मैक्स मुलर का सोचना था कि प्राकृतिक चीजें अमूर्त रूप से हमें नहीं प्रभावित करते हैं बल्कि उनका एक वास्तविक रूप व्यक्तिगत रूप से अलौकिक शक्ति के रूप में हमें प्रभावित करता है। हमारे पूर्वजों के द्वारा इसलिए प्रकृति के उस वास्तविक रूप के पूजा व उपासना करने की प्रथा चल पड़ी।

आलोचनात्मक विवेचन करते हुए जीववाद के सिद्धान्त के बारे में यह कहा जाता है कि आदिम जाति ने लोगों ने आत्मा को पूजने के साथ ही कई मैजिक से जुड़े चीजों को भी अधिक महत्व दिया इसलिए यह कहना मुश्किल हो जाता है कि जिसे टायलर धर्म की संज्ञा देते हैं उसे आदिम जाति के जादू टोने से भी जोड़कर देखा जा सकता है।

इसी प्रकार प्रकृतिवाद की आलोचना करते हुए यह कहा जाता है कि जिसे मैक्समुलर धर्म कहते हैं वह प्रकृति के सामान्य नियम हैं जिसके कारण सूर्य का उदय या अस्त होना दिन-रात होना, वर्षा अधिक होना, आँधी व तूफान का आना आदि प्राकृतिक घटनाएँ घटित होती हैं। इन प्राकृतिक घटनाओं को चमत्कार के रूप में देखकर धर्म से जोड़ना भ्रामक है। इसलिए धर्म की यह व्याख्यान काल्पनिक है न कि प्रत्यक्ष प्रमाण पर आधारित।

कोम्ट के अपने तीन अवस्थाओं के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए कहा कि मानव इतिहास तीन अवस्थाओं से गुजरा है:-

- (a) धर्मशास्त्रीय
- (b) तत्वमीमांसयी
- (c) प्रत्यक्षात्मक

प्रथम धर्मशास्त्रीय स्तर पर प्रत्येक घटना की व्याख्या आलौकिक शक्ति के आधार पर की जाती है और यह मानवीय समाज के बौद्धिक स्तर पर भ्रामक सोच से जुड़ी थी जो आधुनिक विज्ञान के विकसित नहीं होने के कारण विकसित हुआ। बाद में

उन्होंने धर्म की व्याख्या करते हुए मनोवैज्ञानिक तत्वों के साथ उसके संबंध को बताया। आगे चलकर काम्ट ने ही धर्म को मानवतावादी स्वरूप की व्याख्या की और यह माना कि धर्म का एक सार्वभौमिक रूप है और वह यह कि सभी के हितों के लिए इसकी आवश्यकता है।

मार्क्स ने यह माना कि धर्म की उत्पत्ति सच पर आधारित थी जो प्राकृतिक जगत में होने वाले परिवर्तन से जुड़ा था। यह एक भ्रम था जो आगे चलकर स्वयं खत्म हो जायेगा। धर्म को उन्होंने विभिन्न समाज के वैचारिक आधार का स्वरूप माना जिसे धर्म के कारण धर्म को सामाजिक नियंत्रण का एक प्रमुख स्रोत माना जाता है। फ्रेजर ने उदभववादी तथा प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए धर्म तथा मैजिक (जादू टोना) में अंतर बताया है, धर्म को उन्होंने उस शक्ति से ऊपर बताया जो मनुष्य से ऊपर है जिसकी पूजा की जाती है तथा मैजिक व जादू टोने में मनुष्य में शक्ति को प्राकृतिक प्रक्रियाओं से ऊपर माना है। इसलिए फ्रेजर बौद्धिक विकास को उदविकासीय क्रम में देखते हैं।

जादू टोना से धर्म तथा धर्म से विज्ञान की ओर अग्रसर होना एक वैज्ञानिक सच है परंतु धर्म का जादूटोना से मिश्रित स्वरूप होता है जो आधुनिक युग में भी परिलिखित होता है। इसलिए यह निष्कर्ष निकालना कि आधुनिक समाज में वैज्ञानिक सच के कारण धार्मिक विश्वास में कमी आ जाती है बिल्कुल निराधार है।

वैज्ञानिक स्तर पर धर्म की व्याख्या प्रस्तुत करते कुछ प्रकायवादी सिद्धान्त के समर्थक इ दुर्खिम, रैंडमिफ ब्राउन तथा मैलिनोअस्की और मैक्स वेबर तथा टालकाट पार्सन्स ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि प्रत्येक समाज को अपनी स्थायित्व बनाये रखने के लिए कुछ आवश्यक शर्तों को पूरा करना होता है। समाज को कुछ आंतरिक संगठन के द्वारा आप को सुरक्षित रखना पड़ता है। दुर्खिम का मत था कि सभी समाज 'पवित्र' तथा 'अपवित्र' में अंतर करते हैं। धर्म एक उपाय ना तथा पवित्र चीजों में विश्वास पैदा करने की व्यवस्था है जिसके द्वारा अपवित्र चीजों से हमें अलग रहने का संदेश देता है। इस विश्वास व व्यवस्था बनाए तथा नैतिक पद्धति को बनाने वाले संगठन को गिरजाघर (चर्च) कहा जाता है। दुर्खिम ने धर्म की सामूहिक भावना को अत्यधिक बल दिया और व्यक्ति को इस सामूहिक अभिव्यक्ति का रूप देने वाले समाज के अंग बनाने का उपाय बताया और इस प्रकार समाज की एकता तथा संगठन को बनाये रखने में व्यक्ति के मुकाबले समाज के हित को सर्वोच्च बताया।

मैलिनोअस्की तथा रैंडमिफ ब्राउन ने भी अपने क्षेत्र कार्य पर आधारित अध्ययन के आधार पर यह बताया कि किस प्रकार धर्म जनजातीय समूह में एकता तथा उनके व्यवहार को नियंत्रित करने में एक रचनात्मक भूमिका अदा करते हैं। प्रकायवादी सिद्धान्तों पर आधारित धर्म की व्याख्या का खंडन करते हुए टी0बी0 बाटमार का कहना था कि आधुनिक युग में धर्म दोनों भूमिका अदा करता है यह लोगों को जोड़ता भी है और उन्हें अलग भी करता है। किसी खास समूह को धर्म ने एक दूसरे से जोड़ने के बजाय उन्हें एक दूसरे से अलग किया है और एक दूसरे के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर दी है। वास्तव में बहुत से औद्योगिक समाज में धर्म के कारण संघर्ष हुए हैं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि बहुत से सम्य समाज विश्वास तथा धर्मका ड को ज्यादा महत्व देते हैं क्योंकि धर्म के आधार पर लोगों को जोड़ने का विभाजित करने का काम विवेक पर आधारित होता है न कि भावना पर।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्रीय अध्ययन का आधार सामाजिक मानव शक्तियों से भिन्न होता है। आधुनिक समाज के अध्ययन में धर्म के महत्व का विस्तार से उल्लेख मैक्स वेबर ने किया है। मैक्स वेबर ने धर्म के महत्व का आर्थिक विकास के संबंध से जोड़कर देखा है। मैक्स वेबर ने अपनी पुस्तक *प्रोटेस्टेंट एथिक एंड राइज ऑफ कैपिटलिज्म* में प्रोटेस्टेंट एथिक के कारण आर्थिक विकास की स्थिति प्रत्येक परिस्थितियों में आर्थिक विकास के मार्ग में बाधक होता है-यह अवधारणा गलत है। मार्क्स ने कहा था कि धर्म के कारण आर्थिक विकास नहीं होता क्योंकि यह आर्थिक विकास के मार्ग में धर्म की साम प्रगतिशील नहीं बल्कि परंपरावादी सोच होता है जिसके कारण पिछड़ेपन की सोच होती है। इसलिए उन्होंने धर्म को जनता का अफीम कहा है अर्थात् जनता के लिए यह अफीम की तरह काम करता है। वेबर के धर्म के सिद्धान्त जो उन्होंने अपने कृतियों में स्पष्ट किया है उसके तीन उल्लेखनीय विचारों का विशेष रूप से वर्णन किया जा सकता है जो निम्न हैं -

- (i) वेबर का धर्म से संबंधित विचार किसी उदविकासीय सिद्धान्त पर नहीं आधारित था।
- (ii) वेबर का धर्म से संबंधित विचार धर्म के विश्लेषण के लिए इसाई धर्म में प्रोटेस्टेंट समूह के विचारों का अध्ययन से लिया गया जो आर्थिक व्यवस्था से जोड़कर देखते हैं वेबर ने इसको आर्थिक व्यवस्था से संबंधित के दो आधार पर देखते हैं प्रथम एक खास धार्मिक विचार का आर्थिक व्यवस्था से संबंध और दूसरा इस समूह का आर्थिक व्यवस्था से संबंध आदि धर्म

से जुड़े विश्वास।

- (iii) वेबर धार्मिक विचारों को नैतिक पहलू के बजाय उसके लोकप्रिय पहलू जो व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करते हैं उसकी चर्चा करते हैं। वहाँ भी उन्होंने कैलविन के विचारों को किस प्रकार प्रोटेस्टेंट समूह की सोच में बदलाव लाया है उसकी व्याख्या की है।

भारतीय समाज के संदर्भ में भी यह कहा जा सकता है कि धर्म को जाति तथा परिवार जैसी संस्थाओं ने काफी प्रभावित किया है। इस प्रकार भारत में धार्मिक आस्था का विश्वास के आधार पर मुख्य रूप से हिन्दू, इस्लाम इसाई, सिक्ख, जैन व पारसी समूह हैं जिनमें हिन्दूओं की संख्या 85 प्रतिशत से ज्यादा है और इसके बाद मुस्लिम धर्म को मानने वालों की संख्या लगभग 12 प्रतिशत और शेष अन्य धर्म को मानने वाले लोग भारत में रहते हैं। धार्मिक विश्वास को लेकर अक्सर हिन्दू-मुस्लिम, हिन्दू-सिक्ख, हिन्दू-इसाई के बीच संघर्ष की स्थिति बन जाती है। ज्यादातर संघर्ष तनाव की स्थिति हिन्दू-इसाई धर्म के मानने वाले लोगों के बीच हुई है जिसने आजादी के बाद की संप्रदायिक दंगों की शक्ति अख्तियार कर लिया है। जहाँ तक प्रशासन का प्रश्न है-हमारी प्रशासनिक व्यवस्था तथा सरकार संविधान में उल्लेखित धर्मनिरपेक्षता को आधार बनाकर ही इन धर्मों के बीच समान दूरी बनाये रखने का दावा करती है परंतु फिर भी इतिहास और खासकर पिछले 20 वर्ष की 1980-2002 तक की जो घटनाएं घटी हैं वे इस बात का द्योतक है कि धर्म के आधार पर राजनीति दलों ने वोट की राजनीति अपना ली है जिसके कारण धर्मों के बीच विवाद तथा तनाव की स्थिति ने एक गहरी समस्या का रूप अपना लिया है। इतिहासकारों के साथ-साथ बदलते परिवेश का अध्ययन समाजशास्त्रियों ने भी किया है। उनके चिंतन में धार्मिक विश्वास को लेकर जो आपसी द्वेष व नफरत की स्थिति के कारण सांप्रदायिक दंगे हुए हैं उसको ध्यान में रखकर भी अध्ययन किया गया है।

आज आधुनिक युग में सभी जगह धर्म का स्वरूप बदला है। धर्म को प्रभावित करने में जन संचार माध्यमों की भूमिका भी काफी बढ़ी है। धर्म में हुए परिवर्तन के निम्न पहलूओं पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

- भगवान का स्थानीय परिवेश से निकटवर्ती संबंधों में कमी।
- मानव केन्द्रवादी सोच की समाप्ति। भगवान और आत्मा का किसी व्यक्ति के समाहित होने की अवधारणा में कमी और उसके स्थान पर अमूर्त तथा ज्यादा सामान्य अवधारणा का वचस्व बढ़ा है।
- धर्म प्रत्येक दिन के दैनिक जीवन से अलग होता जा रहा है जबकि प्राचीन काल में पूरे जीवन को धर्म ही प्रभावित करता था। धर्मकांड (Ritual) का महत्व सीमित होता जा रहा है।
- धार्मिक व्यवस्था, अब धार्मिक संस्थाओं के द्वारा नियंत्रित होती जा रही है। मंदिर (चर्च) और स्टेट की भूमिका में बदलाव आया है। चर्च अब धार्मिक क्षेत्र में केंद्रित है और स्टेट कल्याणकारी कार्यों में ज्यादा ध्यान देने लगी है जिसके कारण स्टेट का हस्तक्षेप धर्म में हुआ है और धर्म का हस्तक्षेप सामान्य स्तर पर स्टेट के ऊपर से हुआ है।

उपर्युक्त स्थिति को एक शब्द के द्वारा अगर बताना हो तो यह कहा जा सकता है कि धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया के कारण धर्म का स्वरूप बदला है और उसके स्वरूप में जो जड़ता, पिछड़ेपन की सोच थी उसमें बदलाव आया है परंतु उसके बावजूद भी सभी समाज में ये परिस्थितियाँ समान रूप से नहीं उभरी हैं। कहीं-कहीं कुछ समाज में परिवर्तन के बावजूद भी धर्म के कारण कट्टरपंथी सोच के कारण संघर्ष, संप्रदायिक दंगों तथा आपसी कलह, द्वेष, ईर्ष्या और धार्मिक सहिष्णुता ने धार्मिक उन्माद का रूप धारण कर समाज के सौहार्दपूर्ण स्तित्व को खतरे में डाल दिया है।

राजनीतिक संस्था

जब हम राजनीतिक संस्था की चर्चा समाजशास्त्र में करते हैं तो प्रायः समाज में शक्ति के स्वरूप की बात करते हैं। शक्ति के बदलते या प्रभावित करने वाले तत्वों के साथ-साथ यह भी जान लेना आवश्यक है कि शक्ति का स्वरूप वैध या फिर अवैध हो सकता है। जब शक्ति का स्वरूप वैध नहीं होता अर्थात् जब उसे वैधानिक अथवा संस्थात्मक आधार नहीं मिला होता है उसे शक्ति या बल कहते हैं। शक्ति (Power) व बल से यहाँ अभिप्राय है शारीरिक बल का प्रयोग। परंतु जब इसके विपरीत शक्ति के वैधानिक अथवा संस्थात्मक स्वरूप की बात करते हैं तब इसे प्रभुत्व (Authority) कहा जाता है। इस प्रकार समाजशास्त्र में जब कभी शक्ति स्वरूप की चर्चा होती है तो अक्सर इसके संस्थात्मक आधार को ही ध्यान में रखकर इसके विभिन्न स्वरूप की बात की जाती है।

सामाजिक संस्थाएं एवं समाज के प्रकार

समाज शास्त्र में जर्मनी के समाजशास्त्रीय मैक्स वेबर ने विस्तार से शक्ति (Power) तथा प्रभुत्व के बीच अंतर स्पष्ट करत हुए प्रभुत्व को वैधानिक तथा शक्ति को अवैधानिक बताया था। जब कोई भी व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर उसकी इच्छा के खिलाफ उसे अपनी बात मनवाने के लिए बाध्य करता है तो उसे हम शक्ति कहते हैं। अर्थात् इस प्रकार के प्रभाव में एक दबाव होता है जिसे सहर्ष स्वीकार नहीं किया जाता परन्तु इसके विपरीत प्रभुत्व में स्वेच्छा से व्यक्ति अपने व्यवहार को निर्देशानुसार नियंत्रित करता है। उदाहरण के लिए हम सभी व्यक्ति नियम का पालन स्वेच्छा से करते हैं और अनायास उसका उल्लंघन करने पर स्वेच्छा से जुर्माना भी भरते हैं। परंतु जो महिला बलात्कार का शिकार होती है उसे बलपूर्वक मजबूर कर उसके साथ ज्यादती होती है। पहली स्थिति में हमारा ट्राफिक नियम का पालन करना प्रभुत्व का एक उदाहरण है जबकि दूसरी स्थिति में बलपूर्वक महिला का यौन शोषण शक्ति का उदाहरण है। राजनीतिक क्षेत्र में भी आतंकवादी समूह का हत्या करना शक्ति का उदाहरण है। शक्ति के प्रदर्शन मात्र से वे भय का माहौल पैदा कर अपनी बात मनवाना चाहते हैं। प्रभुत्व को प्रभावित करने वाले अनेकों तत्व हैं:-

- सामाजिक स्थिति (Social Position)
- प्रतिष्ठा (Prestige)
- ख्याति (Fame)
- शारीरिक तथा भौतिक शक्ति (Physical and Material Powers)
- शिक्षा, ज्ञान, क्षमता तथा श्रेष्ठता (Education, Knowledge, Ability & Excellence)

मैक्स वेबर ने प्रभुत्व के तीन महत्वपूर्ण आधार की चर्चा की है जो निम्न है:

- तार्किक (Rational Legal)
- पारंपरिक (Traditional)
- चमत्कारी (Charismatic)

तार्किक प्रभुत्व का आधार वैज्ञानिक कसौटी पर निर्धारित औपचारिक संगठनों में प्रतिपादी नियम है। अधिकारी तंत्र या नौकरशाही में जो प्रशासनीय नियम हैं उसका एक सार्वभौमिक स्वरूप होता है जिसके अंतर्गत सभी नियम लिखित रूप से विद्यमान होते हैं जिसके कारण सभी व्यक्ति को एक समान कुछ अधिकार और कर्तव्य होते हैं। जैसे-कारखाने, कचहरी तथा ऑफिस के नियम।

प्रभुत्व का एक और आधार परंपरा से भी जुड़ा होता है जिसके आधार पर परंपरा तथा रीति-रिवाजों पर आधारित नियमों के आधार पर कुछ लोगों का या समूह का एक स्वरूप होता है जो उस परंपरा के मर्यादा से जुड़ा होता है। पंचायत में मुखिया का स्थान परंपरा द्वारा स्थापित होता है। उसी प्रकार संयुक्त परिवार में कर्ता का जो अधिकार होता है वह भी परंपरा द्वारा स्थापित होता है। जनजातीय समाज में वयोवृद्ध लोगों का सर्वोपरि स्थान भी परंपरा पर ही आधारित होता है।

चमत्कारी प्रभाव के कारण भी कुछ लोग कुछ व्यक्तियों के व्यक्तित्व से इतने प्रभावित होते हैं कि उस व्यक्ति को अपना स्वाभाविक नेता मान बैठते हैं। जैसे सुभाष चन्द्र बोस, जीसस क्राइस्ट, प्रोफेट मोहम्मद-इन सभी व्यक्तियों का एक करिश्माई व्यक्तित्व था जिसके कारण जनता ने उन्हें अपना स्वाभाविक नेता मान लिया और उनके द्वारा बताये गये निर्देशों को स्वैच्छा से मान लिया।

इस दृष्टिकोण से राज्य (State) एक औपचारिक व्यवस्था है जिसके प्रभुत्व को हम सभी स्वीकार करते हैं। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था को नियंत्रित करने में इसका महत्वपूर्ण हाथ होता है। इसीलिए राजनीतिक व्यवस्था का एक मौलिक संस्थात्मक स्वरूप बताया जाता है। मैक्स वेबर ने इसे परिभाषित करते हुए कहा है कि "यह एक मानवीय समुदाय है जो एक निर्धारित क्षेत्र में अधिकृत तरीके से भौतिक दबाव बनाकर काम करने की क्षमता रखती है।" इसीलिए इसे सामाजिक नियंत्रण का एक प्रमुख साधन माना जाता है। राज्य के निम्न तत्वों के बारे में अक्सर चर्चा की जाती है-

- जनता (Masses): जनता का होना किसी भी राज्य की एक आवश्यक शर्त है। बिना जनता के राज्य का काम असाध्य नहीं है। जब हम जनता के साथ जोड़कर राज्य की बात करते हैं तो इसी जनता में लोगों के परस्पर विरोधी स्थान हो सकते हैं। जनता या तो राज्य में शासक वर्ग का हिस्सा हो सकती है। और शेष जनता शासित। जो शासक वर्ग है उसकी संख्या सीमित होती है जबकि शासित की संख्या ज्यादा होती है।

- (ii) निर्धारित क्षेत्र (Fixed Territory) : न राज्य का एक निर्धारित क्षेत्रीय सीमा होती है जिसमें उसके क्रियाकलापों को संपादित होते देखा जा सकता है। इसी निर्धारित क्षेत्र में राज्य सक्रिय होकर काम कर सकती है उस सीमा के बाहर उसका अधिकार क्षेत्र नहीं होता है। स्वतंत्र रूप से उस सीमा से किसी सदस्य को बाहर जाने को कह सकता है फिर किसी ऐसे व्यक्ति को जिसे राज्य नहीं चाहता उसके ऊपर निषेधाज्ञा लगाकर उस क्षेत्र में प्रवेश करने से मना कर सकता है।

सार्वभौमिकता

सार्वभौमिकता भी राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग है जिसके द्वारा राज्य एक सर्वोच्च संस्था के रूप में पूरे क्षेत्र में जाना जाता है वह एक स्वतंत्र इकाई के रूप में काम करती है। इसके सार्वभौमिकता में विभाजन हो सकता है। जैसा कि अमेरिका के सभी राज्य कुछ क्षेत्र में एक सार्वभौम की तरह काम करते हैं। भारत में भी जितने राज्य हैं-वे सभी कुछ क्षेत्रों, केन्द्रीय सरकार से अलग नीति-निर्धारित कर सकते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में राज्यों को सार्वभौम घोषित किया गया है।

सरकार

सभी सरकार एक निश्चित भू-भाग पर अधिकृत तरीके से काम करते हैं। सरकार उस निश्चित भू-भाग पर कानून लागू कर सकती है। हमारे यहाँ भी सरकार ने कुछ क्षेत्रों पर कुछ कानूनी प्रावधान के द्वारा जमीन खरीदने के आधार पर अंकुश लगा रखा है जिसके कारण कश्मीर तथा कुछ राज्यों में जहाँ जनजातीय समूह रहते हैं वहाँ पर दूसरे किसी प्रांत के व्यक्ति को जमीन खरीदने तथा बसने का अधिकार नहीं है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सभी सरकार वैधानिक तरीके से अपने वैध शक्ति का प्रयोग करती है। कानूनी दृष्टिकोण से सभी सरकार शक्ति प्रदर्शन का आधार सांस्कृतिक नियम, परंपरा या उत्तराधिकार के नियम से जुड़े हैं जबकि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से वैध सरकार वह है जहाँ उस सरकार के पास जनता का समर्थन मिला होता है। इस प्रकार वैधानिकता समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से प्रभुत्व का द्योतक है जिसका अनुपात घटता-बढ़ता रहता है।

औपचारिक स्तर पर सरकार के तीन राजनीतिक कार्य होते हैं:

- वैधानिक (Legislature)
- कार्यपालिका (Executive)
- न्यायपालिका (Judiciary)

वैधायिका जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि होता है जिसे वैधानिक अधिकार होता है जिसके आधार पर समाज को नियंत्रित करने के लिए नियम व कानून बना सकती है। ये कानून संवैधानिक प्रावधान के तहत बनाये जाते हैं जो लिखित रूप से सभी को उपलब्ध होते हैं। उन नियमों को क्रियान्वित करने का काम कार्य पालिका का है जिसे उन नियमों के क्रियान्वयन के लिए कुछ अधिकार सौंप दिये जाते हैं। कार्यपालिका ऑफिस के सभी छोटे-बड़े कर्मचारी तथा प्रशासकीय शासन व्यवस्था से जुड़े लोगों का एक समूह है जो

- वास्तविक या सांकेतिक हो सकता है।
- वंशानुक्रम या निर्वाचित हो सकता है या
- एकल या अनेकत्व हो सकता है।

इन सबसे महत्वपूर्ण कार्य न्यायपालिका का होता है जो कानून के परिभाषित तत्वों तथा उसकी व्याख्या में कोई भी कमी आने पर उसके ऊपर अपनी अधिकृत राय देकर विवाद का स्थायी रूप से निपटारा करने की क्षमता रखता है।

राजनीतिक व्यवस्था

राजनीतिक व्यवस्था के सामाजिक पृष्ठभूमि को अगर ध्यान में रखा जाए तो स्पेंसर ने 'सरल' तथा 'जटिल' समाज का वर्णन किया है। हाबहाउस ने-स्वजन, प्रभुत्व तथा नागरिकता को महत्वपूर्ण अंग माना है। औद्योगिक क्रांति तथा फ्रांस की क्रांति के बाद पूरे यूरोप में पूंजीवादी व्यवस्था का विकास हुआ। राजा के अधिकार में बदलाव आया और प्रजातांत्रिक सरकार की नींव रखी गयी। परंपरागत मूल्य कट्टरपंथी, स्तरीकृत, राजाओं तथा एकाधिनायकवाद के जगह विवेक, समानता, प्रजातांत्रिक सोच

सामाजिक संस्थाएं एवं समाज के प्रकार

तथा धर्मनिरपेक्षता का महत्व बढ़ा। राजनीतिक सत्ता का आधार राजा के स्थान पर प्रजातांत्रिक सरकार की नींव डाली गयी। प्रजातांत्रिक सरकार आज के युग का सर्वाधिक लोकप्रिय राजनीतिक व्यवस्था है। राजनीतिक दल, दबाव समूह, संविधान में उल्लिखित कथन तथा संविधान में ही मौलिक अधिकार का प्रावधान, निर्वाचन की प्रक्रिया तथा पंचायती राज व्यवस्था का सक्रिय भूमिका प्रदान करना आदि महत्वपूर्ण राजनीतिक हस्तक्षेप हैं। इन सब आधार पर राजनीतिक व्यवस्था का महत्व वर्तमान समय में काफी बढ़ गया है।

आर्थिक संस्थाएँ

सभी मानव समाज का स्तित्व उसके उत्पादन की क्षमता के लिए आवश्यक तकनीकी की मदद से खाद्यान्न सामग्री का उत्पादन पर निर्भर करता है। उत्पादन के बिना मनुष्य की जरूरतों को पूरा करने के लिए किसी और तरीके को अपनाना आवश्यक है। वास्तव में उत्पादन की प्रक्रिया समाज की एक मौलिक प्रक्रिया है जिसके कारण समाज में एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ संबंध स्थापित होता है। उत्पादन के प्रक्रिया से जुड़कर ही मनुष्य के नैसर्गिक इच्छाओं की पूर्ति होती है। आबादी के बढ़ने के साथ उत्पादन के लिए तकनीकी की क्षमता में भी अपेक्षित सुधार आया है जिसके कारण बढ़ती जनसंख्या के आर्थिक आवश्यकताएं पूरी की जा सकी है। इसीलिए उत्पादित चीजों के साथ-साथ उन उत्पादित चीजों के समान वितरण की प्रणाली का भी विकास किया गया ताकि सभी जाति की जरूरतों के अनुसार खाद्यान्न सामग्री को वितरित किया जा सके। अगर अकेले रहकर व्यक्ति अपनी जरूरत के लिए आवश्यक चीजों का उत्पादन स्वयं के लिए कर सकता तो उसे किसी दूसरे व्यक्ति का सहयोग की जरूरत ही नहीं होती। मानवीय समाज का यह सहज स्वभाव है कि उत्पादन की प्रक्रिया एक सामूहिक प्रक्रिया है जिसके कारण वितरण तथा उपभोग की प्रणाली को भी सामाजिक स्तर पर नियंत्रित किया जाना आवश्यक है। प्रत्येक समाज की अपनी एक सांस्कृतिक अनुकूलन की प्रक्रिया होती है जिसके द्वारा श्रम विभाजन, विनिमय, वितरण की प्रक्रिया को नियंत्रित किया जाता है। संसाधनों की कमी होने पर वितरण तथा उत्पादित चीजों को लोगों तक पहुंचाने के लिए आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक इकाई के रूप में काम करती है और उसी के अनुरूप कुछ आवश्यक संख्यात्मक तरीकों के द्वारा उत्पादित चीजों में वितरण की प्रणाली के द्वारा उन उत्पादित चीजों को बांट दिया जाता है।

इसीलिए आर्थिक संस्था का एक महत्वपूर्ण स्थान है और वह है प्रबंधन का। आर्थिक चीजों की प्रबंधन की इस व्यवस्था जिसके द्वारा उत्पादन, वितरण की प्रणाली को व्यवस्थित किया जाता है उसे आर्थिक संस्था की संज्ञा दी जा सकती है। किंगस्त डेविंस ने कहा है-किसी भी समाज में चाहे वह आदिम हो अथवा सभ्य, सीमित वस्तुओं के वितरण को नियमित करने वाले आधारभूत विचारों, मान्यताओं तथा स्थिति को हम आर्थिक संस्था कहते हैं।" आगबर्न तथा निमकाफ ने आर्थिक संस्था का एक सरल परिभाषा देते हुए कहा है, भोजन तथा संपत्ति से संबंधित मनुष्य के आर्थिक क्रियाओं को आर्थिक संस्था से जोड़कर देखा जाता है। इस प्रकार आर्थिक संस्था व्यक्ति कि क्रियाओं को विशेषकर उत्पादन, वितरण तथा उपभोग से जोड़कर देखते हैं। इस आर्थिक संस्था को नियंत्रित करने के लिए निम्न आर्थिक पहलुओं पर विचार करना आवश्यक है।

संपत्ति

संपत्ति से व्यक्ति के अधिकार सीमित होते हैं। जो भी चीजे उस मात्रा में उपलब्ध होती हैं उन्हें दो श्रेणी में बांटा जा सकता है-या तो वे मूर्त हो सकते हैं या फिर उनका स्वरूप अमूर्त हो सकता है। जो मूर्त चीजें हैं उनमें संपत्ति के रूप में जमीन, घर, सड़क, फर्नीचर, कपड़े, औजार, गाड़ी तथा अन्न सच्चे पदार्थ की बात की जा सकती है। अमूर्त चीजों की श्रेणी में वे पदार्थ आते हैं जिसका मूर्त स्वरूप नहीं होता, जैसे-नाम, व्यापार, ईमानदारी, रचनात्मक प्रतिभा अर्थात् इसका भौतिक स्वरूप नहीं होता है।

संपत्ति को हाबहाउस ने मनुष्य के उसके ऊपर अधिकार के संदर्भ से जोड़कर देखा है। व्यक्ति संपत्ति पर स्थायी व अस्थायी अधिकार कितना है यह उस समाज के नियमों से जाना जाता है। संपत्ति का स्वरूप निजी तथा सार्वजनिक हो सकता है। संपत्ति के विकास के क्रम में हाबहाउस की यह मान्यता थी कि प्रत्येक समाज में कुछ व्यक्तिगत संपत्ति होती है परंतु जनजातीय समाज में संपत्ति का स्वामित्व सामूहिक होता है जिसके कारण शिकार के लिए जंगल, खेती के लिए जमीन, पशुओं के लिए चारागाह आदि-इन सभी पर लोगों का सामूहिक अधिकार होता है। आर०एच०लोवी का भी जनजातीय समाज के अध्ययन के सिलसिले में ऐसा ही मानना था। भारतीय समाज में भी संयुक्त परिवार का संपत्ति पर अधिकार व्यक्ति रूप से कम सामूहिक रूप से ज्यादा था। परंतु कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार में संपत्ति का अधिकार कर्ता के हाथ

में हुआ करता था और आगे चलकर किसी भी परिवार के सदस्य को उस संपत्ति के अधिकार से वंचित करने के अधिकार पर नियंत्रण लगाया जाने लगा।

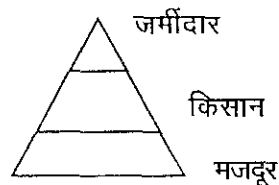
जहाँ तक भारत में संपत्ति के अधिकार का प्रश्न है परंपरागत रीति-रिवाजों के अनुरूप ही जमीन के स्वामित्व की बात को निर्धारित किया जाता था। परंतु मुस्लिम शासकों के दबाव में आकर इसके ऊपर उन मुस्लिम शासकों ने भूमि का प्रबंधन शुरू किया और ब्रिटिश सरकार के आने पर जमीन के अधिकार को लेकर तीन प्रकार के नियम या व्यवस्था किये गये जिसे निम्न नाम से जाना जाता है।

1. जमींदारी व्यवस्था
2. रय्यौतवारी व्यवस्था
3. महलवारी व्यवस्था

इस प्रकार के जमीन प्रबंधन को एक अधिनियम बंगाल पर्मानेंट सेटलमेंट रेगुलेशन के अधिनियम 1793 से जोड़कर इसे एक वैधानिक अधिकार दिया गया जो सभी पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी तथा उत्तरी क्षेत्रों में अलग-अलग तरीके से व्यवस्थित हुआ। पूर्वी क्षेत्रों में जो बंगाल, बिहार, उड़ीसा, झारखंड राज्य के नाम से जाना जाता है वहाँ जमींदारी व्यवस्था थी और जमीन पर संपत्ति के अधिकार को नियंत्रित करने से जिस प्रकार के कृषि क्षेत्र में वर्ग समूह बने उनके जमीन के अधिकार बिल्कुल अलग-अलग थे। एलिस थार्नर ने कृषि वर्ग के इस विभाजन से निम्नवर्ग को सक्रिय पाया:-

1. मालिक या जमींदार
2. किसान
3. श्रमिक

इन तीनों के अधिकार जमीन पर असमान रूप से बंटे थे। मालिक व जमींदार को स्थायी रूप से जमीन पर स्वामित्व का अधिकार था। किसान, श्रमजीवी मजदूरों द्वारा जमीन पर खेती कर उत्पादित खाद्यान्न का स्वामित्व अपने हाथ में लिया हुआ था और उसके बदले वह जमींदार को एक निर्धारित राशि लगान के रूप में देता था। लगान वसूली का अधिकार सिर्फ जमींदार को था जो ब्रिटिश कंपनी के प्रतिनिधि के रूप में काम करता था। तीसरी श्रेणी श्रमजीवी मजदूर की थी जिसे जमीन पर कोई अधिकार नहीं था वह श्रमिक मजदूर के रूप में काम करते हुए फसल के पैदा होने पर उसमें से कुछ हिस्सा अपने उपभोग के लिए रख सकता था या फिर उसे उसकी मजदूरी के बदले कुछ अनाज मिल जाता था और अगर जमीन दिया जाता था तो उसके ऊपर उसका अधिकार अस्थायी रूप से बना होता था और कभी भी उसे उसकी जमीन से बेदखल किया जा सकता था। जमीन से जुड़े इस वर्ग को एक पिरामिड के रूप में चित्रित कर आसानी से समझा जा सकता है:-



संख्या के दृष्टिकोण से जमींदार की संख्या कम थी परंतु 80 प्रतिशत का एकाधिकार संपत्ति पर उसका था जो उसे ब्रिटिश सरकार द्वारा निरंतर राजस्व दिये जाने पर बना रहता था। किसान और मजदूर की अगर जमीन थी तो उसकी मात्रा कम थी और लगान देने पर ही उसके जमीन पर अधिकार बने होते थे।

- (i) निजी स्वरूप (Private Property)
- (ii) सार्वजनिक (Public property)
- (iii) सामुदायिक (Communitastic Property)

किंगस्ले डेविस के अनुसार संपत्ति की निम्न विशेषताएँ हैं:-

1. संपत्ति को हस्तांतरित किया जा सकता है।

सामाजिक संस्थाएं एवं समाज के प्रकार

2. संपत्ति के स्वामित्व का मतलब यह नहीं है कि जो व्यक्ति संपत्ति का मालिक है वह उसका उपभाग भी करता है।
3. संपत्ति एक वास्तविक बाहरी चीज है।
4. संपत्ति के स्वामित्व के आधार पर उसे कुछ अधिकार भी मिले होते हैं।

अनुबंध

संपत्ति से मिलता-जुलता एक और तत्व है अनुबंध पत्र। जैसा कि शब्द से ही स्पष्ट है कि अनुबंध पत्र एक समझौता है जो संपत्ति को लेकर किसी खास लक्ष्य को ध्यान में रखकर तय किया जाता है। इसके अनुसार ही अधिकार और कर्तव्य का निर्धारण होता है। यह तय किया जाता है कि संपत्ति के ऊपर किस प्रकार का अधिकार होगा और किस प्रकार की संपत्ति का प्रबंधन दिया जाएगा इसकी निम्न विशेषताओं की चर्चा की जा सकती है:-

1. अनुबंध अवैयक्तिक हो सकते हैं।
2. अनुबंध संबंध को औपचारिक स्तर पर तय किया जा सकता है।
3. अनुबंध संबंध समय तथा स्थान के आधार पर तय किये जाते हैं।
4. अनुबंध पत्र को स्वरूप औपचारिक, वैधानिक तथा लिखित होता है।

परंतु इन सभी औपचारिक प्रावधानों के बावजूद भी यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि किसी भी अनुबंध पत्र का स्वरूप सख्त औपचारिक नहीं होता है। इसमें व्यक्तिगत तत्व समाहित होते हैं।

श्रम विभाजन

श्रम विभाजन के ऊपर विस्तार से चर्चा दुर्खिम के विचारों को स्पष्ट करते हुए भी की जा चुकी है जिन्होंने इस पर अपना विचार प्रकट करते हुए यह बताया है कि किस प्रकार श्रम विभाजन के द्वारा आधुनिक तथा प्राचीन समाज में सामाजिक एकता को रहती थी। इस संदर्भ में उन्होंने यांत्रिकी तथा सावयवी एकता के स्वरूप की चर्चा की थी। अन्य समाजशास्त्रियों ने इसका विवेचन सामाजिक स्तरीकरण के संदर्भ में किया है।

श्रम विभाजन जितना विस्तृत रूप से औद्योगिक समाज का हिस्सा बन चुका है उतना प्राचीन समाज नहीं था। प्राचीन समाज का स्वरूप भारत में जाति व्यवस्था को ध्यान में रखकर किया जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि आर्थिक विचार तथा औद्योगीकरण के कारण जाति पर आधारित श्रम विभाजन का स्वरूप वर्ग विभाजन के स्वरूप में बदला है या नहीं। इसमें कोई दो मत नहीं है कि आर्थिक संस्थाओं का स्वरूप औद्योगिक समाज में बदला है और आज ट्रेड यूनियन तथा औद्योगिक क्षेत्रों में काम करने वाले मजदूरों के सामाजिक स्थिति में काफी बदलाव आया है और इसी बात को ध्यान में रखकर कार्ल मार्क्स तथा डैहरेनडार्फ ने औद्योगिक समाज में वर्ग विभाजन तथा आर्थिक संस्था के विभिन्न प्रकार को परंपरागत कृषि से औद्योगिक अर्थव्यवस्था के रूप में परिवर्तित होते देखा है जहाँ पूंजीवादी अर्थव्यवस्था तथा सोशलिस्ट अर्थव्यवस्था के साथ साथ अज्ञान भूमंडलीकरण के युग में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रभाव के कारण इक्कीसवीं सदी में कंप्यूटरयुक्त संचार की तकनीकी ने अर्थव्यवस्था के स्वरूप में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिये हैं। इन सभी का वर्तमान अर्थव्यवस्था पर प्रभाव पड़ा है जिसका अध्ययन वर्तमान समय में आवश्यक हो गया है।

समाज के प्रकार

समाज का एक गतिशील प्रकृति है जिसके कारण जिस समाज के अध्ययन पर समाजशास्त्रियों ने ध्यान दिया है उसमें कृषक, शहरी, आधुनिक तथा उत्तर आधुनिक समाज सम्मिलित हैं। आधुनिक या शहरी समाज को औद्योगिक समाज का पर्याय भी माना जाता है। परंतु इसका मतलब यह निकालना सर्वथा भ्रामक होगा कि कृषक समाज या आदिवासी समाज को समाजशास्त्रियों ने अपने अध्ययन का विषय नहीं बनाया है। वास्तविकता यह है कि समाजशास्त्रियों ने समाज का अध्ययन मुख्य रूप से परंपरा से जुड़े समाज तथा उसकी व्यवस्था को ध्यान में रखकर किया है। समाजशास्त्रियों ने जटिल समाज की भी चर्चा की है। तुलनात्मक विधि की परंपरा के कारण शायद समाजशास्त्रियों के लिए यह आवश्यक था कि वे सभी प्रकार के समाज का अध्ययन करें। इसीलिए दोहरे समाज (Dichotomous Society) के अध्ययन की परंपरा उन्नीसवीं सदी से शुरू हो गयी थी जब यूरोप के समाजशास्त्रियों ने 'समाज' तथा सामाजिक संबंध को अपने अध्ययन का केन्द्र बिन्दु बनाया। दुर्खिम,

फ. टानिज, रेडफिन्ड, ह. स्पेंसर सभी ने दो प्रकार के समाज को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाया। अगर शहरी समाज का अध्ययन किया तो प्राचीन समाज के संदर्भ में इस प्रकार दोहरे समाज के अध्ययन की परंपरा रही। यहां हम समाज के विभिन्न प्रकारों की चर्चा करेंगे।

कृषक समाज

कृषक समाज का अध्ययन विशेष तौर से ग्रामीण समाजशास्त्र के साथ शुरू हुआ। ग्रामीण समाज शास्त्र जैसे विषय की शुरुआत अमेरिका तथा यूरोप से हुई। परंतु यहाँ भी जो अध्ययन हुए उसमें कृषक समाज के बजाय कृषि को तथा कृषि के क्षेत्र में होने वाले उत्पादन की प्रक्रिया को ही अध्ययन का प्रमुख विषय बनाया गया। कृषक समाज का विधिवत अध्ययन मध्य तथा पूर्वी यूरोप से शुरू हुआ जहाँ कृषक समाज को पश्चिम देशों के आधुनिकीकरण की विचारधारा से जोड़कर देखा जाने लगा। कालांतर में राजनीतिक नेता, सामाजिक वैज्ञानिक तथा सामाजिक मानवशास्त्रियों ने कृषक समाज को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाया। पश्चिम देशों के सामाजिक मानवशास्त्रियों ने आदिवासी समाज तथा कृषक समाज की अवधारणा पर पुनर्विचार करते हुए उनके संस्कृति से संबंध की क्या पहचान हैं? इस मुद्दे पर मानवशास्त्रियों का ध्यान दिलाया है। सामाजिक मानवशास्त्रियों ने कृषक समाज की व्याख्या भी की है। कृषक समाज से संबंधित अवधारणाएँ अनेक हैं।

टियडोर शनिन का कहना है कि अगर वास्तव में कृषक समाज की व्याख्या कर उसे समझना है तो उसके आनुभविक तथा अवधारणात्मक पहलुओं पर ध्यान देना आवश्यक है। इस रूप में कई देशों में कृषक समाज का अध्ययन किया गया है। रूस, हंगरी, चीन, जापान, भारत इन सभी जगहों पर कृषक समाज का अध्ययन किया गया है और कुछ हद तक तो इन समाजों की समानता है उस पर भी विचार किये गये हैं। यद्यपि कुछ अंतर भी पाये गये हैं। बावजूद इसके कृषक समाज के कुछ ऐसे पहलू हैं जिसे सभी जगह एक पाया गया। अर्थात् कृषक समाज के कुछ ऐसे लक्षण हैं जो समान भी हैं। टियडोर शानिन ने कृषक समाज के अध्ययन में निम्न चार प्रमुख सैद्धांतिक दृष्टिकोण का उल्लेख किया है-

- माक्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग का सिद्धांत
- विशेष आर्थिक आधार पर वर्गीकरण
- प्रजातिलेखन (ethnography) द्वारा किये गये संस्कृति परंपरा का अध्ययन
- दुर्खिम से प्रभावित सिद्धान्त जिसे क्रोबर ने प्रकार्यात्मक सोच के साथ समाजशास्त्री अध्ययन से जोड़ने का प्रयास किया है।

माक्स द्वारा बताये गये वर्ग पर आधारित अध्ययन में कृषक इसे समाज को सत्ता से जोड़कर देखा गया है। कृषक समाज को एक पूंजीवादी व्यवस्था से पहले का शोषित समाज बताया है-तथा उत्पादन के कार्यों में लिप्त दबाये वर्ग के रूप में चित्रित किया गया है। इस संदर्भ में माक्स तथा इंजेल्स का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। आधुनिक समाज के कृषक समाज उसी क्रम के बंधे लोग हैं जो आज भी सत्ताविहिन हैं और संघर्ष का सहारा लेते हैं।

आर्थिक आधार पर यह माना जाता है कि कृषक समाज के अपने एक विशेष प्रकार की अर्थव्यवस्था है जो परिवार पर आधारित श्रमिकों के द्वारा खेती को मुख्य आधार बनाकर अपना जीवन निर्वाह करती है। इस विचार को माक्स, तथा चायनोव (Chayanov) ने 1925 के आस-पास विकसित किया था।

तीसरा दृष्टिकोण प्रजातिलेखकों (Ethnographers) के अध्ययन पर आधारित है जिसमें सामाजिक मानवशास्त्रियों ने भी अपने विचार प्रकट किये हैं। ये सभी कृषक समाज को आरंभ की राष्ट्रीय परंपरा से जुड़े देखते हैं। ये वर्तमान समय में अपने पिछड़े दृष्टिकोण व सोच के कारण सांस्कृतिक रूप से पिछड़े गये (Cultural lag) हैं।

चौथा सैद्धांतिक पक्ष दुर्खिम द्वारा प्रतिपादित प्रकार्यात्मक सोच पर आधारित है जिसके अनुसार इस प्रकार के समाज को दो वर्गों में विभाजित कर देखा जाता है। एक वर्ग वह है जहाँ यांत्रिक एकता (Mechanical Solidarity) पायी जाती है तो दूसरा वर्ग वह है जहाँ सावयवी एकता (Organic solidarity) पायी जाती है। इस प्रकार के समाज की व्याख्या एफ. टानिज ने भी की है। अमेरिकन मानव शास्त्रियों विशेषकर क्रोबर तथा रेडफिल्ड ने इस प्रकार के समाज के सांस्कृतिक पक्ष को ध्यान में रखकर इसका विस्तार से वर्णन किया है।

इस प्रकार समाजशास्त्रीय अध्ययन में कृषक समाज के विविध स्वरूप हैं उनके मुख्यतः दो स्वरूप का अध्ययन किया गया है। एक तो सरल जीवन प्रस्तुत करता है दूसरा उसका जटिल स्वरूप उभारता है। इन विविधताओं के बावजूद भी टियोडोर शानिन ने कृषक समाज की निम्न विशेषताओं को काफी महत्वपूर्ण बताया है जिसका उल्लेख करना आवश्यक है:-

1. कृषक समाज खेती के लिए परिवार के श्रम का भरपूर प्रयोग करता है। परिवार के सदस्यों के जीविकोपार्जन का स्तर कृषि पर आधारित होता है। परिवार के उपयोग की जरूरतों को खेती से ही प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार उनकी आर्थिक निर्भरता पूर्णतया खेती पर होती है।
2. जमीन के स्वामित्व तथा खेती पर निर्भर करने से उपभोग की वस्तुओं तथा जीविकोपार्जन के लिए खेती आवश्यक साधन बन जाता है। कृषि का स्तर लघु होता है। खेती योग्य तकनीकी भी सीमित होती हैं परन्तु उन सीमित साधनों के बावजूद लोगों का जीवन कृषि पर ही आश्रित होता है और इसके अलावा उनके पास कोई दूसरा विकल्प नहीं होता।
3. विशेष परंपरागत संस्कृति के कारण लोगों का जीवन भी लघु समुदाय का होता है। इनके अपने विशेष सांस्कृतिक पहलू होते हैं जिसे कई सामाजिक मानवशास्त्री ने अपने अध्ययन का विषय बनाया है। इनके सांस्कृतिक परंपराओं को ग्रामीण समुदाय के साथ जोड़कर देखा जा सकता है। इस प्रकार कृषक समाज को चित्रित करने का यह महत्वपूर्ण आधार बन जाता है।
4. कृषक समाज की स्थिति अधीनस्थ (Underdog position) होती है। कृषक समाज के ऊपर दूसरे वर्ग के लोगों का वर्चस्व सदैव बना होता है। जिन लोगों के हाथ में सत्ता केंद्रित होती है वे किसानों का शोषण करते हैं। राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण से भी उनका शोषण किया जाता है। इसी शोषण के कारण कृषक समाज ने अपने आप को स्वतंत्र व आजाद करने के लिए कई देशों में क्रान्ति तथा आंदोलन का सहारा लिया है।

कृषक समाज की स्थिति सदैव सामाजिक संदर्भ में हाशिए पर रही है। इसलिए इनके जीवन का वर्णन करते हुए इनके सर्ववहारा वर्ग (Peasant Proletariat) भी कहा गया है। शक्तिहीन होने के कारण इनके द्वारा उत्पादित खाद्यान्न की कीमत भी मनमाने ढंग से तय कर दी जाती है जिसके कारण इनके पास विद्रोह का रास्ता अख्तियार करना एकमात्र हथियार हो जाता है। इसी असंतोष को लेकर कई कृषक आंदोलन हुए हैं। उन किसान आंदोलन के अध्ययन की परंपरा सर्वप्रथम 1960 के दशक में मानवशास्त्रियों द्वारा की गयी। भारतीय सामाजिक मानवशास्त्रियों जैसे एस.ए. राव, के.एस. सिंह, ए.के. राय बर्मन आदि ने किया और इतिहासकारों के अध्ययन से प्रभावित होकर कई समाजशास्त्रियों ने विस्तार से अध्ययन किया है। ए.आर. देशई, डी.एन. धनागरे, कैथलीन गफ, टे.के. ओमेन तथा दीपांकर गुप्ता आदि भारतीय समाजशास्त्रियों ने कृषक समाज के अध्ययन से जुड़े अनुभाविक तथा सैद्धांतिक अवधारणाओं को आधार बनाकर विस्तार से अध्ययन किया है।

ग्रामीण एवं नगरीय समाज

ग्रामीण समुदाय का अध्ययन ग्रामीण समाजशास्त्र में बहुत पहले शुरू हुआ। 19वीं सदी के मध्य से ही ग्रामीण समुदाय का अध्ययन शुरू हुआ। उनकी समस्याओं का अध्ययन कर उनके जीवन को सुधारने का प्रयास भी काफी पुराना है। सोरोकिन जिमरमैन तथा गालियन के अध्ययन से 'ग्रामीण समाज' के अध्ययन को एक निश्चित आधार मिला। 19वीं सदी के अंत में तथा 20वीं सदी के मध्य तक ग्रामीण समुदाय की चर्चा करते समय इसकी तुलना हमेशा नगरी व शहरी समाज से की गई। जिस किसी समाजशास्त्री ने समाज का वर्गीकरण किया उसका किसी न किसी रूप में दो परस्पर विरोधी संरचनात्मक पहलुओं का ध्यान में रखकर समाज के प्रकार की बात की गयी। फर्डिनांड टानिज ने इसे जेमाइन शाफ्ट तथा गेजेलशाफ्ट कहते हुए 'समुदाय' और 'समाज' के अंतर को स्पष्ट किया। अमेरिकी मानवशास्त्री राबर्ट रेडफिल्ड ने मेक्सिको के एक गाँव 'टेपोजलान' के अध्ययन में ग्रामीण समुदाय की विशेषताओं का भी वर्णन किया। अन्य समाजशास्त्रियों की तरह राबर्ट रेडफिल्ड ने भी लोच समाज अर्थात् ग्रामीण समाज की विशेषताओं का वर्णन करते हुए नगरीय समाज की विशेषताओं का विस्तार से वर्णन किया। फ्रेंच समाजशास्त्री दुखिम ने भी ग्रामीण समाज तथा नगरीय समाज के अंतर को स्पष्ट करते हुए बताया कि जहां ग्रामीण समाज की विशेषता यांत्रिकी एकता है वहीं दूसरी ओर नगरीय समाज की विशेषता है सावयवी एकता। इन्हीं दोनों गुणों के आधार पर उन्होंने इन दो परस्पर विरोधी समाज के गुणों का विस्तार से वर्णन किया है। हर्बर्ट स्पेंसर ने भी लड़ाकू समाज (Militar

Society) तथा औद्योगिक समाज (Industrial Society) का वर्णन किया है। इस प्रकार दो स्तर पर संरचनाओं के परस्पर विरोधी विशेषताओं को ध्यान में रखकर ग्रामीण समाज की चर्चा ग्रामीण समाजशास्त्रियों के द्वारा किये गये अध्ययन की उल्लेखनीय बात रही है। किंगस्ले डेविस ने भी इसके भौतिक गुणों तथा सामाजिक गुणों के आधार पर कुछ विशेषताओं का वर्णन किया है जो निम्न है:-

(i) क्षेत्रिय निकटता-ग्रामीण समुदाय के लोग क्षेत्रीय स्तर पर एक दूसरे के काफी नजदीक रहते हैं। जैसा कि सी.एच. कुले ने कहा था कि इस समुदाय को प्राथमिक समूह की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि इसके सदस्यों के बीच संबंध सीधा व प्रत्यक्ष होता है। ये एक दूसरे के साथ सदैव मिलते रहते हैं। नजदीक रहने के कारण यह संभव हो पाता है। इन निर्धारित सीमाओं के अंदर रहते हुए भी ग्रामीण समुदाय की एक विशेषता है कि उनके घर एक-दूसरे के साथ झुंड में बने होते हैं। आवासीय क्षेत्र एक जगह अवस्थित होने के कारण उनका मिलना-जुलना परिवार के सदस्यों की भांति ही होता है।

किंगस्ले डेविस का यह कहना था कि ऐसे समूह का व्यापारिक संबंध दूर-दराज के लोगों से हो सकता है परंतु अपने स्वजनों के साथ वे व्यापार नहीं करते। उनके साथ उनका उठने-बैठने का संबंध होता है जिनके बीच वे बातचीत करते हैं, पूजा, त्योहार तथा अन्य सामाजिक क्रियाओं में वे एक-दूसरे के साथ आवेगात्मक संबंध बना कर रखते हैं।

अगर संचार के साधन ज्यादा विकसित न हो, लोगों की संख्या कम हो तो ये संबंध और भी एक-दूसरे को निकट ले आते हैं। और अगर उसके विपरीत संचार के साधन ज्यादा उन्नत हो तो संभव है संबंधों में कुछ दूरी आ जाये। संचार के साधन ज्यादा विकसित हों तो ऐसी स्थिति में भी जाहिर है समुदाय की संख्या वृहत हो सकती है और द्वितीयक संबंधों का प्रभाव देखा जा सकता है।

(ii) सामुदायिक भावना-ग्रामीण समाज में रहने वाले लोगों के बीच सामुदायिक भावना पायी जाती है जिसके कारण भी वे एक-दूसरे के नजदीक हो जाते हैं। मिलकर काम करने की समझ बनती है और उससे एक-दूसरे के साथ समुदाय के स्तर पर परस्पर सहयोग की भावना जागती है। एक-दूसरे के सुख-दुख में वे सभी एक परिवार के सदस्य के तरह ही एकता के सूत्र से बंधे होते हैं।

(iii) संयुक्त परिवार-परिवार का ढांचा भी संयुक्त होता है। एक व्यक्ति अपने पिता और दादा-दादी के साथ एक छत के नीचे अपने बच्चों के साथ रहता है। सभी सदस्यों के लिए भोजन भी एक ही चूल्हे से बनता है। संयुक्त परिवार में व्यक्तिगत संपत्ति नहीं होती। सामूहिक रूप से संसाधनों का उपभोग किया जाता है। कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रेरित होकर काम नहीं करता है इसलिए व्यक्तिगत रूप से संपत्ति के उपभोग की बात सोची ही नहीं जाती। सदस्यों की संख्या अधिक होने के कारण एक प्रकार का श्रम विभाजन भी देखा जाता है। पुरुष खेतों में काम करते हैं, महिलाएँ फसल काटने तथा घर की देखभाल की जिम्मेदारी उठाती हैं और बच्चे पशुओं को चराने ले जाते हैं।

(iv) धर्म में विश्वास-ग्रामीण समुदाय में रहने वाले लोगों का धर्म भी एक होता है जिसके कारण धार्मिक आस्था व विश्वास उन्हें धार्मिक समारोहों को एक साथ मनाने का मौका मिलता है और इन धार्मिक विश्वासों के कारण उनमें एकता की भावना पायी जाती है। प्राकृतिक विपदाओं के कहर से बचने का एकमात्र साधन उनका धार्मिक विश्वास होता है। कृषि से संबंधित वैज्ञानिक जानकारी उनके पास नहीं होती इसलिए उनका मानसून पर निर्भर रहना उनकी मजबूरी है। इस प्रकार की अनिश्चितता की स्थिति में उन्हें उनके भगवान का सहारा होता है जो उनके विश्वास और उम्मीदों को जीवित रखता है।

(v) सरलता-ग्रामीण जीवन की एक और विशेषता उनका सरल जीवन व्यतीत करना होता है। जितने भी ग्रामीण जीवन से जुड़े लोग ग्रामीण समाज के सदस्य होते हैं उनका स्वरूप प्रकृति की तरह ही सरल होता है। उनके जीवन में कोई भी बाहरीपन कृत्रिमता तथा दोहरी नीति, चापलूसी, छल-कपट आदि नहीं होते। उनके जीवन की सरलता उन्हें स्वाभाविक रूप से एक-दूसरे के परस्पर नजदीक ला देती है। द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध, लोभ आदि उनके जीवन का हिस्सा नहीं होता। इसीलिए ग्रामीण जीवन को एक आदर्श जीवन का भी पर्याय माना जाता है। किसी भी स्थिति में मानसिक तनाव संघर्ष तथा प्रतिस्पर्धा जैसी नकारात्मक प्रवृत्तियाँ उनके स्वभाव का स्वरूप नहीं होता।

(vi) सामाजिक संपूर्णता-ग्रामीण जीवन की एक और विशेषता है उसका सामाजिक रूप से संपूर्ण होना। इस समाज में लोगों की आवश्यकताओं व आकांक्षाओं की पूर्ति समाज में रहकर ही पूरी हो जाती है। इसलिए उनका जीवन सामाजिक स्तर

पर पूर्ण होता है। लघु समुदाय होने के कारण यहाँ व्यक्ति के परस्पर संबंध ऐसे होते हैं कि किसी भी सुख व दुख के क्षणों में एक-दूसरे का पूरा सहयोग उन्हें मिलता है। उन्हें अपनी जरूरतों के लिए बाहरी दुनिया की जरूरत ही नहीं होती। वे अपने-आप में सामाजिक स्तर पर एक पूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं।

उपर्युक्त विशेषताओं को ध्यान में रखकर जब हम भारतीय ग्रामीण समाज की विवेचना करते हैं तो भारतीय ग्रामीण जीवन में भी उपर्युक्त विशेषताओं का समावेश पाते हैं। भारत में ग्रामीण जीवन की प्राथमिकता रही है। भारत की 80 प्रतिशत आबादी गाँवों में ही बसती है। 95 प्रतिशत के लगभग आदिवासी लोग अभी भी ऐसे हैं जो गाँव में बसते हैं। इनमें से तो कुछ आदिवासी ऐसे हैं जो शहरीकरण के दबाव के कारण और भी अंतर्मुखी हो गये हैं। अपनी सभ्यता तथा संस्कृति को बचाकर रखने के लिए बाहरी दुनिया के संपर्क से अपने आपको बिल्कुल ही दूर रखना चाहते हैं।

भारत मूलतः गाँवों का देश है जहाँ 6 लाख से भी अधिक गाँव हैं जिनका जीवन स्तर एक-दूसरे से भिन्न है और कई जगहों पर कुछ समानताएँ भी पायी जाती हैं। इरावती कार्वे ने भारत के सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाले तीन निर्णात्मक संस्थाओं का उल्लेख किया है-

- (i) गाँव
- (ii) जाति
- (iii) संयुक्त परिवार

इन सभी संरचनाओं में ग्रामीण समुदाय का एक खास महत्त्व रहा है। इसलिए ग्रामीण समुदाय की चर्चा प्राचीन मध्यकाल में तथा आधुनिक भारत के सामाजिक संदर्भ में की गयी है। भारतीय ग्रामीण समाज का अध्ययन करने वाले मुख्य विद्वानों में, मुन्ने, मैटकाफ, मैन्, मार्क्स और बेडेन पावल जैसे विदेशी विद्वान हैं जिन्होंने भारत के ग्रामीण समाज को एक पृथक और बंद समाज की संज्ञा दी है। चार्ल्स मैटकाफ ने भारतीय ग्रामीण समाज को अखंडित, परमाणुक और अपरिवर्तनीय इकाई के रूप में चित्रित किया है। इस अवधारणा को अन्य समाजशास्त्रियों ने चुनौती देते हुए बताया है कि ग्रामीण समाज में एक गतिशीलता भी थी और उसका स्वरूप अपरिवर्तनीय रहा है-ऐसी बात नहीं है। अंग्रेजों के आगमन तथा उनके चले जाने के पश्चात् सरकार ने भी कई वैधानिक स्तर पर बदलाव लाये हैं जिसके परिणामस्वरूप आज गाँवों की एक राजनीतिक भूमिका भी बनी है। राजनीतिक जीवन से प्रभावित करने पर एक वास्तविक आधा गाँव बन गया है। इसीलिए लुयी कुलुमों ने ग्रामीण समुदाय के तीन अर्थ बतलाए हैं:

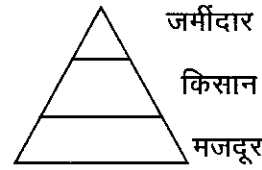
- (a) राजनीतिक
- (b) भूमि के सह-स्वामियों की एक इकाई
- (c) परंपरात्मक अर्थव्यवस्था और राजनीतिक व्यवस्था के प्रतीक

भारतीय ग्रामीण समाज को लेकर भारतीय समाजशास्त्रियों ने भी भारतीय ग्रामीण समाज के महत्त्वपूर्ण लक्षणों की चर्चा की है जिसे दूसरे विषय के लोग भी बड़े ध्यान से पढ़ते हैं। एस.सी. दुबे का 'इंडियन विलेज', एम.एन. श्रीनिवास का 'इंडियन विलेजेस', मैकिम मैरियट द्वारा लिखित पुस्तक 'विलेज इंडिया' रामकृष्ण मुखर्जी द्वारा लिखित पुस्तक 'ग्रामीण समाज की गतिशीलता'। इसके अलावा कैथलीन गफ तथा ए.आर. देसाई ने भी ग्रामीण समाज के संरचना का वर्णन करते हुए उसकी संरचना का वर्णन किया है। एलिस लार्नर ने मुख्य रूप से ग्रामीण समाज की बनावट का उल्लेख करते हुए इसके तीन वर्गों का विस्तार से वर्णन किया है। उनका मानना था कि निम्न तीन संबोधन लोकप्रिय हैं। गाँव में इन वर्गों के लिए इसी शब्दावली का प्रयोग होता है।

- (i) जमींदार
- (ii) किसान
- (iii) मजदूर

इन तीनों को एक पिरामिड की संरचनात्मक शक्ति में चित्रित करते हुए तीन वर्गों की स्थिति का वर्णन किया गया है। इसकी बनावट का जिक्र करते हुए पिछले दो दशक पूर्व भारतीय अर्थशास्त्रियों ने ग्रामीण समाज के उत्पादन के साधनों का उल्लेख

किया और यह बताया कि भारतीय ग्रामीण समाज के परिवर्तित उत्पादन के साधनों के द्वारा इसकी उत्पत्ति तथा इसमें बदलते संबंधों के स्तरीकरण को समझना भी आवश्यक है।



नगरीय समाज

जैसा कि पहले कहा जा चुका है की नगरीय समाज को ग्रामीण के साथ उसके विपरीत का एक संरचनात्मक व्यवस्था माना जाता है। आम बोलचाल की भाषा में यह जितना सहज प्रतीत होता है, वास्तव में अगर अवधारणा के दृष्टिकोण से देखा जाये तो नगरीय समाज की यह अवधारणा सतही ही कही जा सकती है। इसलिए केवल इतना कह देने मात्र से कि नगरीय समाज, ग्रामीण समाज से एक विपन्न व्यवस्था है पर्याप्त नहीं है।

साथ ही किंगस्ले डेविस के द्वारा उल्लेख किए आधार पर नगरीय समाज का विवेचन किये जाने पर भी कुछ कठिनाई आती है। किंगस्ले डेविस ने ग्रामीण समाज के सामाजिक शर्त तथा भौतिक शर्तों का उल्लेख किया था। नगरीय समाज के संदर्भ में यह कहना कि भौतिक शर्तें और सामाजिक शर्तों के बीच एक सीधा संबंध है-सही नहीं होगा। भौतिक शर्तें सामाजिक शर्तों से बिल्कुल ही भिन्न है। अर्थात् जो भौतिक शर्तें हैं उससे सामाजिक शर्तें पैदा नहीं होती हैं। कहने का तात्पर्य यह हुआ कि जनसंख्या के घनत्व को आधार बनाकर शहर और ग्रामीण जीवन के विशेषताओं का उल्लेख करना भ्रामक होगा। जनगणना में यद्यपि जनसंख्या को ही आधार बनाकर ग्रामीण समाज तथा नगरीय समाज की विवेचना की गयी है जिसे शिकागो स्कूल के समर्थक जो नगरीय पारिस्थिति की बात करते हैं बिल्कुल ही नहीं स्वीकार करते। इस दृष्टि से यह भी पाया गया है कि जनसंख्या के आधार पर यह तय करना कि अब एक सामाजिक समूह नगरीय समूह कहा जायेगा-इसका एक वस्तुनिष्ठ आधार तय नहीं किया गया है। निम्न देशों में आधार अलग-अलग हैं।

देश	- - -	नगरीय समाज की शर्तों के लिए आवश्यक जनसंख्या
अमेरिका	- - -	2,500
फ्रांस	- - -	2,000
जापान	- - -	30,000
भारत	- - -	10,000

यद्यपि भारत में भी अगर देखा जाए तो यह मापदंड सही नहीं प्रतीत होता। जहां आदिवासी क्षेत्रों में संभवतः यह मानदंड सही भी दिखे परंतु जहां तक उत्तर भारत के गांवों का प्रश्न है-यहां गांव ही इतने बड़े हैं कि 10,000 के आबादी से ऊपर के कई गांव मिल जायेंगे जिसमें तीन-चार या उससे अधिक पंचायत होते हैं। इन गांवों की आबादी 20 हजार से ऊपर है।

इसलिए नगरीय समाज का वर्णन करते समय उसकी सामाजिक विशेषताओं को ध्यान में रखना आवश्यक होगा और उससे भी ज्यादा जरूरी है उस समाज के लोगों के जीवन जीने की शैली, जिसे सामाजिक परिस्थिति से जोड़कर देखा जाता है। इस समाज को सावयवी अनुरूपता के साथ जोड़कर देखा जाता है। जिस प्रकार वातावरण को आत्मनिर्भरता तथा प्रकृति के ताकतों से जोड़कर देखा जाता है उसी प्रकार नगरीय समाज में एक प्रकार की प्रतिस्पर्धा देखी जाती है। यह प्रतिस्पर्धा शहरी संसाधनों के सीमित होने के कारण परिस्थिति होती है। शहरी संपदा में जमीन का एक खास महत्त्व है। अधिक प्रभावशाली व्यक्ति सामूहिक स्तर पर अपना अधिकार बनाये रखना चाहते हैं जिसके कारण वो अपने अनुकूलन क्षमताओं से इस पर स्वामित्व जमाने में सफल हो पाते हैं। प्रतिस्पर्धा के कारण अत्यधिक श्रम विभाजन पाया जाता है और क्षेत्र भी अलग-अलग बँट जाते हैं। एक नगरीय क्षेत्र के अधीन ही कई उप-क्षेत्र बन जाते हैं जहाँ प्रत्येक समूह का अपना वर्चस्व होता है। इसके कारण प्रतिस्पर्धा होने के बावजूद भी एक प्राकृतिक संतुलन बना होता है। अगर एक प्राकृतिक समूह उस उपक्षेत्र को छोड़ता है तभी दूसरे प्राकृतिक समूह उस उपक्षेत्र पर अपना स्थान बना पाते हैं। नगरीय परिस्थितियों ने इस प्रतिस्पर्धा तथा प्राकृतिक क्षेत्र को कंसेट्रिक जोन के सिद्धान्त से जोड़कर इसकी व्याख्या प्रस्तुत की है।

समाजशास्त्र में एक बहुचर्चित व्याख्या लुई वर्थ (1938) के द्वारा प्रस्तुत की गयी है जिन्होंने नगरीय समाज की विशेषताओं का तथा उसके अनोखेपन का वर्णन विस्तार से किया है। नगरीय जीवन की सामाजिक परिस्थिति, परिभाषा व विवेचन से भिन्न विचार नहीं दिये हैं परन्तु जिन विशेषताओं की व्याख्या उन्होंने की है उससे निम्न को प्रमुख माना है-

- (i) प्राथमिक संबंधों की कमी-नगरीय समाज में प्राथमिक संबंधों का सर्वथा अभाव पाया जाता है इसलिए सामाजिक स्तर पर इस समूह के सदस्य एक-दूसरे से दूरी बनाये रखना ज्यादा पसंद करते हैं। नगरीय समाज का यह जीवन उन के अकेलेपन का सूचक होता है। वे अपने वास्तविक अनुभव को अपने आप तक ही सीमित रखते हैं और किसी दूसरे व्यक्ति के साथ उसे नहीं बाँटते जिसके फलस्वरूप उनका जीवन एकाकी जीवन होता है। निश्चय ही ऐसी परिस्थिति में प्राथमिक संबंधों का जीवंत स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता।
- (ii) सामाजिक नियंत्रण का प्रभाव भी कम पाया जाता है जिस प्रकार सामाजिक दबाव प्राथमिक समूह या ग्रामीण समुदाय से जुड़े लोगों के ऊपर होता है उस प्रकार का दबाव बिल्कुल नहीं होता। अपने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के कारण तथा सामाजिक नियंत्रण के अभाव में व्यक्ति ज्यादा स्वतंत्र महसूस करता है। यहाँ व्यक्ति स्वेच्छा से अपने जीवन शैली को अपने ढंग से जीने की अभिलाषा रखता है। इसी के अनुरूप उसके व्यक्तित्व का भी विकास हो जाता है।
- (iii) श्रम विभाजन-श्रम विभाजन के कारण उद्योग धंधों से जुड़े लोगों में विशेषीकरण पायी जाती है। वहाँ पर विशेषज्ञों के प्रतिभा व समता को महत्व दिया जाता है। इसलिए व्यक्ति विशेष की प्रतिभाएं व क्षमताएं अलग-अलग होती हैं और प्रतिभाओं के विशेषीकरण के कारण नये व्यवसायों तथा पेशों से जुड़े लोगों की एक विशिष्ट पहचान होती है। यह व्यक्ति की अपनी पहचान होती है और इसका न तो जिस समाज में वह रहता है-उससे लगाव होता है और न ही उसके परिवार और स्वजनों से प्रभावित होता है।
- (iv) जनसंचार का अत्यधिक महत्व-नगरीय समाज में जनसंचार का अधिक महत्व होता है। व्यक्ति चूँकि अपने कार्यों से जो जुड़ा होता है इसलिए उसकी निर्भरता, जन-संचार के साधनों पर होती है। उसकी जानकरी समाज के बारे में जनसंचार से ही होती है इसलिए रेडियो, दूरदर्शन तथा कम्प्यूटर युग में इंटरनेट, ई-मेल आदि के द्वारा वह ज्यादा जुड़ा होता है। चूँकि नगर में रहने वाले लोगों की पारस्परिक संबंध अत्यधिक विस्तृत होता है इसलिए जनसंचार के साधनों पर ज्यादा निर्भरता देखी जाती है।
- (v) व्यावसायिक संबंध-यहाँ पर जो संबंध विकसित होते हैं वे अधिकांशतः व्यावसायिक प्रकार के होते हैं। इसलिए हेनरी मिन ने भी इसकी विशेषता का उल्लेख करते हुए व्यक्तिगत संबंध के बजाय व्यावसायिक संबंधों (Commercial Relations) का उल्लेख किया था। मैक्स वेबर ने इस व्यावसायिक संबंध को व्यावहारिक संबंध (Instrumental relation) की संज्ञा दी है।

इन विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लुई वर्थ का कहना था कि ये विशेषताएँ निम्न तीन कारक तत्वों द्वारा प्रभावित होती हैं -

- (a) जनसंख्या की आबादी-जनसंख्या की घनता के कारण ही नगरीय जीवन शैली की एक विशिष्ट पहचान होती है। लघु समुदाय के सरचनात्मक तथा प्रकार्यात्मक दृष्टि से बिल्कुल भिन्न पायी जाती है।
- (b) जनसंख्या का घनत्व-जनसंख्या के घनत्व की बात दुर्खिम ने भी विस्तार से की है। इ दुर्खिम का मानना था कि एक वर्ग किलोमीटर में जितने लोग रहते हैं उसका अनुपात शहरी क्षेत्र में ग्रामीण समुदाय के मुकाबले कहीं ज्यादा होता है। जाहिर है ऐसे परिस्थिति में जमीन पर दबाव बढ़ जाता है और जमीन की कमी के कारण प्राकृतिक संपदा को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति के बीच ज्यादा प्रतिस्पर्धा पायी जाती है।
- (c) सामाजिक विभिन्नता-व्यक्ति के सामाजिक जीवन में एकरूपता के बजाय विभिन्नता पायी जाती है। हर्वर्ट स्पेंसर के नगरीय जीवन को सामाजिक विभिन्नता के आधार पर चित्रित किया गया है। उनका मत था कि एक सरल समाज जब जटिल समाज में बदल जाता है तो सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन उस समाज के एकरूपता होता है। यह एकरूप न होकर सामाजिक रूप से विविध हो जाता है। जहाँ लघु समाज का धर्म एक होता है वहीं दूसरी ओर नगरीय समाज में बसने वाले लोगों के धर्म अलग-अलग होते हैं। उद्योग, धंधों, व्यापार, जाति, वर्ग, प्राप्त आदि सभी आधार पर लोगों में भिन्नता पायी जाती है। नगरीय समाज के लोगों की संस्कृति अलग-अलग होती है।

लुई वर्थ ने इसे मेल्टिंग पाट के सिद्धान्त के द्वारा समझाने की कोशिश की है। इनका कहना था कि नगरीय समाज में बसने वालों के धर्म, जाति का एक सम्मिलित स्वरूप मिश्र संस्कृति के रूप में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि चंडीगढ़, लुधियाना, अम्बाला के बजाय हरियाणा व पंजाब के गाँव के जीवन में ज्यादा एकरूपता है वहीं दूसरी ओर चंडीगढ़ तथा इसके मिलते-जुलते नगरी व शहरी समाज में भाषा, वर्ग, जाति व धर्म के आधार पर ज्यादा विविधता देखने को मिलती है।

इस प्रकार नगरी-ग्रामीण जीवन के बीच निम्न अंतर को उनकी विशेषताओं के आधार पर चित्रित किया जा सकता है। जो एक-दूसरे के बीच के अंतर को स्पष्ट करता है:-

ग्रामीण समाज	नगरी समाज
(a) जनसंख्या का आकार छोटा होता है	(a) जनसंख्या का आकार बड़ा होता है।
(b) जनसंख्या की प्रकृति में एकरूपता पायी जाती है।	(b) जनसंख्या की प्रकृति में वैविधता व भिन्नता पायी जाती है।
(c) संयुक्त परिवार का वर्चस्व होता है।	(c) एकल परिवार का वर्चस्व होता है।
(d) वैवाहिक संबंध में स्थायित्व पाया जाता है।	(d) वैवाहिक संबंधों में स्थायित्व की कमी होती है इसलिए तलाक की वारदातें भी पायी जाती हैं।
(e) संबंध व्यक्तिगत होते हैं।	(e) संबंध व्यक्तिगत नहीं होते हैं।
(f) सामाजिक जीवन सरल होता है।	(f) सामाजिक जीवन में जटिलता पायी जाती है।
(g) व्यवसाय सीमित होते हैं।	(g) व्यवसाय असीमित होते हैं।
(h) जीवन-स्तर उठाने के स्तर सामूहिक स्तर पर सभी को समान रूप से उपलब्ध होते हैं।	(h) जीवन-स्तर को उठाने के स्तर सामूहिक स्तर पर नहीं बल्कि व्यक्तिगत स्तर पर निर्भर करता है।
(i) धार्मिक विश्वास के कारण धार्मिक आस्था और नैतिक मूल्यों की प्रधानता दी जाती है।	(i) धार्मिक विश्वास तथा नैतिक मूल्यों के बदले व्यवहारिक दृष्टिकोण की प्रधानता होती है।
(j) ग्रामीण समाज में जनमत के द्वारा सामाजिक नियंत्रण होता है। जनमत के कारण लोग अपने व्यवहार को स्वयं भी नियंत्रित रखते हैं।	(j) ग्रामीण समाज के बजाय नगरीय जीवन जनमत के बजाय वैधानिक नियमों के आधार पर व्यवस्थित होता है। कानून के डर से अधिकांश लोग अपने व्यवहार को नियंत्रित करते हैं।
(k) औद्योगिकरण एवं व्यापार के साधन सीमित होते हैं।	(k) औद्योगिकरण एवं व्यापार के साधन असीमित होते हैं।
(l) गाँवों में रोजगार के साधन कम होते हैं जिसके कारण रोजगार तथा व्यवसाय में ज्यादा भिन्नता पायी जाती है।	(l) नगर में रोजगार के साधन अधिक होते हैं जिसके कारण गाँव से नगर के तरफ प्रवासन होते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि ग्रामीण समाज, नगरीय समाज से भिन्न हैं। इसके विभिन्न स्वरूप को सरंचनात्मक तथा प्रकार्यात्मक आधार पर आसानी से समझा जा सकता है।

जनजातीय समाज

जनजाति को मानव समाज का केन्द्र बिन्दु बनाकर अधिकांश मानव शास्त्रियों ने इस समाज का विस्तार से वर्णन किया है। सामाजिक मानवशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र विशेष रूप से जनजाति रहा है। विकास के क्रम में जनजातीय समाज व आदिवासी समाज का वर्तमान समाज के अतीत की एक कड़ी में देखा जा सकता है। इस प्रकार के उदविकासीय दृष्टिकोण को ही ध्यान में रखकर यह कहा जाता है कि आज के आधुनिक युग का जटिल मानव समाज बीते हुए दिनों अथवा प्राचीन सभ्यता व संस्कृति को समाहित किए हुए जनजातीय समाज था। मारिस गोडेलियर ने इस जनजातीय समाज को विकास के क्रम में एक अवस्था बतायी है जिस समय इस प्रकार का समाज हमारे यहाँ पाया जाता था। सहस्त्रों वर्षों बाद भी जनजातीय समाज का पाया जाना इस बात का द्योतक है कि आदिवासी समाज के अध्ययन से हमें हमारे पुराने लोगों से अतीत की जानकारी मिलती है। सबसे बड़ी विशेषता है इस समाज को इसके प्राकृतिक अवस्था से हमें अध्ययन करने का मौका मिलता है। इसीलिए सामाजिक मानवशास्त्रियों ने जनजातीय समाज के अध्ययन पर विशेष बल दिया है।

जनजातीय शब्द कुछ हद तक हमें भ्रमित भी करता है क्योंकि इस शब्द के प्रयोग से हमें पिछड़ी जाति और उसकी सभ्यता व संस्कृति का भी एहसास होता है। और ऐसा भी प्रतीत होता है कि आज का सभ्य समाज इस समय के जनजातीय समाज की तुलना में काफी विकसित समाज है जिससे संस्कृति व सभ्यता का मुकाबला करना नामुकिन है। सामाजिक मानवशास्त्रियों ने इस पूर्वाग्रह का खंडन करते हुए इस समाज के अध्ययन किये जाने के महत्व को पहचानकर इसके अध्ययन किये जाने की बात पर ज्यादा बल दिया है। डॉ. प्रीचर्ड ने तो यहाँ तक कहा है कि सामाजिक मानवशास्त्रियों को एक समय सीमा के भीतर पूरी क्षमता के साथ इस समाज का अध्ययन करना चाहिए। उनका कहना था कि निम्न कारणों से इस समाज का अध्ययन किया जाना लाजमी और उपयुक्त है।

- (a) यह समाज पुरानी सभ्यता की कड़ी में एक ऐसा जीवंत समाज है जिसने अपने अतीत के गोद में प्राचीन सभ्यता व संस्कृति को छिपाया हुआ है।
- (b) इसलिए इस समाज के अध्ययन से हमें पुराने समाज के अस्तित्व का पता चलता है।
- (c) यह समाज आधुनिक समाज के बढ़ते और बदलते दौर में आज भी अपने प्राचीन संस्कृति परिवेश को बचाकर रखा हुआ है।
- (d) अगर इस समाज की जनसंख्या को देखा जाये तो गैर आदिवासी समाज की तुलना में इस समाज की जनसंख्या में उत्तरोत्तर कमी आ रही है। बल्कि आधुनिक समाज के संपर्क में आकर ये अपनी पुरानी पहचान खोने लगे हैं। इसीलिए इवांस-प्रीचर्ड का कहना था कि अगर समय रहते हुए इसका अध्ययन नहीं किया गया तो इस समाज के अध्ययन करने का अवसर हम खो बैठेंगे जो हम सभी के लिए बड़ा नुकसान होगा।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री ड. दुर्खिम का कहना था कि आदिवासी समाज की संरचनात्मक व्यवस्था जटिल समाज की अपेक्षा सरल हैं इसलिए इसका अध्ययन प्राथमिक रूप से किया जाना चाहिए। अपने प्रसिद्ध पुस्तक एलिमेंटरी फार्म्स ऑफ सेलैजियस लाइफ में उन्होंने आस्ट्रेलिया के एक जनजाति अरुपटा का अध्ययन किया

परिभाषा : जनजातीय समाज की परिभाषा पर विचार करने से पहले यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि जनजातीय समाज को उनकी विशिष्ट पहचान के आधार पर उन्हें देखकर तथा उनकी विशिष्ट परिस्थितियों के आधार पर उन्हें समझना जितना आसान है उतना परिभाषा के आधार पर उनकी पहचान करना उतना ही मुश्किल है। परंतु फिर भी मानवशास्त्रियों ने उनकी विशिष्ट पहचान को ध्यान में रखते हुए विभिन्न परिभाषा दी है। मैडलबाम के अनुसार जनजातीय समाज को सामाजिक जीवन की कड़ियाँ बंधुता पर आधारित होती है। बंधुता का स्वजन उनके सामाजिक संगठन को प्रभावित करता है। अर्थात् बंधुता न सिर्फ सामाजिक संगठन का आधार है बल्कि यह उत्तराधिकार, श्रम विभाजन सत्ता और विशेषाधिकारों के वितरण का सिद्धांत भी है। जनजातीय समाज को परिभाषित करते हुए मार्शल शालीन्स ने इसे खंडीय व्यवस्था तक सीमित रखा है। खंडीय व्यवस्था में सामाजिक संबंध लघु स्तर के होते हैं, उनमें स्वायत्तता होती है। विशिष्ट क्षेत्रों में ये समाज एक-दूसरे से स्वतंत्र होते हैं।

पेंगुलीन शब्दकोष में जनजातीय समाज को एक प्रौद्योगिक, लघुस्तर, अनपढ़, तकनीकी के दृष्टिकोण से सरल और परंपरागत समाज की संज्ञा दी गयी है। समाजशास्त्र में ऐसे समाज को परंपरागत समाज, जो पूंजीवादी समाज से पहले की अवस्था थी उसका द्योतक समझा जाता है। पेंगुलीन शब्दकोष में इस बात का भी उल्लेख किया गया है कि चूंकि इन जनजातीय समाज को आधुनिक, शहरी तथा औद्योगिक समाज के संदर्भ में देखा जाता है इसलिए इसे पिछड़े समाज के रूप में भी देखा जाता है।

राल्फ लिंटन ने इस समाज की परिभाषा देते हुए इस खानाबदोशी जत्थों का एक समूह कहा है जो एक निश्चित भूखंड पर रहते हैं जहाँ संस्कृति की समानता तथा सामुदायिक हितों के कारण एकता भी भावना पायी जाती है। इवांस-प्रीचर्ड के अग्रणी समाज अजाडे तथा न्यूर जनजातियों का नृजातीय अध्ययन किया है। यद्यपि रैडक्लिफ ब्राउन तथा मैलिनस्की ने भी जनजातीय समाज के अध्ययन में क्षेत्र कार्य विधि को महत्वपूर्ण मानकर क्रमशः आस्ट्रेलिया और अंडमान द्वीपवासियों के साथ-साथ टोबिआंड द्वीपवासियों के विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया है, परंतु इवांस प्रीचर्ड ने इन दोनों के प्रकार्यावादी सिद्धांतों का खंडन करते हुए अजाडे जनजातीय समाज के जादू टोना और भूत-प्रेत संबंधी विश्वासों को उनके संपूर्ण समाज से जोड़कर देखा है। उनके विचार संरचनात्मक प्रकार्यावादी उपागम से थोड़े भिन्न है क्योंकि उन्होंने उस समाज के सामाजिक विशेषताओं के अर्थ के अध्ययन को प्राथमिकता दी है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर जनजातीय समाज की निम्न विशेषताओं की चर्चा की जा सकती है:-

- (1) लघु आकार-जनजातीय समाज की संरचना को अगर ध्यान में रखा जाये तो यह कहा जा सकता है कि इनकी संख्या सीमित होती है। ग्रामीण समुदाय तथा कृषि समाज की तुलना में जनजातीय समाज का आकार निश्चित रूप से छोटा होता है।
- (2) प्रतिकूल भू-भाग-जनजाती जिस भू-क्षेत्र में रहते हैं उसे सुरक्षित आवासीय क्षेत्र नहीं कहा जा सकता है। प्रायः ये पहाड़ी, जंगली, या द्वीपों से घिरा क्षेत्र होता है। जहाँ जंगली जानवरों के अलावा स्थायी रूप से कृषि योग्य भूमि भी नहीं होती है। फलस्वरूप उन्नत सिंचाई के साधन उपलब्ध नहीं हो पाते। जंगली जानवरों का खतरा भी बना होता है। परंतु इसके विपरीत कुछ जनजातीय लोग अपेक्षाकृत अनुक्रम जलवायु तथा वातावरण में रहते हैं जहाँ खेती योग्य भूमि भी होती है।
- (3) निरक्षरता, लेखन व लिपि का अभाव-अधिकांश जनजातीय समाज अज्ञानता के कारण अक्षर का ज्ञान नहीं रखते। जनजातीय समाज की भाषा भी विकसित नहीं होती जिसके कारण उनकी लिपि का अभाव होता है, परंतु इस दृष्टिकोण से सभी जनजातीय समाज के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। मसलन भारत के ही कुछ जनजातीय समूह ऐसे हैं जिसमें जनजातीय लोगों में शिक्षा काफी पायी जाती है। छोटा नागपुर क्षेत्र जो अब बिहार से अलग होकर झारखंड प्रदेश बन गया है, वहां मुंडा जनजाती के जयपाल सिंह, कैम्ब्रीज के झारखंड युनिवर्सिटी से शिक्षा प्राप्त कर रखा था और हाल ही में राम दयाल मुंडा जिन्होंने अमेरिका से भाषाज्ञान में एम०ए० तथा डाक्टरेट किया था वे राँची युनिवर्सिटी के उपकुलपति भी बनाये गये। इसलिए यह कहना कि जनजातीय समाज में बिल्कुल निरक्षरता होती है-ठीक नहीं होगा। हाँ! इतना जरूर है कि शिक्षा का स्तर अन्य समूहों के अपेक्षाकृत आज भी औसतन कम है।
- (4) प्रौद्योगिक विकास का अभाव-प्रौद्योगिक विकास के दृष्टिकोण से जब जनजातीय समाज की बात की जाती है तो परस्पर विरोधाभास पाया जाता है। इसलिए यहाँ यह स्पष्ट कहना आवश्यक है कि जिस क्षेत्र में वे रहते हैं वे क्षेत्र खनिज पदार्थ के कारण संभव है प्रौद्योगिक विकास के कारण उन्नत हों। जनजातीय लोग इस प्रौद्योगिक विकास के लाभ से पूर्णतया वंचित हैं। प्रौद्योगिक विकास जिस स्थान पर वे रहते हैं उसका तो हुआ है परंतु जनजातीय समाज को प्रत्यक्ष रूप से इसका लाभ नहीं हुआ है।
- (5) सीमित आर्थिक क्रियाएँ-जनजातीय समाज की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे बाजार की मुद्रा प्रणाली से जुड़े नहीं पाये हैं। आज भी उनके यहाँ व्यापार या बाजार का परंपरागत स्वरूप देखने को मिलता है। उनके आर्थिक संगठन में पारस्परिक सहयोग के द्वारा ही विनिमय होता है। मुद्रा पर आधारित औपचारिक खरीद-विक्री की प्रणाली आज भी प्रचलन में नहीं आ पायी है। जो विकसित आज भी हुई आदिवासी क्षेत्र अपने परंपरागत रीति-रिवाजों से जुड़े हैं उनमें मुद्रा पर आधारित विनिमय नहीं होता है। अधिकांश विनिमय का आधार बार्टर व्यवस्था से जुड़ा होता है जहाँ वे एक समान के बदले दूसरे समान को एक-दूसरे से बदलते हैं।

जनजातीय समाज में निजी संपत्ति की धारणा का भी सर्वथा अभाव पाया जाता है इसलिए जो भी संसाधन जनजातीय क्षेत्र में आते हैं-खेत, चारागाह, तालाब, जंगल आदि सबके ऊपर सामूहिक अधिकार होता है।

जनजातीय समाज व आर्थिक दृष्टिकोण उनके परंपरागत सोच से जुड़े होते हैं। परिणामस्वरूप उनके आर्थिक जीवन पर भी जादू-टोने का ज्यादा प्रभाव दिखता है। इवांस प्रीचर्ड ने भी आजंड़े लोगों के धार्मिक विश्वास की चर्चा करते हुए बताया था कि किस प्रकार जनजातीय जीवन पूर्ण रूप से जादू टोने पर आश्रित होता है।

जहाँ तक आर्थिक स्थिति से अध्ययन का प्रश्न है मारिस गोडेलियर, कर्ल पोलानी, डाल्टन आदि ने अलग-अलग जनजातीय समाज के आर्थिक स्थिति का वर्णन करते हुए यह बताया है किस प्रकार उनके जीवन में उपहार व Gift का एक विशेष प्रचलन होता है जिसे कुलारिंग के विनिमय के साथ आर्थिक मानवशास्त्री ने अध्ययन किया है। पोटलैच्व जैसे आर्थिक रिवाज का भी वर्णन किया गया है जिसके कारण जनजातीय समाज में संपत्ति का जमाव एक व्यक्ति तथा परिवार के पास नहीं हो पाता है। जिस व्यक्ति के पास फसल उसके उपभोग से ज्यादा होती है वह लोगों के सामने जलाकर नष्ट कर देता है इसलिए किसी भी व्यक्ति के पास उतना ही अनाज होता है जिससे उनकी जरूरत की पूर्ति हो जाती है और संपत्ति के आधार पर धनी तथा गरीब वर्ग नहीं बन पाता है। आर्थिक संतुलन बनाने का यह एक तरीका है।

- (6) गोत्र का महत्व-जनजातीय समाज में गोत्र की प्रधानता होती है। गोत्र पर आधारित समाज की यह विशेषता होती कि एक गोत्र से जुड़े सभी लोग एक रिश्ते तथा बंधुत्व के सूत्र से बंधे होते हैं और एक गोत्र से जुड़े सभी लोग एक रिश्ते तथा वैवाहिक संबंध नहीं स्थापित कर सकते हैं इसलिए गोत्र के बाहर विवाह करने का प्रावधान भी किताब में नहीं दिया गया है। एक गोत्र के सभी सदस्यों के बीच एक ही वंश का रक्त संबंध होता है इसलिए गोत्र के सभी सदस्यों में एकता और संवेदात्मक स्तर पर एक दूसरे के सुख-दुःख में काम आने वाले सबसे विश्वसनीय और उचित संबंधी बताए जाते हैं।
- (7) टोटम का महत्व-टोटम के साथ भी जनजातीय समाज के सदस्यों का बड़ा ही घनिष्ठ संबंध होता है। प्रत्येक जनजाति का अपना एक टोटम होता है जिसे वे व्यक्तिगत रूप से अपने इष्ट देवता के रूप में पूजते हैं। इ. दुखिम ने टोटम को जनजातीय समाज का एक प्रतीक चिन्ह बताया है। इसका महत्व ठीक उतना होता है जैसे किसी राष्ट्र के ध्वज का होता है जिसके लिए कोई भी व्यक्ति उसकी मर्यादा को बचाने के लिए अपनी जान की बाजी लगा देता है। टोटम का महत्व जनजातीय समाज से जुड़े लोगों का आवेगात्मक होता है जो उसकी मर्यादा की रक्षा किसी भी कीमत पर करना चाहते हैं। एक जनजातीय समाज का टोटम एक वस्तु, एक जानवर, एक वनस्पति जगत से जुड़ा कोई भी वृक्ष, जल में या आसमान में उड़ने वाले पक्षी हो सकते हैं जो उस जनजातीय समाज के प्रतीक चिन्ह के रूप में आदर के पात्र हो जाते हैं। उन नष्ट होने से बचाना उनका धर्म हो जाता है। जो भी उनके इस आदर योग्य टोटम का अपमान करता है उसे कठोर सजा कठोर दंड दिया जाता है।
- (8) जादू टोना या महत्व-जनजातीय समाज में जादू-टोना का विशेष महत्व होता है। जादू-टोना में विश्वास रखने वाले जनजातीय समूह किसी भी विशेष कार्य संपादित करने से पूर्व जादू टोना द्वारा आश्वस्त होकर ही काम करते हैं। इवानो प्रीचर्ड ने इसके महत्व का पहले ही विस्तार से वर्णन किया है।

जहाँ तक भारत की जनजातियों का संबंध है अधिकांश मानवशास्त्रियों ने इसकी तुलना जाति पर आधारित समाज से की है। शालीन्स ने जनजातीय समाज को खण्डीय व्यवस्था कहा है वहीं दूसरी ओर जाति पर आधारित समाज की प्रकृति सादर्य होती है। सावयवी सिद्धान्तों के आधार पर सामाजिक जीवन में विभिन्न जातियों की एक-दूसरे पर निर्भरता को समझा जा सकता है।

जनजातियों का शोषण ब्रिटिश उपनिवेशवादी ताकतों द्वारा किया गया और साथ ही गैर जनजातियों को ब्रिटिश शासन नीति तथा जनजातीय लोगों की निरक्षरता का लाभ उठाकर उन्हें उनकी जमीन से बेदखल कर दिया इसलिए उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदी में पूरे जनजातीय समूह का विद्रोह तथा आक्रोश का स्वर झारखंड आंदोलन के रूप में उभर कर आया। जनजातीय आंदोलन में बिरसा मुंडा तथा संथाल विद्रोह का अध्ययन कई समाजशास्त्रियों तथा मानवशास्त्रियों ने भी किया है। भारतीय जनजातीय समाज की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए मैडेलबाम ने निम्न विशेषताओं को प्रधानता दी है-

1. बंधुता सामाजिक संबंधों का एक साधन
2. व्यक्तियों के बीच सोपानों का अभाव
3. दृढ़ और जटिल औपचारिक संगठन का अभाव
4. भूमि का सामूहिक स्वामित्व
5. खण्डीय स्वरूप
6. अतिरिक्त पूंजी के संग्रह और बाजार पर आधारित व्यापार का कम महत्व
7. धर्म के स्वरूप और सार में विभेद का अभाव
8. जीवन आनंद की विशिष्ट मनोदशा

भारतीय जनगणना की अधिकृत सूचना के आधार पर आज भारत में 450 से अधिक जनजातियाँ पायी जाती हैं जिनकी संख्या 8 करोड़ से ऊपर है और उनकी कुल आबादी भारत की कुल आबादी का लगभग 8.08 प्रतिशत है। मध्य प्रदेश के गण्डक भील जनजाति की आबादी लगभग 50 लाख से अधिक है उसी प्रकार झारखंड की संचालन व मुंडा जनजाति की आबादी क्रमशः 50 लाख और 30 लाख से ऊपर है। एस.सी. राय ने उराव तथा मुंडा जनजातीय समाज को कृषक समाज कहा है।

एफ.जी. वेली ने भी उड़ीसा के खौंड जनजातीय समूह को कृषक कहा है। उसी प्रकार हैमंडाफ ने मध्यप्रदेश के राजगोंड आदिवासी समाज को कृषक समाज की संज्ञा दी है। इस प्रकार कुछ जनजाति ऐसी हैं जिनके जीविकोपार्जन के तरीके कृषक समाज से काफी मिलते जुलते हैं। एन.के. बोस के तरह ही आद्र बेतई ने भी जनजातियों के वर्गीकरण का मुख्य आधार निम्न बताया है-

- (a) भाषा
- (b) धर्म
- (c) पृथकता

बेतई ने जीवनयापन के तरीके को ध्यान में रखकर उन्हें तीन मुख्य श्रेणियों में बांटा है-

- (a) शिकारी, मछुआरे और संग्राहक
- (b) झुम कृषक
- (c) स्थायी कृषक जो हल द्वारा खेती करते हैं।

आधुनिक समय में भारत के जनजातीय समाज संक्रमण के दौर से गुजर रहे हैं। संवैधानिक प्रावधानों के आधार पर उन्हें आरक्षण मिला हुआ है परंतु सभी जनजातियों के लिए यह दुर्लभ है। अधिकांश जनजातियाँ ऐसी हैं जहाँ शिक्षा के लिए उनके बच्चे स्कूल ही नहीं जाते। कुपोषण और बीमारी के कारण वे बदहाली से जुझ रहे हैं। उनका शोषण गैर जनजातियों के द्वारा हुआ है। इनकी मुख्य समस्याओं का वर्णन करते हुए के.एल. शर्मा ने निम्न आम समस्या का उल्लेख किया है-

1. निर्धनता और शोषण
2. आर्थिक और प्रौद्योगिक पिछड़ापन
3. सामाजिक-सांस्कृतिक कठिनाइयाँ
4. उनके समाजीकरण से जुड़ी समस्याएँ

जनजाति आंदोलन उपर्युक्त समस्याओं के गहन और जटिल होने से ही उत्पन्न हुआ है। के.एस. सिंह ने 36 मुख्य जनजातीय आंदोलन का जिक्र किया है जिनमें से 14 केवल उत्तर पूर्व क्षेत्र में हैं। इन आंदोलनों के उद्देश्यों को ध्यान में रखकर उन्होंने उनके आंदोलनों को निम्न वर्गों में बांटा है-

1. राजनीतिक स्वायत्तता के लिए आंदोलन
2. कृषक तथा वन आधारित आंदोलन
3. विद्रोही आंदोलन
4. सांस्कृतिक आंदोलन

औद्योगिक समाज

हम जिस समाज में रहते हैं वहाँ विज्ञान और तकनीक के प्रभाव ने हमारी सोच, व्यवस्था और संस्थाओं में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया है। जनसंचार के माध्यम से जो परिवर्तन पिछले कुछ वर्षों में हुए हैं उसने हमारे सामाजिक संरचना में कुछ मौलिक परिवर्तन ला दिये हैं, जिसके कारण उन तकनीकी के ऊपर हमारी निर्भरता भी बढ़ गयी है। विज्ञान और तकनीकी में थोड़ा अंतर भी पाया जाता है परंतु जब हम औद्योगिक समाज की चर्चा करते हैं तो इस फर्क को ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है। विज्ञान को सांस्कृतिक धरोहर कहा जा सकता है जिसमें प्रकृति का व्यवस्थित ज्ञान समाहित होता है और तकनीकी विज्ञान उसका व्यवहारिक स्वरूप है। किंग्स्ले डेविस के इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर औद्योगिक समाज की चर्चा की जाये तो हम कह सकते हैं कि औद्योगिक समाज में विज्ञान और तकनीकी दोनों का एक समन्वित स्वरूप देखते हैं। विज्ञान के बिना तकनीकी प्रगति का कोई अर्थ नहीं होता इसलिए वैज्ञानिक खोज पर ही तकनीकी के क्षेत्र में परिवर्तन हुआ है। किंग्स्ले डेविस के विचारों को स्मरण रखना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है जिन्होंने कहा था कि वैज्ञानिक क्रियाओं का आधार सत्य है जबकि

तकनीकी का एक व्यवहारिक व उपयोगी लक्ष्य होता है। तकनीकी पर आधारित लक्ष्य का निरीक्षण संभव है क्योंकि उस लक्ष्य के प्राप्ति के लिए तकनीकी का किस रूप में इस्तेमाल किया गया है-इसे देखा व समझा जा सकता है।

उदविकसित सिद्धान्त के प्रतिपादक हर्बर्ट स्पेंसर, कार्ल मार्क्स, इ दुखिम, एफ. टानिज, लेबिरन हेनरी मार्गन-इन सभी समाजशास्त्रियों ने समाज के विकास की नवीनतम अवस्था का द्योतक औद्योगिक समाज को माना है। इन सभी विद्वानों ने समाज के विवरण में एक बात जो सामान्य रूप से पायी जाती है वह यह कि ये सभी यह मानकर चलते हैं कि प्रत्येक समाज की एक बनावट होती है जो इसके संस्थाओं तथा समाज के समूह से जुड़ी होती है। प्रत्येक समाज में निरंतरता के लिए समाज के तत्वों के बीच एक परस्पर आपसी संबंध और आवश्यक कार्यों को संपादित करने की क्षमता अनिवार्य रूप से मौजूद होना चाहिए। अर्थात् समाज के संचालन के लिए उस समाज के कुछ प्रकार्यात्मक क्रियाओं को करना आवश्यक माना जाता है समाज की इन न्यूनतम शर्तों की चर्चा करते हुए टी.वी. वाटमोर ने निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया है-

- (i) संचार की व्यवस्था
- (ii) अर्थव्यवस्था जिसके उत्पादन तथा उत्पादित चीजों का विवरण किया जा सके।
- (iii) समाजीकरण की व्यवस्था
- (iv) सत्ता के द्वारा व्यवस्था को नियंत्रित करने की प्रणाली
- (v) धर्मविधि जिसके द्वारा जन्म, विवाह, परिवार तथा मृत्यु जैसे आवेगात्मक क्षणों में सामाजिक संबंध की एकता का बनाया जा सके।

संभवतः कार्ल मार्क्स ही एक ऐसे समाजशास्त्री थे जिन्होंने सुनियोजित तरीके से आर्थिक संरचना को ध्यान में रखकर औद्योगिक समाज की रूपरेखा का विस्तार से वर्णन किया है। अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'ए कंट्रिब्युसन टू द पाट्टिकल इकोनोमी' (1859) में उत्पादन के विधि के आधार पर क्रमशः निम्न समाज का वर्णन किया है:-

1. एशियाटिक समाज
2. प्राचीन समाज
3. सामंतवादी समाज
4. पूंजीवादी समाज

मार्क्स और इंजेल्स ने मिलकर कई किताब लिखी हैं जिनमें एक और सामाजिक अवस्था का जिसे आदिम समाज की संज्ञा दी जा सकती है का भी वर्णन किया है। यहाँ ध्यान रखने योग्य बात यह है कि जब कार्ल मार्क्स पूंजीवादी सामाजिक अवस्था का वर्णन करते हैं तो उसी पूंजीवादी व्यवस्था की उप व्यवस्था के रूप में औद्योगिक समाज की भी चर्चा की है। अर्थात् पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था के भी कई प्रकार हैं और विज्ञान तथा तकनीकी के क्रांतिकारी परिवर्तन से ही औद्योगिक और उत्तर औद्योगिक समाज की अवधारणा विकसित हुई है।

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि विकास क्रम में मार्क्स के जिन सिद्धांतों को ध्यान में रखकर विवेचना की जाती है उसमें सामाजिक विकास की अवधारणा भी जुड़ी हुई है। औद्योगिक विकास के क्रम में ही औद्योगिक समाज की नींव पड़ी। अर्थात् विज्ञान और तकनीकी के विकास से ही औद्योगिक समाज का प्रारूप बना है। इसलिए विकास के क्रम में औद्योगिक समाज की बनावट का अध्ययन करना आवश्यक है।

तीसरी बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह है कि औद्योगिक समाज का वर्णन करते समय मार्क्स ने एक पक्षीय विश्लेषण प्रस्तुत किया है। औद्योगिक समाज के विकास को आर्थिक रूप से निर्धारित कर इसकी चर्चा करते हैं। उनका कहना था कि किसी भी संरचना के दो तत्व अर्थात् सुपरस्ट्रक्चर (ऊपरी बनावट) तथा इन्फ्रास्ट्रक्चर (आंतरिक बनावट) होती है। औद्योगिक समाज के उत्थान में इन्फ्रास्ट्रक्चर अर्थात् आर्थिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

सबसे प्रमुख बात जिसकी चर्चा जर्मनी के समाजशास्त्री मैक्सवेबर ने की वह ज्यादा महत्व रखती है। उनका कहना था कि पूंजीवादी व्यवस्था, जैसी अवधारणा की जब कभी चर्चा की जाती है तब हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि 'ये अवस्थाएँ समाज के आदर्श प्रकार की प्रतीक हैं उन्हें वास्तविक प्रकार मान लेना कई माने में भ्रामक भी हो सकता है। इसलिए उनका कहना था कि इस समाज के साथ भी यही बात लागू होती है इसलिए औद्योगिक समाज के वर्णन में विविधता, भिन्नताएँ पायी जा

सकती है। उदाहरणस्वरूप यह कहा जा सकता है कि मार्क्स ने अपने पूंजीवादी व्यवस्था के अध्ययन में आर्थिक तत्वों को ही निर्धारक कारक मानकर औद्योगिक समाज का वर्णन किया है। मैक्सवेबर ने सामाजिक संरचना को एक समग्र के रूप में देखते हुए इसके आर्थिक पहलुओं की चर्चा की है। इनके बाद सॉबार्ट शुंपीटर तथा जान स्ट्रेची ने भी आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था का अध्ययन किया है। टीबी बाटमोर ने यूरोपियन तथा पश्चिम देशों के संदर्भ में यह बताया है कि एक व्यवस्थित रूप से सामाजिक संरचना के अध्ययन की परंपरा का अभाव रहा है। जहाँ एक तरफ सामाजिक मानवशास्त्रियों ने प्राचीन तथा आदिम जाति की संरचना तथा संस्थाओं का वर्णन प्रस्तुत किया है वहीं दूसरी तरफ समाजशास्त्रियों ने भी अपने अध्ययन में वृहत समाज की सामाजिक संरचना या जटिल समाज तथा औद्योगिक व आधुनिक समाज का चित्रण किया है।

जिस प्रकार से समाजशास्त्री अध्ययन किए गए हैं उसको ध्यान में रखकर औद्योगिक समाज की निम्न विशेषताओं का वर्णन किया जाता है :

1. श्रम विभाजन-फ्रांस के समाजशास्त्री इ दुर्खिम ने श्रम विभाजन को किसी भी औद्योगिक समाज की एक महत्वपूर्ण पहचान बताया है। इस प्रकार के श्रम विभाजन का वर्णन करते हुए उन्होंने बताया था इसके परिणामस्वरूप दो प्रकार की एकता पायी जाती है। एक को यांत्रिकी एकता कहा जाता है और दूसरे को सावयवी एकता।

श्रम विभाजन के परिणामस्वरूप दो प्रकार के अनुमोदन की भी चर्चा की गयी है। एक को दमनकारी अनुमोदन (Repressive Sanction) तथा दूसरे को सुधारवादी अनुमोदन (Reformative Sanction) से जोड़कर वर्णन किया है। जहाँ व्यक्ति के नियमों के उल्लंघन किये जाने पर दमनकारी दंड दिया जाता है वह समाज ज्यादा परंपरा से जुड़ा होता है और जहाँ दंड का प्रावधान सुधारवादी दृष्टिकोण से जुड़ा होता है वहाँ व्यक्ति को सुधार का मौका दिया जाता है जो व्यक्ति के स्वतंत्र होने का प्रतीक है।

दुर्खिम के श्रम विभाजन के क्रम में असामान्य व नकारात्मक प्रवृत्तियों का वर्णन करते हुए इसकी तीन प्रमुख असाधारण स्थितियों का वर्णन किया है-

- (a) मानक शून्यता (Anomic) : यह ऐसी अवस्था है जिसमें मनुष्य को यह लगता है कि किसी भी प्रतिमान के द्वारा इसकी स्थिति को सामान्य नहीं किया जा सकता है।
- (b) अलगाव (Alienation) : अलगाव की स्थिति वह है जब औद्योगिक समाज में काम करते हुए अपने ही लोगों से अलग हो जाता है।
- (c) सामाजिक विघटन (Social Disorganisation) : यह औद्योगिक समाज की ऐसी परिस्थिति है जब सामाजिक संगठन अपना महत्व खो बैठते हैं तथा सामाजिक संगठन छिन्न-भिन्न हो जाती है।

मार्क्स ने भी श्रम विभाजन के क्रम में मजदूर की उन परिस्थितियों का वर्णन किया है जिसके कारण मजदूर अपने ही लोगों से अलग हो जाता है। उत्पादन के साधन तथा उत्पादित चीजों के उपभोग से वंचित होने के साथ-साथ सबसे बड़ी विडम्बना यह होती है कि वह बाजार के अराजकतावादी प्रक्रियाओं का भी शिकार बन जाता है।

जार्ज फ्रिडमैन का कहना था कि श्रम विभाजन से दोनों काम तथा अवकाश के रूप दोनों असाधारण रूप से प्रभावित होते हैं।

2. संपत्ति-संपत्ति से तात्पर्य संपदाओं के ऊपर मनुष्य के नियंत्रण से है। इस रूप में देखा जाये तो हम यह पाते हैं कि आदिम जाति तथा समाज में संपत्ति के ऊपर स्वामित्व समाज के द्वारा निर्धारित होता है न कि जाति के द्वारा। इस प्रकार संपत्ति का उपभोग व्यक्ति स्वयं के लिए कर सकता है या फिर सामूहिक तौर पर कर सकता है। हाबहाऊस ने संपत्ति से जुड़ी अपने योजना को तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है-

- (a) पहली अवस्था वह है जहाँ संपत्ति के कारण समाज में कोई सामाजिक भिन्नता नहीं पायी जाती है, असमानता भी कम होती है और यहाँ पर आर्थिक संपदा या सामूहिक स्तर पर एक समूह के द्वारा उपभोग किया जाता है।
- (b) दूसरी अवस्था वह है जिसमें संपत्ति के बढ़ने से असमानता बढ़ती है और सामूहिक स्तर पर संपत्ति का नियंत्रण समाप्त हो जाता है।
- (c) तीसरी अवस्था वह है जब व्यक्ति जान-बुझकर यह प्रयास करता है कि समूह के द्वारा संपत्ति या संरक्षण हो ताकि उसकी अवस्था को दूर किया जा सके।

सामाजिक संस्थाएं एवं समाज के प्रकार

आधुनिक समय में जो समाजशास्त्रीय अध्ययन हुए हैं उसमें दो पहलुओं को ध्यान में रखकर संपत्ति का विशेष रूप से ध्यान दिया गया है-

- (a) संपत्ति का वितरण और उसका सामाजिक प्रभाव
- (b) औद्योगिक व्यवस्था के ऊपर नियंत्रण तथा उसके स्वामित्व में अंतर। आज पूंजीवादी व्यवस्था में यह अंतर काफी प्रतीत हो गया है। आर0एच0 टानी ने संपत्ति और आय के कारण असमानता तथा वर्ग समाज में उसके महत्व का वर्णन किया है। डाल्टन ने संपत्ति के असमान वितरण को ही आय के असमानता का आधार बताया है।

19वीं सदी के औद्योगिक पूंजीपति संपत्ति के स्वामी तथा प्रबंधन का भार खुद संभालते थे परंतु आज के आधुनिक समाज में पूंजीनिवेश का यह अनुपात बढ़ जाने से औद्योगिक व्यवस्था के प्रबंधन का भार उन लोगों को सौंप दिया जाता है जो व्यवसायिक पाठ्यक्रम पूरा कर लेने के बाद उद्योग को संभालने का कार्य करते हैं। औद्योगिक अवस्था के माध्यमक कहीं और रहते हैं। प्रबंधन क्रांति के दौर में औद्योगिक क्षेत्र का स्वरूप तेजी से बदला है।

अर्थव्यवस्था के प्रकार

कार्ल मार्क्स, सॉबार्ट, हाबहाऊस तथा जिंसबर्ग ने अपने अध्ययन के दौरान अर्थव्यवस्था से जुड़े कई प्रकारों का वर्णन किया। पिरने ने पूंजीवादी व्यवस्था के सामाजिक इतिहास का वर्णन करते हुए आर्थिक क्रियाओं की परिवर्तित भूमिका की प्रतीति का विस्तार से की है। मैक्स वेबर ने भी अपने आर्थिक व्यवस्था के विश्लेषण में नौकरशाही व अधिकारी तंत्र की भूमिका का विस्तार से वर्णन किया है।

सी0 राइट मिल्स ने अपनी पुस्तक 'पावर एलिट' में आर्थिक स्रोत में एक खास प्रकार के अभिजात वर्ग की भूमिका का विश्लेषण करते हुए पावर एलिट जैसे अवधारणा का प्रयोग किया है। ये पावर एलिट उन वृहत संगठनों को संचालित करते हैं जिनमें चापलुसी तथा कुटनीति भरी पड़ी होती है और वैसा समाज जो अपने आप में संपूर्ण समाज की संरचना को समाहित किया होता है उसमें इस प्रकार के सत्ता से जुड़े अभिजात वर्ग की एक खास भूमिका भी पायी जाती है।

औद्योगिक समाज के संदर्भ में अर्थव्यवस्था के वैचारिक आधार तथा प्रतिमानों को पूंजीवादी व्यवस्था के ह्रास से जोड़कर देखा जाने लगा है। शंपीटर का भी कहना था कि पूंजीवादी व्यवस्था का ह्रास अधिकारी तंत्र तथा प्रबंधन कार्य से जुड़े लोगों के बातों की अवमानना से हुआ है न कि आर्थिक ढांचे के टूटने से।

औद्योगिक समाज के अध्ययन में कई सामाजिक कारक तत्वों को ध्यान में रखकर इसकी विशेषताओं की बात की गयी है। उन सामाजिक कारक तत्वों में विचारधारा को प्रधानता दी गयी है जहाँ अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र के बीच के परस्पर नजदीकी संबंध को रेखांकित किया गया है। इस संदर्भ में रेमंड एरोन ने अपने पुस्तक औद्योगिक समाज में अर्थव्यवस्था के औद्योगिक तथा उन औद्योगिक प्रकार का विस्तार से वर्णन किया है। यहाँ अपने विचारों का विस्तार से वर्णन करते हुए एरोन ने औद्योगिकवाद का विस्तार से वर्णन किया है न कि पूंजीवाद का। आर्थर लेविस ने भी निम्न बातों को अधिक प्रधानता दी है-

1. आर्थिक तत्वों की भूमिका तथा आर्थिक विकास में इसका महत्व
2. वस्तु प्राप्त करने की इच्छा, रुझान
3. काम करने की मनोवृत्ति
4. संपत्ति का प्रभाव
5. सामाजिक गतिशीलता
6. धर्म और पारिवारिक बनावट
7. जनसंख्या वृद्धि का प्रभाव
8. सरकार की भूमिका

विल्बर्ट इ मूर ने औद्योगीकरण की समस्या का विशेष रूप से अध्ययन किया है। उद्योग में नियुक्ति की प्रणाली, मजदूरी का प्रशिक्षण आदि महत्वपूर्ण पहलुओं का विस्तार से वर्णन किया गया है।

जहाँ तक भारत के औद्योगिक स्थिति का प्रश्न है। यहाँ औद्योगिकरण की प्रक्रिया ब्रिटिश सरकार के दौरान बहुत हद तक सीमित रही और इसीलिए कहा जाता है कि आर्थिक विकास की प्रक्रिया को ब्रिटिश सरकार ने नियंत्रित कर रखा था। परंतु 1947 के बाद इसके आर्थिक विकास में तेजी आयी। 1947 के पहले जो औद्योगिक विकास था वह एक पक्षीय तथा कुछ हद तक सीमित था और अगर स्टील का उत्पादन भी किया गया तो वह भी छोटे स्तर पर किया गया। जहाँ तक आजादी के बाद औद्योगिक विकास का प्रश्न है विकास की रफ्तार काफी तेज रही और उत्पादन को बढ़ाना एक लक्ष्य बन गया जिससे औद्योगिक विकास काफी तेजी से हुआ।

मिल्टन सिंगर, माइकेल एम्स तथा रोथरमंड और वाधवा के अलावा एन०आर० सेठ के समाजशास्त्रीय अध्ययन से यह पता चलता है कि औद्योगिक विकास अपेक्षित रूप में नहीं हो पाया का निम्न सामाजिक तत्व इसके लिए जिम्मेवार थे।-

- (i) अत्यधिक जनसंख्या का दर
- (ii) जाति व्यवस्था
- (iii) नये अनुसंधान व खोज का धार्मिक स्तर पर विरोध
- (iv) संयुक्त परिवार पर निर्भरता

इन सब सामाजिक रुकावटों के बावजूद भी टिम्बर्ग ने अपने मारवाड़ी समुदाय के अध्ययन में बताया है कि भारत के कुछ औद्योगिक प्रतिष्ठानों को लगाने में मारवाड़ी समुदाय का काफी योगदान रहा है। वास्तव में माइकेल एम्स ने भी जमशेदपुर के अग्रवाल समुदाय को औद्योगिक दृष्टि से सफल उद्यमी बताया है।

उत्तर औद्योगिक समाज

डैनियल बेल ने इस अवधारणा को 1962 में प्रयोग किया था। इस उत्तर औद्योगिक समाज की अवधारणा अमेरिकी समाजशास्त्रियों ने ज्यादा फैलाया है। विस्तार से इस अवधारणा की व्याख्या करने वाले समाजशास्त्रियों में डैनियल बेल का नाम लिया जाता है जिन्होंने यह भविष्यवाणी की थी कि विचारधारा के अंत होने के साथ ही सामाजिक संगठनों के स्थापित बनावटों में भी मौलिक परिवर्तन आने लगे हैं। औद्योगिकी एवं सूचना के आधार पर मुख्यतः संगठित उत्तर-औद्योगिक तथा सूचना समाजों के उदभव के साथ ही वर्ग-संघर्ष भी लगभग समाप्ति की राह पर है। उन्होंने अपनी बहुचर्चित पुस्तक विचारधारा का अंत (1960) में यह भविष्योक्ति की कि औद्योगिक पूंजीवादी समाजों में भविष्यसूचक वर्गगत विचारधाराएँ लगभग समाप्त हो गई हैं। अपने इस विचार को उन्होंने और भी पुष्ट किया अपनी पुस्तक *द कर्मींग आफ पोस्ट इंडस्ट्रीयल सोसाइटी* (1974) नामक पुस्तक में। उनका मत यह है कि आधुनिक समय में जिस समाज में हम रह रहे हैं वह समाज उत्तर औद्योगिक समाज है। इस उत्तर उद्योगवादी समाज ने औद्योगिक समाज का स्थान ले लिया है।

समाजशास्त्र में फ्रैंकफर्ट समूह के समर्थकों में से हर्बर्ट मार्कुजे ऐसे समाजशास्त्री हैं जिन्होंने औद्योगिक रूप से विकसित पूंजीवादी समाज का विस्तार से वर्णन अपनी पुस्तक वन डायमेंसनल मैन में किया है। तकनीकी दृष्टिकोण से विकसित समाज में मनुष्य एक मशीन की तरह हो गया है। इस मशीनीकरण से प्रभावित समाज में उसके जीवन को इतना प्रभावित किया है कि वह वास्तविक आवश्यकता तथा मिथ्या आवश्यकता की चीजों में फर्क नहीं बता सकता है। जे०के० गालब्रेथ (1967) ने कहा है कि अमेरिकी अर्थव्यवस्था तथा पूरे अमेरिकी समाज को प्रभावित करने में तकनीकी दृष्टिकोण से प्रभावी अधिकारी तंत्र का वर्चस्व तथा सत्ता पर पकड़ इतनी मजबूत हो गयी है कि ये पूरे समाज को अपने निर्णय से प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। एलान तुइन (1969) ने ऐसे ही तकनीकी नियंत्रण का प्रभाव फ्रांस के संदर्भ में पाया। फ्रांस के आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन को प्रभावित जिस प्रकार से तकनीकी को नियंत्रित करने वाले वर्ग कर पाते हैं उतना और कोई भी वर्ग नहीं कर पाता।

उत्तर औद्योगिक समाज की अवधारणा को समाजशास्त्र में कुछ लोग एक अन्य संदर्भ में विस्तार से उत्तर आधुनिकतावाद तथा सूचना पर आधारित समाज के रूप में भी करते हैं। उत्तर आधुनिकता की विशेषताओं का वर्णन करते हुए निम्न चार विशेषताओं का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है-

- (a) सामाजिक : औद्योगिकरण तथा पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था में एक सामाजिक वर्ग पाया जाता है। इसे सामाजिक संरचना तथा सामाजिक विभिन्नता का प्रमुख तत्व बताया गया।

- (b) सांस्कृतिक : उत्तर आधुनिकता के अध्ययन कई ऐसे विद्वान हैं जो सांस्कृतिक तत्वों को प्रमुख स्थान देते हैं।
- (c) आर्थिक : उत्तर आधुनिक समाज को फोर्डवाद के उत्पादन ने विधि से समझा जा सकता है। फोर्डवाद में बड़ी कंपनियों जनता के उपभोग के लिए उत्पादन करते हैं।
- (d) राजनीतिक : उत्तर आधुनिक समाज बड़े सरकार के रूप में सामाजिक क्षेत्र में सेवा के लिए काम करते हैं। सामाजिक सेवा उनका प्रमुख उद्देश्य होता है।

उत्तर औद्योगिक समाज को एक और अन्य संदर्भ में भी आजकल काफी प्रयोग में लाया जाने लगा है। आर्थिक विकास के क्षेत्र में जानकारी तथा सूचना पर आधारित ज्ञान का अपना एक विशिष्ट महत्व है। कई समाजशास्त्रियों ने सूचना तथा इस के इस्तेमाल के द्वारा एक नये समाज का उल्लेख किया है। इन विद्वानों की यह मान्यता है कि विभिन्न तकनीकी एकीकृत कर सूचना पर आधारित समाज तकनीकी (Information technology) ने आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था को नया आधार दिया है। एम0 कार्स्टेलस के अनुसार (1996) सूचना पर आधारित अर्थव्यवस्था के पाँच विशिष्ट लक्षण हैं-

- (a) सूचना अर्थव्यवस्था एक कच्चा माल है।
- (b) समाज तथा व्यक्ति पर इसका विस्तृत प्रभाव है।
- (c) सूचना पर आधारित तकनीकी का इस्तेमाल आर्थिक संगठन का प्रक्रिया के विस्तार में होता है।
- (d) सूचना पर आधारित तकनीकी में काफी लचीलापन होता है।
- (e) व्यक्तिगत तकनीकी का सम्मिश्रण एकीकृत व्यवस्था में परिचालित होता है।

इस प्रकार डैनियल बेत द्वारा प्रतिपादित उत्तर औद्योगिक समाज की अवधारणा को विभिन्न संदर्भों से जोड़कर इसकी विशेषताओं की चर्चा की गयी है। फ्रांस के एक समकालीन चिंतक जाक दरिदा ने उत्तर आधुनिकता संबंधी सिद्धान्त को 'विखंडनवादी' (Deconstructionism) अवधारणा द्वारा विस्तार से चर्चा की है। उनके विचार उत्तर संरचनावादी सिद्धान्त के प्रतिपादन से जुड़ा है। विखंडवादी अवधारणा के प्रतिपादक जाक दरिदा का कहना था कि अभी तक जो भी अवधारणा विकसित किया गया है और जिसकी चर्चा की गयी है वह समाज के यथार्थ को चित्रित नहीं करता। इसलिए अगर समाज के यथार्थ को समझना हो तो पूर्व प्रतिपादित सिद्धान्तों को वे अपनी सीमाओं को समझते हुए उसे त्यागना होगा या उसके ऊपर उठकर नये ढंग से उन सिद्धान्तों के बारे में पुनर्विचार करना आवश्यक है। अवधारणाओं की सबसे बड़ी कमजोरी है यथार्थ का छिपाना और इस दृष्टिकोण से जाक दरिदा का मानना था कि बदलते संदर्भ में पूर्व प्रतिपादित अवधारणाओं के अर्थ भी बदल गये हैं जिसे समझने के लिए आवश्यक है उन अवधारणाओं की आलोचनात्मक व्याख्या। उनकी सोच थी कि जिस किसी भी घटना का विश्लेषण अवधारणा की मदद से किया जाता है वे अल्पकालिक सोच से प्रभावित होते हैं। विखंडन शब्द को विधि के रूप में देखा गया है जिसके अनुसार शब्दों का एक प्रतीकात्मक स्वरूप होता है। इसलिए एक शब्द के अर्थ को सदैव संकेतक (Signifier) के रूप में देखा जाना चाहिए क्योंकि इस शब्द के वास्तविक अर्थ सदैव विसमित (Deferred) होते हैं। वास्तविक अर्थ के आयाम बदलते रहते हैं इसलिए विकल्प की खोज अगर करनी हो तभी उसके तात्कालिक अर्थ की पहचान की जा सकती है। उत्तर आधुनिक समाज की व्याख्या में उनका मानना था कि पुरातन और नवीन संबंधों के कारण विचारों में परिवर्तन आना स्वाभाविक है। इस प्रकार विखंडनकारी सोच में विकल्प की तलाश और उसके आधार पर सामाजिक संबंधों की व्याख्या करने की बातें सदैव मौजूद रहती हैं।

इन सभी विचारों के विश्लेषण के बाद उत्तर औद्योगिक समाज में निम्न विशेषताओं की चर्चा की जा सकती है:

- (i) सैद्धांतिक ज्ञान : सैद्धांतिक ज्ञान को प्राथमिकता दी जाती है। नयी योजनाओं के क्रियान्वयन से आर्थिक क्षेत्र में नयी योजनाओं पर काम होते हैं उसके प्रारूप को तैयार करने में ज्ञान को ही आधार बनाया जाता है। ज्ञान की शक्तिशाली भूमिका होती है। ज्ञान के लिए आजकल कंप्यूटर का जिस प्रकार इस्तेमाल किया जा रहा है इससे ज्ञान प्राप्ति के साधन काफी आसान हुए हैं और इसके फलस्वरूप उत्तर औद्योगिक समाज की नींव क्रमशः मजबूत हुई है। इस प्रकार सूचना पर आधारित ज्ञान इस उत्तर औद्योगिक समाज का अक्षीय आधार (Axial basis) है।
- (ii) उपभोग के वस्तु के स्थान पर उपयोगी सेवा की प्रधानता : आर्थिक क्षेत्र में जो उपभोग की वस्तु इस्तेमाल में भी जाती थी, उसकी जगह उपयोगी सेवाओं ने ले ली है। उपयोगी सेवा से जुड़ी जरूरतों ने आर्थिक व्यवस्था के पूरे आयाम द

बदल दिया है क्योंकि औद्योगिक समाज में कच्चे माल को प्रोसेस कर चीजों के उत्पादन का कार्य अब उपयोगी सेवाओं ने ले लिया है।

- (iii) वर्ग संरचना में बदलाव : नये वर्ग के रूप में अब तकनीकी के जानकार लोगों की एक खास पहचान उभर कर आती है। जो परंपरागत वर्ग संरचना औद्योगिक समाज में दिखता था जिसमें पूंजीपति तथा मजदूर वर्ग की प्रधानता देखी जा सकती थी उसकी जगह पर अब जो वर्ग देखने को मिलते हैं वो व्यवसायिक किस्म का वर्ग है। ये अपने विशेष काम को करने के लिए आवश्यक तकनीकी जानकारी रखता है और इस आधार पर ही अपने उत्तर औद्योगिक समाज में अपनी एक विशेष पहचान बना ली है। इस प्रकार के व्यावसायिक प्रशिक्षण के द्वारा जिस वर्ग को बनाया गया है वह अपने आप में उत्तर औद्योगिक समाज की एक खास विशेषता है जिसके कारण आने वाले समय में इनकी हमारे समाज में एक खास भूमिका होगी। जी०के० गालब्रेथ ने इसे तकनीकी संरचना (Techno-structure) की संज्ञा दी है।
- (iv) एक खास बौद्धिक क्षमता रखने वालों की भूमिका : उत्तर औद्योगिक समाज को चलाने के लिए विशेष प्रकार की बौद्धिक क्षमता रखने वाले लोगों की जरूरत पड़ती है। सभी यंत्रों में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इस नवोदित वर्ग की पहचान बुद्धिजीवी वर्ग के रूप में व्यवसायिक तौर पर देखी जा सकती है। आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में इनकी एक खास भूमिका होती है और समाज को दिशा-निर्देश व मार्गदर्शन का काम भी इनकी जिम्मेदारी का भाग बन जाता है।

इस प्रकार उत्तर औद्योगिक, उत्तर आधुनिक तथा सूचना पर आधारित समाज की व्याख्या या विशेषताओं के ऊपर ध्यान करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि ये सभी अवधारणाएं एक दूसरे के पर्याय नहीं हैं और न ही इन अवधारणाओं को एक दूसरे का पर्याय मानकर इसका विवेचन किया गया है परंतु इतना सच है कि इन सबके बीच एक वैचारिक स्तर पर समानता है और संभवतः इसीलिए इन अवधारणाओं की सीमाएं भी लगभग एक-दूसरे से काफी मिलती-जुलती हैं।

सबसे प्रथम इन सिद्धांतों की आलोचना करते हुए यह कहा जाता है कि इस प्रकार के समाज में व्यवसायिक तथा तकनीकी रूप से संपन्न वर्ग के भूमिका को बढ़ा-चढ़ाकर देखा गया है जो अपने आप में भ्रामक हैं। इस वर्ग का किस हद तक इस समाज में वर्चस्व रहता है और किस रूप में ये समाज को प्रभावित करते हैं इसके बारे में कोई बात प्रमाणिक रूप से कहीं नहीं जा सकती है। किस हद तक वे राजनीतिक प्रभाव बना पाते हैं-इस बात को लेकर भी मतभेद हैं और व्यापार में इनका एकाधिकार या वर्चस्व होता है-इस बात का भी खुलासा नहीं किया जा सकता है।

उत्तर औद्योगिक समाज के विशेषताओं की चर्चा करते हुए यद्यपि सैद्धान्तिक ज्ञान की पूरी बीसवीं सदी को महत्वपूर्ण ताकत के रूप में देखा गया जिसकी सर्वोपरि भूमिका उत्पादन के क्षेत्र में होती है। इसके बावजूद भी आर्थिक स्थिति में इसकी भूमिका में कोई परिवर्तन नहीं आया है। इसी प्रकार के तर्क प्रबंधन के क्षेत्र में दिये गये जिससे क्रांतिकारी परिवर्तन आया। व्यवसायिक रूप से इस प्रकार के प्रबंधक विशेषज्ञों की भूमिका को आधार माना गया। आधुनिक अर्थव्यवस्था में एक नये मजदूर वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में व्यवसायिक तथा तकनीकी से जुड़े विशेषज्ञों की होती है और इस संदर्भ में डैनियल बेल के द्वारा प्रतिपादित उत्तर औद्योगिक समाज की चर्चा विस्तार से की गयी है। आधुनिक समय में इस प्रकार के समाज की जरूरतों को सभी समाजशास्त्रियों ने महसूस किया है और इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण उल्लेखनीय बात है कि कई समाजशास्त्रियों ने नई अवधारणाओं के द्वारा डैनियल बेल के सैद्धान्तिक विचार को और भी पुष्ट किया है।